hिंदी परामर्श समिति ग्रंथमाला—६

उत्तर प्रदेश में

बौद्ध धर्म का विकास

डा० नलिनाक्ष दत्त, एम ए, पी-एच डी.,

अध्यक्ष, पाली विभाग,

कलकत्ता विश्वविद्यालय

तथा

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम. ए,

अध्यक्ष, पुरातत्त्व संग्रहालय,

मथुरा

प्रकाशन ब्यूरो

उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य
छः रुपये

मुद्रक–पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किंतु इससे हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिंदी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिंदी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रंथ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिंदी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अंतर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिंदी के ग्रंथों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिंदी परामर्श समिति की स्थापना की गई है। यह समिति विगत वर्षों में हिंदी के ग्रंथों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढाती रही है और अब इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरंभ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के संबंध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन-कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनाई गई है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अंतर्गत प्राय वे सब विषय ले लिए गए हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रंथ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उन्हीं विषयों अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिंदी में नितांत कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरभ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रथ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी परामर्श समिति-ग्रथमाला का छठा ग्थ है। बौद्ध धर्म के सर्वांगीण उन्नयन में उत्तर प्रदेश का अत्यत महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस प्रदेश में बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य एव कला के उद्भव तथा विकास का विवेचन अधिकारी विद्वानो द्वारा प्रथम बार विस्तृत रूप में उपस्थित किया गया है।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिंदी परामर्श समिति

विषय-सूची

संकेत-सूची

अ०	=अध्याय
आ० स० रि०	=आर्केआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट
आर्के०	=आर्केआलॉजिकल
अगुत्तर०	=अगुत्तर निकाय
ई० पू०	=ईसवी पूर्व
उप०	=उपनिषद्
ऐ० रि०	=ऐनुअल रिपोर्ट
ज० रा० ए० सो०	=जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी
जा०	=जातक
जि०	=जिला
तुल०	=तुलनीय
दीघ०	=दीघ निकाय
दे०	=देखिए
द्रष्ट०	=द्रष्टव्य
पो० हि० ऐं० इ०	=पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंश्यट इडिया
पृ०	=पृष्ठ
मज्झिम०	=मज्झिम निकाय
विनय०	=विनय पिटक
शतपथ०	=शतपथ ब्राह्मण
स०	=सख्या , सस्कृत
सयुत्त०	=सयुत्त निकाय
सै० बु० ई०	=सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट

चित्र-सूची

अध्याय १

उत्तर प्रदेश के प्राचीन राज्य

यद्यपि बौद्ध धर्म का जन्म विहार में हुआ था, किंतु उसके बाद उसका संपूर्ण विकास, शैशव से लेकर प्रौढता तक, कोशल (अवध) में ही हुआ। वर्तमान उत्तर-प्रदेश राज्य देशांतर ७७ ३° (मुजफ्फरनगर) से ८४ ३८° (बलिया) तक तथा अक्षांश ३१ १८° (टेहरी गढवाल) से २३ ५२° (मिर्जापुर) तक विस्तृत है। इसके उत्तर में नेपाल और हिमाचल प्रदेश, पूर्व मे विहार राज्य, दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में मध्यभारत और मध्यप्रदेश राज्य, तथा पश्चिम मे पंजाब और राजस्थान है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल १,१३,४९५ वर्गमील है। इस प्रकार इस विस्तृत क्षेत्र के अंतर्गत प्राचीन काल के राज्यो में से कोशल, काशी, वत्स, पंचाल और शूरसेन के अतिरिक्त शाक्यो, कोलियो, मल्लो और भगों के गणतंत्र राज्य भी आ जाते है। राजकुमार सिद्धार्थ गौतम की जन्मभूमि कपिलवस्तु (कपिलवत्थु) यद्यपि उत्तर प्रदेश की सीमा से कुछ मील दूर है, किंतु उसकी भी चर्चा इस पुस्तक में की गई है, क्योंकि ई० पू० छठी शताब्दी में वह प्रसेनजित् (पसेनदि) के राज्य में सम्मिलित था। वर्तमान उत्तर-प्रदेश के अंतर्गत ब्राह्मण-उपनिषत्काल के नौ राज्यो[1] मे से तीन तथा बुद्ध के समय के सोलह महाजनपदों[2] में से छ की विस्तृत भूमि अंतर्भुक्त है।

काशी-कोशल

काशी के लोगों का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में पाया जाता है। शांखायन श्रौतसूत्र (१६।२९५) में काश्यो का वर्णन विदेहों और कोशलो के साथ हुआ है। इन तीनो राज्यो के पुरोहित जातुकर्ण्य थे, जो राजा जनक तथा उपनिषदो के प्रसिद्ध

१. नवो राज्यो के नाम ये हैं—गंधार, केकय, मद्र, उशीनर, मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी और कोशल।

२. सोलह महाजनपदो के नाम इस प्रकार हैं—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वंश, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवंति, गंधार तथा कंबोज।

ऋषि श्वेतकेतु के समकालीन थे। उपनिषदो[1] में तत्त्वज्ञानी अजातशत्रु का वर्णन राजा जनक के समसामयिक एव काशी के राजा के रूप में किया गया है। पाली मे कई जातको का आरभ इन शब्दो से होता है—"अतीते वारानसिय ब्रह्मदत्ते रज्ज करेन्ते", जिससे सूचित होता है कि काशी के शासको की उपाधि 'ब्रह्मदत्त' थी, जो पुराणो (मत्स्य और वायु) और महाभारत (२।८।२३) मे भी उल्लिखित है। ये ब्रह्मदत्त-उपाधिधारी शासक किस प्राचीन कुल (या कुलो) के थे, इसका जातको से कुछ भी पता नही चलता। कुछ जातको मे ब्रह्मदत्त विदेहवशी कहे गए है। महागोविंद सुत्त[2] में काशी के राजा को धृतराष्ट्र (धतरट्ठ) कहा गया है, जो भरतवशी था। इसका समर्थन पुराणो[3] मे भी होता है। ब्राह्मणो[4] में धृतराष्ट्र नाम के काशी के राजा का वर्णन आया है जिसका यज्ञ का घोडा भरतवशी राजकुमार शतानीक सत्रजित्[5] द्वारा पकड लिया गया था, जिसके कारण काशी में शतपथ ब्राह्मण[6] के समय तक यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित नही की गई थी। महावग्ग[7] और जातको से, विशेषत दीघीति और उसके पुत्र दिघावु की कथा से, यह स्पष्ट है कि बुद्ध-पूर्व काल में काशी का शासक बहुत शक्तिमान् था और कुछ समय तक उसने कोशलो और अन्य पडोसी प्रदेशो को अधीन कर रखा था। काशी का राज्य किसी समय ऐसा धनसपन्न और शक्तिशाली था कि उससे सभी पडोसी शासको को ईर्ष्या होती थी। परतु बुद्ध के समय मे उसका आकर्षण और उसकी ख्याति नष्ट हो गई। वह कोशल का अधीन राज्य हो गया और कोशल-सम्राट् के ही द्वारा शासित भी होने लगा।

बौद्ध ग्रथो में सामान्य रूप से यह उल्लेख मिलता है कि राजा पसेनदि के पिता महाकोसल ने अपनी कन्या कोसलदेवी का विवाह बिंबिसार से किया और काशिग्राम (कासिग्राम) उसे यौतुक में दिया था। बिंबिसार की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अजातशत्रु (अजातसत्तु) और पसेनदि के बीच यह झगडे की जड हो गया और इसके

१ बृहदारण्यक।

२. दीघ० २,२३५, महावस्तु ३, पृ० १९७ और आगे।

३ एच. सी. राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इडिया, छठा सस्करण, पृ० ७५।

४. शतपथ, १३,५,४,१९-२३।

५. सत्रजित् का अर्थ 'सफलतापूर्वक सत्र या यज्ञ सपन्न करनेवाला' हो सकता है।

६. रायचौधरी, वही, पृ० ४४, ७५, ९७।

७. विनय०, १,१०,२,३।

लिए दोनो में युद्ध भी हुआ। एक वार पसेनदि ने अजातशत्रु को हराया, दूसरी वार अजातशत्रु ने पसेनदि को पराजित किया।[1] अतत पसेनदि ने अपनी कन्या वजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया और काशिग्राम उसे दहेज के रूप में दे दिया[2], तव जाकर यह झगडा शात हुआ। ऐसा जान पडता है कि काशी की पृथक् सत्ता वरावर वनी रही, क्योकि यद्यपि काशी और कोशल का उल्लेख प्राय साथ ही साथ पाया जाता है, तथापि पसेनदि को वरावर केवल कोशल का ही राजा कहा गया है। महावग्ग (पृ० २८१) में किसी काशिक राजा का उल्लेख है, जो सभवत कोशल-नरेश के अधीन कोई सामत था।[3]

वनारस काशी की राजधानी था। निश्चय ही वह व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा होगा, क्योकि वहाँ कुछ श्रेष्ठिगण (सेट्ठि) निवास करते थे जिनमें से एक यश भी था, जो वुद्ध का छठा शिष्य था। वनारस के पास इसिपत्तन (=ऋषिपत्तन), जैसा कि उसके नाम से विदित होता है, निस्सदेह ऋषियो का प्रिय आश्रम-स्थान था। इसकी पुष्टि इस वात से भी होती है कि वुद्ध के पाँचो साथी तपस्वियो ने, जो कि सर्व-प्रथम वुद्ध के अनुयायी हुए, इस स्थान को अपने निवास के लिए चुना। वनारस के निकट खेमियव वन नाम का एक आम्रवन था, जहाँ वौद्ध भिक्षु कभी-कभी ठहरा करते थे। इसिपत्तन और खेमियव वन के अतिरिक्त भिक्षुओ के दो अन्य स्थान थे—किटागिरि और मच्छिकासड। ये दोनो ग्राम अथवा पुर वनारस से सावत्थी को जाने-वाले मुख्य मार्ग पर स्थित थे। धम्मपदट्ठकथा में लिखा है कि मच्छिकासड सावत्थी से तीस योजन (९० मील) दूर था और किटागिरि एक गाँव था जहाँ अस्सजी और पुनव्वसु निवास करते थे, जो कि विनय के नियमो का यथोचित पालन नही करते थे। वुद्ध को कई अवसरो पर उन्हें उचित मार्ग पर लाना पडा था और उनके सदाचरण के लिए नियम निश्चित करने पडे थे। वासभगाम नाम का एक अन्य ग्राम भी था, जहाँ भिक्षुगण निवास करते थे।

१. संयुत्त, १, पृ० ८२-८४।

२. सयुत्त १, पृ० ८२ और आगे, जा० २ ४०३, ४, ३४२।

३. डा० राय चौधरी ने संयुत्त निकाय (१, पृ० ७९) के उस कथन को कुछ महत्त्व दिया है जिसमें पसेनदि को पांच राजाओ का प्रमुख (पमुखम्) कहा गया है। परतु जान पडता है कि 'पच' संख्या का प्रयोग यहाँ पांच ज्ञानेंद्रियो के लिए किया गया है, जो वाद का प्रस्तुत विषय है। उसे पसेनदि के पांच राजाओ का प्रमुख होने के प्रमाण के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए।

कोसल[1] (कोशल)—इसका सबसे प्राचीन उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[2] में पाया जाता है, जिसमे राजा का नाम 'हैरण्यनाभ कौशल्य' दिया है, जिसका वर्णन कौशल्य आश्वलायन के समसामयिक के रूप मे प्रश्नोपनिषद्[3] में भी हुआ है। मज्झिम निकाय[4] में आश्वलायन का वर्णन सावत्थी के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य तथा स्वय वुद्ध के एक शिष्य के रूप मे मिलता है। उपनिषद् और निकाय दोनो में उल्लिखित नामो का एक ही होना असभव नही है, परतु नामो की इस एकता के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि दोनो ग्रथो में एक ही व्यक्ति का निर्देश है। बुद्धकाल अथवा रामायण-महाभारत-काल के पहले कोसल को विशिष्टता प्राप्त नही हुई, क्योकि उसने समय-समय पर काशी का प्रभुत्व स्वीकार किया। दीघीति की कथा[5] में कोसल का वर्णन एक ऐसे दरिद्र देश के रूप में किया गया है जिसमें सपत्ति और सुख-सामग्रियो का अभाव था, जिसके पास सेना बहुत थोडी थी और जिसका कोष कभी पूर्ण नही रहता था। रामायण-काल में इसे कुछ महत्त्व प्राप्त हुआ था। रामायण[6] में कोसल की राजधानी अयोध्या थी, जो सरयू नदी के तट पर स्थित थी और बारह योजन विस्तृत थी। इस प्रदेश पर इक्ष्वाकुओ का शासन था जिनमें प्रसेनजित् और शुद्धोदन ऐतिहासिक व्यक्ति है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिरण्यनाभ को कोसलराज बताया गया है, परतु वह इक्ष्वाकुवशी था या नही, इसका पता नही चलता। ब्राह्मण ग्रथो एव रामायण-महाभारत में इक्ष्वाकुवश के अनेक राजाओ के नाम आए है, जैसे—हरिश्चद्र और उनके पुत्र रोहित के तथा भगीरथ, अबरीष, ऋतुपर्ण, राजा दशरथ और उनके पुत्र राम के। शाक्य जाति भी अपने इक्ष्वाकुवशी[7] होने का दावा करती थी।

बुद्ध के समय मे कोसल राज्य का विस्तार आधुनिक अवध की भूमि पर था जिसकी पूर्वी सीमा गडक नदी और पश्चिमी सीमा गोमती नदी थी। सई नदी, जो प्राचीन काल में सभवत स्यदिका वा सुदरिका के नाम से प्रसिद्ध थी, इसकी दक्षिणी सीमा पर बहती

१. आगे इसी रूप का प्रयोग किया गया है, जो कि बौद्ध साहित्य में मिलता है।

२ शतपथ०, १३,५,४,४।

३. प्रश्न उप० १,१।

४. मज्झिम० २, पृ० १४७ तथा आगे।

५. विनय० १,१०,२,३; 'दीघीति नाम कोसलराजा अहोसि दलिद्दो अप्पभोगो अप्पवाहनो अपरिपुण्ण-कोस-कोट्ठागार।'

६. रामायण, १,५५,७, २,१८,३८

७. महावस्तु १, पृ० ९८।

थी और इसकी उत्तरी सीमा नेपाल के सीमावर्ती पहाडी क्षेत्रो को स्पर्श करती थी। ई० पू० पाँचवी शती मे अयोध्या ने अपना महत्त्व खो दिया और उसके स्थान पर श्रावस्ती (सावत्थी) प्रधान नगर एव राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुई। सावत्थी के बाद दूसरा महत्त्व का नगर साकेत था। ऐसे बहुत से ग्राम और नगर थे जिनमें बौद्ध भिक्षु जाया करते थे, जैसे-सेतव्य, आलवि, इच्छानगल, उकट्ठ, एकसाला, ओपसाद, खेमपुत, चडालकप्प, तोरणवत्थु, दडकप्प, नगरविद, मनसाकट, नालकापन, पकधा, वेनागपुर, वेलुद्वार, माल, सालवतिका, आतुमा, अग्गालवचेतिय, उजुन्ञा, कट्ठवाहननगर, भुमागार, पडुपुर, सावुका। परन्तु इन सभी स्थानो की पहचान करना सभव नही है।

सावत्थी (श्रावस्ती)—की पहचान कनिंघम ने सहेत-महेत से की है, जो गोडा और बहराइच जिलो की सीमा के पास राप्ती नदी के तट पर स्थित है। फाह्यान और हुएन-साग इस स्थान पर गये थे। उस समय यह ध्वस्त हो चुका था। बुद्ध ने अकेले इस नगर मे ही पचीस वर्षाएँ व्यतीत की थी और अनेक व्याख्यान दिए थे।

सावत्थी मे तीन प्रसिद्ध विहार थे—जेतवन, पुब्बाराम और राजकाराम। इन तीनो मे जेतवन सबसे भव्य और विशाल था। इसका स्थान सारिपुत्त के द्वारा चुना गया था, जिन्हे बौद्ध भिक्षुओ के रहने योग्य एक विहार के निर्माण के हेतु आवश्यक आदेश देने के लिए बुद्ध ने नियुक्त किया था। वह स्थान राजकुमार जेत के राजकीय उद्यान का एक भाग था। जेत उसे बेंचना नही चाहता था, इसलिए उसने उसका अत्यधिक मूल्य माँगा और कहा कि मै उतनी ही भूमि बेचूँगा जितनी उसका क्रेता 'कहापणो' (कार्षापण मुद्राओ) से ढक देगा। अतुल धनराशि के स्वामी अनाथपिंडिक ने यह शर्त स्वीकार कर ली और विहार के लिए जितनी भूमि अभीष्ट थी उतनी भूमि पर अपने कोष से गाडी भर मुद्राएँ लाकर बिछा दी। अतत राजकुमार को भूमि बेचनी पडी। यह जानने पर कि इस भूमि पर महात्मा बुद्ध के रहने के लिए एक विहार का निर्माण होगा, राजकुमार जेत ने कहा कि मैं केवल भूमि का ही मूल्य लूँगा, उसमे उगे वृक्षो का नही। वह उन वृक्षो को भिक्षुसघ को दान करके महात्मा बुद्ध के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करना और कुछ पुण्य अर्जन करना चाहता था।

जेतवन विहार अवश्य ही बहुत विशाल रहा होगा, क्योकि उसमे अनेक रहने के कमरे और कोठरियाँ, द्वार-प्रकोष्ठ, उपासनागृह, अग्निकुड-युक्त शालाएँ, भाडारगृह, एकात कोठरियाँ, शौचालय, टहलते हुए ध्यान करने के लिए शालाएँ, कूप, कूपटद,

स्नानागार, जलाशय और मडप बने हुए थे।[1] उसका फाटक राजकुमार जेत ने बनवाया था। जब इस विशाल विहार का निर्माण-कार्य पूरा हो गया तब अनाथ-पिंडिक ने यथोचित समारोह के साथ, अवसर के अनुरूप विधियो को सपन्न करते हुए, उसे बुद्ध को सकल्पित कर दिया। कुछ भवनो को विशेष नाम दिए गए थे, जैसे महागधकुटी, करेरमडल माला, कोसबकुटी, चदनमाला, और सललघर।[2] कुजो से घिरा हुआ एक बडा तालाब भी था और सपूर्ण स्थान एक वन-सा दिखाई देता था। जेतवन मे ही सारिपुत्त और मोग्गलायन की अस्थियो पर स्तूप बनाए गए थे, जिन्हें बाद में सम्राट् अशोक ने खुदवाया था।

भव्यता में जेतवन के बाद दूसरा स्थान पुब्बाराम विहार या मिगारमातुपासाद का था, जिसे विशाखा ने, जो अनाथपिंडिक से कम सपन्न नही थी, सावत्थी के पूर्वी फाटक के बाहर बनवाया था। उसके निर्माण की कथा इस प्रकार है—

एक दिन विशाखा बुद्ध का प्रवचन सुनने जेतवन गई और भूल से अपना रत्न-जटित हार व्याख्यानशाला में छोड आई (गुरु के पास जाने पर वह हार उतार दिया करती थी)। आनद ने उसे पाया और एक सुरक्षित स्थान में रख दिया। जब विशाखा को इसकी सूचना दी गई तब उसने उसे बेचकर उसके मूल्य से एक विहार बनवाने का निश्चय किया। जब उसका कोई खरीदार न मिला तो उसने उसे कुछ करोड मुद्राओ में स्वय खरीद लिया और उस धन का उपयोग पुब्बाराम के निर्माण में किया। कहते है कि यह विहार दुतल्ला था और उसमें बहुत से कमरे थे। उसकी बनावट इतनी आलकारिक थी कि भिक्षुओ को सदेह हुआ कि उनका उसमें रहना आश्रम के निर्माण के सबध में बुद्ध द्वारा निर्धारित नियमो के अनुकूल होगा या नही। इसका निर्माण मोग्गलायन की देख-रेख में हुआ था, जिसे बुद्ध ने इस कार्य के लिए नियुक्त किया था।

सावत्थी में तीसरा विहार राजकाराम था, जो जेतवन के पास के एक स्थान पर पसेनदि द्वारा बनवाया गया था। कहा जाता है कि वह स्थान पहले बौद्धेतर धर्मा-पदेशको और उनके शिष्यो के लिए विश्रामगृह बनवाने के निमित्त चुना गया था,

१. चूलवग्ग, ६,४,१०, महावग्ग ३,५,६—विहार, परिवेण, कोट्ठक इत्यादि। तिब्बती ग्रथो से विदित होता है कि उसमें ६० बृहत् शालाएँ और ६० छोटे कक्ष थे (रॉकहिल, लाइफ ऑव बुद्ध, पृष्ठ ४८)।

२. कहा जाता है कि यह राजा पसेनदि की प्रेरणा से बनवाया गया था।

परतु वुद्ध ने जेतवन विहार के निकट उनका रहना स्वीकार नही किया। राजा पहले तो वुद्ध की इच्छा का पालन करने के लिए तैयार नहीं हुआ, परतु अंत में उनके स्वय हस्तक्षेप करने पर उसने उक्त विश्रामगृह अन्यत्र वनवाना स्वीकार कर लिया और उस स्थान पर वौद्ध भिक्षुणियो के निवास के लिए एक विहार वनवाने का निश्चय किया। इन्हीं भिक्षुणियो में एक सुमना भी थी, जो राजा पसेनदि की वहन थी।[1]

एक और विश्रामशाला थी जिसका नाम मल्लिकाराम था और जिसका निर्माण सभवत पसेनदि की पट्टमहिषी मल्लिका की इच्छा से हुआ था। यह आराम परिव्राजको (परिव्राजका) का एक केंद्र हो गया, जहाँ समय-समय पर वुद्ध और उनके शिष्यगण आया करते थे। इसका वर्णन 'समयप्पवादुक–तिण्डुकाचिर–एकसालक' अर्थात् तिंडुक वृक्षो से घिरा हुआ एकशालक (जिसमें एक ही शाला हो) कहकर किया गया है। यह विभिन्न सिद्धातवाले आचार्यों के पारस्परिक विचार-विमर्श एव शास्त्रार्थ के लिए वनवाया गया था।[2]

साकेत—कोसल का यह दूसरा वडा नगर था। इस स्थान का महत्त्व वढा विशाखा के पिता सेट्ठि धनजय के निवास के कारण, जो मूलत मगध का निवासी था परतु पसेनदि के अनुरोध पर यहीं आकर वस गया था। साकेत सावत्थी से सात योजन पर था। उसके भीतर अजनवन नामक एक मृगवन था, जो पसेनदि के मृगया खेलने का स्थान था। कनिघम[3] का अनुमान था कि साकेत और अयोध्या एक ही है, परतु यत इन दोनो नगरो का वर्णन निकायो में हुआ है, अतएव ये अवश्य ही दो भिन्न स्थान रहे होंगे। साकेत की पहचान उन्नाव जिले में सई नदी के तट पर स्थित सुजानकोट के ध्वसावशेष से की गई है। यहाँ कुछ अवौद्ध भी रहा करते थे। इसी स्थान पर सुजाता वुद्ध के उपदेशो को श्रवण कर अर्हत् हो गई थी।[4] यहाँ कुछ सन्यासी रहा करते थे, जिनमें गणपति भी था। साकेत और सावत्थी के वीच तोरणवत्थु था, जहाँ राजा पसेनदि की खेमा थेरी से भेट हुई थी।

अयोज्झा—(अयोध्या) यह नगर गगा-तट पर अवस्थित था। वुद्ध इस स्थान पर पधारे थे और वहाँ उन्होने तीन व्याख्यान दिए थे,[5] जिनमें से एक सर्वास्तिवाद

१. विनय० २, पृ० १६९।
२. थेरीगाथा, पृ० २२; संयुत्त० १, पृ० ९७, अगुत्तर० ३, पृ० ३२।
३. ज्याग्रफी ऑव ऐंश्यट इंडिया, पृ० ४०५।
४. थेरीगाथा, १४५–१५०।
५. सयुत्त निकाय, ३, पृ० १४०, ४, पृ० १७९।

विनय[1] में भी दिया हुआ है। उसके अनुसार अयोध्या गगा-तट पर अवस्थित थी औ बुद्ध दक्षिण पचाल में प्रव्रजन करते हुए वहाँ पहुँचे थे। यह सदेहास्पद है कि यह अयोज्झ और रामायण की अयोध्या एक ही है। रामायण मे अयोध्या का वर्णन एक विशाल नगर के रूप में किया गया है जो प्रशस्त मार्गोवाला तथा प्रचुर धान्यादि से परिपू था। उसमें विशाल भवन थे और वह कोसल की राजधानी था।

बौद्ध ग्रथो में अयोज्झा को दक्षिण कोसल की राजधानी बताया गया है।

संकस्स (साकाश्य)—यह सावत्थी से तीस योजन पर नवस्थित था। इस नगर की पहचान 'सकिसा' से की गई है, जो फर्रुखावाद जिले में एक छोटा गाँव है यह फतेहगढ से २३ मील पश्चिम और कनौज से ४५ मील उत्तर-पश्चिम है बौद्ध परपरा के अनुसार इसका महत्त्व इस कारण बढा कि बुद्ध त्रयस्त्रिश स्वर्ग मे अपनी माता को अभिधम्म का उपदेश देने के वाद यहाँ अवतरित हुए थे। शक्र ने तीन सीढिय प्रदान की थी—एक इद्र के लिए, एक ब्रह्मा के लिए और बीचवाली भगवान् बुद्ध के लिए। चीनी यात्रियो ने इस स्थान के विहारो को भिक्षुओ से भरा पाया था।

आलवी—यह सावत्थी से राजगृह जानेवाले मार्ग पर अवस्थित था और सावत्थी से इसकी दूरी तीस योजन थी। कनिघम ने इसकी पहचान उन्नाव जिले के नेवल स्थान से की है और एन०एल० डे ने इटावा के पास आविवा से। यहाँ अग्गालवचेतिय नाम का एक आश्रम था, जहाँ कभी-कभी बुद्ध और अन्य भिक्षुगण रहा करते थे। यह परपरा से प्रसिद्ध है कि बुद्ध ने आलवी के यक्ख (यक्ष) को वश में कर लिया था। उन्होंने इस स्थान के दो प्रमुख निवासियो—हत्थक और सेला को अपने सघ में भिक्षु और भिक्षुणी के रूप में प्रविष्ट कर लिया था और कुछ अन्य लोगो को भी अपना अनुयायी बनाया था। उन्होंने सोलहवीं वर्षा यही व्यतीत की थी। यहाँ उन्होंने कई व्याख्यान दिए थे और कुछ विनय के नियम वनाए थे।

वत्स या वस—इनका अधिकार कोसल और अवती के बीच के छोटे से प्रदेश पर था। कौशाबी वत्स की राजधानी थी। यह बडी प्राचीन नगरी थी, इसकी पहचान इलाहाबाद के पास कोसम से की गई है। कहा जाता है कि जनक के समकालीन कौरव राजा निचक्षु ने अपनी राजधानी हस्तिनापुर से हटाकर कौशाबी को बनाया था। शतपथ ब्राह्मण[2] में एक आचार्य का उल्लेख है जिसकी जन्मभूमि कौशाबी थी और

१. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, १, पृ० ४९।
२. शतपथ०, १२,२,२,१३।

जो उपनिषदों में प्रसिद्ध ऋषि उद्दालक आरुणि का समनामयिक था। निचक्षु जनमेजय की वंश-परंपरा में थे और उन्होंने ही भरत-वंश को इस स्थान में लाकर प्रतिष्ठित किया। यह असंभव नहीं कि शतानीक परंतप[1] इसी वंश का रहा हो। उसका पुत्र राजा उदयन (उदेन) हुआ, जो बुद्ध का समनामयिक था। बुद्ध के समय यह बड़ा महत्त्वशाली नगर था। बनारस से नदी के रास्ते यह तीन योजन दूर था। इस स्थान के भिक्षु बड़े झगड़ालू और संघ को फोड़नेवाले थे। कुख्यात देवदत्त और छन्न यहीं रहते थे। यहाँ तीन विहार थे जिनके नाम थे—कुक्कुटाराम, घोषिताराम और पावारिक अंबवन। ये कुक्कुट, घोषित और पावारिक नाम के तीन सेट्ठियों द्वारा बनवाए गए थे, जो बुद्ध के अनुयायी हो गए थे। यहीं पिंडोल भरद्वाज रहते और राजा उदेन को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया करते थे। वत्सों का शासन सुंसुमारगिरि के भग्गों पर भी था। उन्होंने चंड पज्जोत (प्रद्योत) की कन्या रानी वासुलदत्ता (वासवदत्ता) के गर्भ से उत्पन्न राजा उदेन के पुत्र बोधिराजकुमार को यहाँ का उपराज नियुक्त किया था।

शाक्य—शाक्य प्रदेश नेपाल की तराई में था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी, जिसकी पहचान रिज डेविड्स और पी० सी० मुकर्जी ने तिलौराकोट से की है। रुम्मिनिदेई स्तंभ लुंबिनी वन के स्थान पर है जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। शाक्य लोग अपने को इक्ष्वाकुवंशी बतलाते थे। इस वंश के एक राजा ने अपनी एक रानी से उत्पन्न पुत्रों को इसलिए निर्वासित कर दिया था कि राज्य दूसरी रानी से उत्पन्न पुत्र को मिले। राजपुत्र अपनी बहनों के साथ राजधानी से निकलकर हिमालय-क्षेत्र में जा बसे। उन्होंने वहाँ कपिलवस्तु नगर बसाया। अपने वंश की शुद्धता की रक्षा के लिए उन्होंने अपनी बहनों से विवाह कर लिया, जिनके कारण वे प्रायः तिरस्कृत किए जाते थे। उनकी एक बहन, जो किसी असाध्य रोग से पीड़ित थी, बनारस के राम नामक निर्वासित राजा से ब्याही गई थी, जो स्वयं उसी रोग से पीड़ित था। उनके वंशज कोलिय नाम से प्रसिद्ध हुए। कोलियों का देश शाक्यों के देश से ही सटा हुआ था, दोनों के बीच केवल रोहिणी नामक छोटी-सी नदी का अंतर था। एक बार रोहिणी नदी के जल का प्रवाह मोड़ने के प्रश्न पर इन दोनों जातियों में भारी झगड़ा हो गया था। शाक्यों का कुल गणतंत्रवादी था और वे अपने राज्य का शासन-कार्य परिषदों

१ द्रष्ट० पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया, पृ० ४०, ७०, १३२; तथा मूल सर्वास्तिवाद विनय।

द्वारा चलाया करते थे, जिनकी बैठकें परिषद्-भवन (सथागार) में हुआ करती थी। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शाक्य लोग कोसल के राजा पसेनदि की प्रभुता स्वीकार करते थे।

परतु शाक्य लोगो को अपनी वश-शुद्धता का वडा अभिमान था, जिससे उन्होने राजा पसेनदि को अपने कुल की कन्या देना अस्वीकार कर दिया और उसका विवाह दासी के गर्भ से उत्पन्न महानाम की एक कन्या से कर दिया। इस रानी का नाम वासभ-खत्तिया था और उससे पसेनदि के विड्डाभ या विडूडभ नाम का एक पुत्र हुआ। पसेनदि ने उसे अपने सिंहासन का उत्तराधिकार न देकर उसको अपना सेनापति वनाया। विडूडभ ने पड्यत्र करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया और शाक्यो का सहार करके उनसे अपने पिता के प्रति विश्वासघात करने का वदला लिया।

शाक्य लोग ब्राह्मणो के पक्षपोषक थे,इस कारण आरभ में उन्होने वुद्ध और उनके उपदेशो का उचित स्वागत नही किया। पहले कुछ प्रसिद्ध शाक्यो को वुद्ध ने अपना धर्मानुयायी वनाया और इस प्रकार शाक्य प्रदेश में वौद्ध धर्म के प्रचार का श्रीगणेश हुआ। वुद्ध वहाँ अनेक अवसरो पर उपदेश देने तथा विनय के नियमो का निर्देश करने के लिए गए थे। इस प्रदेश में वहुत थोडे-से नगर और गाम थे, जहाँ वुद्ध गए, यथा—चातुमा, खोमदुस्स, सामगाम, देवदह, सिलावती, नगरक, मेदलुप या उलुप तथा सक्खर। इनमें से चातुमा में एक गणभवन था और खोमदुस्स ब्राह्मणो का एक गाँव था। सामगाम वह स्थान था जहाँ एक वार वुद्ध पधारे थे और निगठ नाटपुत्त की मृत्यु का समाचार सुना था। देवदह महामाया, महाप्रजापति गौतमी और यशोधरा का स्वदेश था। लुविनी वन देवदह के निकट ही था।

मल्ल——एक दूसरी जाति थी जो शाक्यो और कोलियो के ही पडोस मे वसती थी। उनका प्रदेश कपिलवस्तु से वारह योजन दूर था। मल्ल लोग दो वर्गो में वँटे हुए थे—— पावा के मल्ल और कुसीनारा के मल्ल। पावा की पहचान पडरौना मे की गई है, जो कसिया के उत्तर-पूर्व मे वारह मील पर है। पावा मे ही जैन तीर्थंकर महावीर ने देहत्याग किया था। कुसीनारा की पहचान देवरिया जिले के कसिया स्थान से की गई है। इस पहचान की पुष्टि एक ताम्रपत्र से हो गई है जिसपर 'परिनिर्वाण-चैत्ये-ताम्रपट्ट' खुदा हुआ है। जव वुद्ध ने कुसीनारा को अपने देहत्याग के लिए चुना, उस समय वह एक छोटा-सा गाँव था। वुद्ध पावा और कुसीनारा दोनो स्थानो में गए थे। पावा मे ही उन्होने मल्लो के गणभवन उव्भटक को पवित्र किया और चुड के घर अपना अतिम भोजन ग्रहण किया था। पावा से वे कुसीनारा गए, जहाँ उन्होने अपना शरीर

त्याग कर उसे अमर कर दिया। कुसीनारा और पावा के अतिरिक्त मल्ल राज्य मे कुछ अन्य स्थान भी थे जहाँ बुद्ध गए थे, जैसे—भोगनगर, अनुपिय और उरुवेल-कप्प-महावन। अनुपिय राजगृह से छत्तीस योजन पर अनोमा नदी के किनारे था। राजकुमार सिद्धार्थ अपने प्रव्रज्या-ग्रहण की रात्रि में यहाँ पहुँचे थे।

पचाल[1] और शूरसेन[2] यद्यपि उत्तरप्रदेश की सीमा के भीतर ही थे, परन्तु इसके अतिरिक्त कि बुद्ध के कुछ प्रसिद्ध अनुयायी इन्हीं स्थानो के थे, बौद्ध धर्म के प्रारभिक इतिहास में इनका विशेष महत्त्व नहीं है। प्राचीन काल मे पचाल के दो भाग थे—उत्तर और दक्षिण पचाल। कपिल्ल[3] (काम्पिल्य) दक्षिण पचाल की राजधानी था और कभी-कभी उत्तर पचाल की भी राजधानी हो जाता था। एक बार कुरुरट्ठ[4] के कुरुओ ने उसे अपने अधीन कर लिया था। कनिंघम ने इसकी पहचान कायमगज से लगभग पाँच मील उत्तर गगा किनारे स्थित आधुनिक कपिल से की है। पाली ग्रंथो मे हमे कण्णकुज्ज (कान्यकुब्ज, कनौज) नाम का स्थान मिलता है, जो वेरज से बनारस जानेवाले अथवा सकस्स से सहजाति जानेवाले मार्ग पर एक पडाव था। सर्वास्तिवाद विनय[5] में अयोध्या दक्षिण पचाल में गिनी गई है।

शूरसेन—यूनानियो का सौरसेनाइ (Sourasenoi)—पचाल के पश्चिम में था। इसकी राजधानी मथुरा को अशोक के बाद के बौद्ध इतिहास में बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ। पाली ग्रथो में दक्षिण की मथुरा से भेद करने के लिए इसे 'उत्तर मथुरा' नाम दिया गया था। घट जातक में मथुरा को कृष्ण का लीलास्थल कहा गया है।

यातायात के मार्ग

पाली ग्रथो में विभिन्न प्रसिद्ध स्थानो के बीच यातायात के कुछ मार्गो का भी निर्देश किया गया है। बुद्ध ने जिन स्थानो में यात्राएँ की और धर्म का प्रचार किया

१. यह बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद, रुहेलखंड के पडोसी जिलो तथा मध्य दोआब का क्षेत्र था (एच० सी० रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एंश्यट इंडिया, पंचम सस्करण, पृ० १३५)। कनिंघम के मत से पचाल का विस्तार हिमालय पहाड से चंबल नदी तक था।

२. यह यमुना-तट पर मथुरा के आसपास का भू-भाग था।

३. जातक, ३, पृ० ३७९।

४. वही, ५, पृ० ४४४, महाभारत, १, पृ० १३८।

५. गिल्गिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, १, पृ० ४८।

उनका क्षेत्र अधिकाश मे भारत के मध्य एव पूर्वीय भागो तक,अर्थात् पश्चिम मे कौशाबी से पूर्व में कुसीनारा और राजगिर तक तथा उत्तर में श्रावस्ती (बहराइच के निकट सहेत-महेत) से दक्षिण में वनारम्स तक, सीमित था। स्पष्टत यह क्षेत्र ब्राह्मणो के प्रभाव में कम आया था और अधिकाश मे यह ब्राह्मण धर्म के (जिसका केंद्र कुरु-क्षेत्र था) गढ के वाहर था। जिन स्थानो मे बुद्ध ने यात्राएँ की थी वे एक-दूसरे से ऐसे मार्गों द्वारा सबद्ध थे जिनपर अधिकतर व्यापारियो के दल यात्रा किया करते थे। सुरक्षा तथा भोजन आदि की सुविधाएँ मिलने के कारण इन व्यापारी दलो के साथ प्राचीन काल के साधु-सन्यासी भी प्राय याना किया करते थे, क्योंकि उन दिनो वे भी लुटेरो के भय से मुक्त नही थे। पाली गथो में कुछ ऐसे मार्गों का निर्देश है जिनसे होकर लोग महात्मा बुद्ध के दर्शनार्थ जाते थे। वावरी, जो पहले कोसल का निवासी और राजा पसेनदि के पुरोहित का पुत्र था, सन्यासी हो गया और कुछ समय तक पसेनदि के उद्यान मे रहने के वाद उस स्थान को छोड गोदावरी तट पर जाकर एक आश्रम में रहने लगा। उसके अनेक शिष्य थे, जिनमे से कुछ को उसने बुद्ध के पास भेजा था। जिस मार्ग से इन शिष्यो ने यात्रा की वह पतिट्ठान[१], माहिस्सती[२], उज्जेनी[३], गोनद्ध, विदिसा[४], वनसा ह्वय, कोसवी[५], साकेत[६] होते हुए सावत्थी[७] को जाता था। फिर सावत्थी

१ वर्तमान पैठन जो हैदरावाद के औरगावाद जिले में गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर है।

२. इसकी पहचान मावाता के चट्टानी स्थान से की गई है। द्रष्टव्य पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यट इडिया पृ० १४५।

३ वर्तमान उज्जैन (मध्य भारत)।

४ पुराना वेसनगर, भेलसा से दो मील पर।

५. कोसम, इलाहाबाद जिला।

६. सभवत. यह वहराइच के पास सरयू नदी पर स्थित था। कोसवी से साकेत तेंतालीस योजन (=१२९ मील, १ योजन=३ मील) दूर था। साकेत की पहचान उन्नाव जिले में सई नदी के तटवर्ती सुजानकोट के खडहरो से की गई है। उल्लिखित नदी सभवत सरयू है। सावत्थी और साकेत के बीच एक चौडी नदी, सभवत' घाघरा, वहती थी (विनय, पृ० ६५, २२८)।

७. गोडा और वहराइच जिलो की सीमा पर अचिरवती या राप्ती नदी के किनारे स्थित सहेत-महेत। (पो० हि० ऐं० इ०,पृ० १००)। साकेत से सावत्थी की दूरी सात योजन अर्थात् इक्कीस मील के लगभग वताई गई है (विनय, १,२५३)।

से वे सेतव्य, कपिलवत्थु[1], कुसीनारा[2], पावा,[3] भोगनगर और वेसाली[4] होते हुए राजगह[5] पहुँचे, जहाँ उस समय बुद्ध विराजमान थे।[6] सावत्थी और राजगह के बीच की दूरी पैंतालीस योजन अथवा एक सौ पैंतीस मील थी। इस मार्ग का कोसंबी से पावा तक का अंश उत्तर प्रदेश की सीमा के भीतर पड़ता है।

विनय पिटक (३,११) में एक अन्य मार्ग का वर्णन है जिसमें होकर स्वयं बुद्ध गए थे। यह पश्चिम में वेरंज से आरंभ होकर सोरेय्य, सकस्स[7], कण्णकुज्ज[8], पयाग-तित्थ[9] होते हुए बनारस जाता था, जिनमें सोरेय्य को छोड़कर शेष सभी उत्तर प्रदेश के अंतर्गत हैं। द्वितीय बौद्ध-परिषद् के वर्णन[10] में भी एक ऐसे ही मार्ग का निर्देश है। यस थेर रेवत थेर से मिलने के लिए सोरेय्य गया। परंतु रेवत पहले ही वहाँ से प्रस्थान कर चुका था, अतः यस ने सकस्स–कण्णकुज्ज–उदुंबर–अग्गालपुर के मार्ग से उसका अनुसरण किया और सहजाति में उससे जा मिला, जो गंगातट पर अवस्थित था। यस कण्णकुज्ज से पूरब की ओर वेसाली जानेवाले मार्ग से चला। सहजाति संभवतः कन्नौज से अनतिदूर गंगा के दूसरे तट पर कहीं था। एक तीसरा मार्ग सावत्थी से राजगह को किटागिरि और आलवि होते हुए जाता था,जिसकी दूरी सावत्थी[11] से तीस योजन और बनारस से बारह योजन थी।[12] कनिंघम और हार्नले

१ नौतनवाँ से बारह मील पर।

२ कसिया (प्राचीन कुशीनगर)।

३. पडरौना जो कसिया से बारह मील दूर है।

४. विहार के मुजफ्फरपुर जिले में गंडक के पूर्व आधुनिक बसाढ़।

५. पटना के निकट वर्तमान राजगिर (प्राचीन राजगृह)।

६ सुत्तनिपात, ९७६-११४६।

७. इसकी पहचान कन्नौज से पैंतालीस मील पर अतरजी और कन्नौज के बीच संकिसा-वसंतपुर से की गई है। संकिसा से मथुरा की दूरी चार योजन (कच्चायन, ३।१) और श्रावस्ती से तीस योजन थी (जातक, ४, २६५)।

८ कन्नौज।

९. इलाहाबाद। कोसंबी से बनारस की दूरी यमुना से होकर तीस योजन अर्थात् लगभग ९० मील थी, जो अनुमान प्रायः ठीक जान पड़ता है।

१०. विनय महावग्ग।

११. विनय, २, पृ० १७०–५।

१२. वाटर्स, २,६१, फाहियान, पृ० ६०, ६२।

ने आलवि की पहचान उन्नाव जिले के नेवल से की है, परतु बौद्ध अनुश्रुतियो के अनुसार उसे कही सुलतानपुर और जौनपुर के बीच होना चाहिए।

उस समय अन्य भी अनेक छोटे-छोटे मार्ग रहे होगे, क्योकि बौद्ध ग्रथो मे ऐसे बहुत से स्थानो के नाम आते है जो अधिकतर कपिलवस्तु, श्रावस्ती, कौशाबी और बनारस के आसपास थे। उनमें से अधिकाश सभवत गाँव या छोटे-छोटे नगर थे, जहाँ से बुद्ध को अनेक अनुयायी प्राप्त हुए। बौद्ध ग्रथो में स्थानो के बीच की दूरियाँ अनुमान से दी गई थी, परतु वास्तविक माप से उनमें अधिक अतर नही पाया जाता।



अध्याय २

बुद्ध के पूर्व धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति

ई० पूर्व सातवी–छठी शती का समय उत्तर भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। न केवल राजनैतिक क्षेत्र मे, अपितु धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्रो में इस काल मे क्राति हुई। वैदिक कर्मकाड और जीवहिंसा के विरुद्ध जो विचारधारा इस काल में बनी उसने समाज को बहुत प्रभावित किया।[1] उपनिषदो के अध्यात्मवाद मे तत्त्वदर्शन का उच्च रूप दिखाई पडता है। कर्मकाड की जटिलता के स्थान मे अब ब्रह्म की उपासना तथा आत्मा-परमात्मा के गूढ विषयो का चिंतन समाज के विचारशील व्यक्तियो मे अधिक मान्य हुआ। पुरोहित-ब्राह्मणो की वरिष्ठता को इस सक्रातिकाल में धक्का पहुँचा। उनके दुरुह एव व्यय-साध्य याज्ञिक अनुष्ठानो से जनता के एक बडे भाग का विश्वास उठने लगा। अब क्षत्रिय लोग अध्यात्म-चिंतन के क्षेत्र मे अग्रसर हुए। यहाँ तक कि वे तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा ब्राह्मणो को भी देने लगे। जनक, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु आदि क्षत्रिय शासको के उदाहरण हमारे सामने हैं। बृहदारण्यक[2] तथा छादोग्य[3] उपनिषदो में आया है कि उद्दालक आरुणि नामक विद्वान् ब्राह्मण के पुत्र श्वेतकेतु पचाल के शासक प्रवाहण जैवलि की सभा में अपने ज्ञान की परीक्षा देने गए। जैवलि ने उनसे आत्मा और परलोक सबधी कतिपय प्रश्न पूछे, जिनका सतोषजनक उत्तर श्वेतकेतु न दे सके। उन्होंने लौटकर यह बात अपने पिता से बताई। इसपर उद्दालक आरुणि स्वय प्रवाहण जैवलि के यहाँ गए और उनसे पिता-पुत्र दोनो ने तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की।

उपनिषदो के उच्च दार्शनिक ज्ञान के साथ-साथ वैदिक कर्मकाड भी चल रहा था। श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र इसके प्रमाण हैं। इन साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञो

१. ऋग्वेद (१०, १२९) में भी इस विचारधारा की ओर कुछ सकेत मिलता है।

२ बृहदारण्यक०, ६,१,१।

३ छान्दोग्य०, ५, ३, १। कुछ क्षत्रिय शासक अपने पुत्रो को ब्राह्मणो से शिक्षा न दिलाकर स्वय देने लगे थे। गामणिचंड जातक (२, २९७) में मिलता है कि किस प्रकार एक क्षत्रिय राजा के द्वारा अपने पुत्र को स्वयं वेदों तथा सासारिक बातो की शिक्षा दी गई—'तयो वेदे सच्चं च लोके वत्तब्बं।'

और उनकी प्रणालियो का विस्तृत कथन मिलता है। ब्राह्मणो का एक अच्छा समुदाय अब भी इन यज्ञो का सचालन कर रहा था, यद्यपि उनमें पहले-जैसी व्यापक आस्था न रह गई थी। बुद्ध के पहले के तथा उनके समसामयिक अनेक शासक वैदिक कर्मकाड के प्रबल समर्थक एव सरक्षक थे।

ब्राह्मण वर्ग का कोई बडा केंद्रीय सगठन बुद्ध के पूर्व न था। ब्राह्मणो के ऐसे कोई मदिर भी न थे जिनमे लोग विधिवत् पूजा-आराधना कर सकते। प्राय साधारण जनसमाज वृक्षो की पूजा करता था, जिनमें देवत्व की भावना मानी जाती थी। वृक्षो के अतिरिक्त साधारण लोगो मे नाग-पूजा भी प्रचलित थी। ये नाग जल के निवासी और प्रभूत सपत्ति के स्वामी माने जाते थे। लोग उनसे भय खाते थे। इन नागो की सर्पविग्रह[1] तथा मानवविग्रह[2] इन दोनो रूपो में पूजा होती थी।

यक्षो तथा गधर्वों की भी पूजा इस काल में प्रचलित थी। यक्षो के अनेक बडे केद्र मथुरा, आलवी आदि स्थानो में थे। ये यक्ष महान् शक्तिशाली तथा धन के अधिपति माने जाते थे। यक्षो तथा यक्षिणियो की पूजा में लोगो का विश्वास बढ चला था। उनके अनेक रूपो की कल्पना की गई थी। यक्षो के पराक्रमी रूप के प्रति लोगो मे भय-जनित श्रद्धा उत्पन्न हुई। यक्षिणियो की साधना प्राय उनके कल्याणप्रद सुदर-मोहक रूप में की जाती थी, उनका दूसरा रूप भयावना होता था। प्राचीन साहित्य में यक्षो के सबध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न पूछने की बात प्रसिद्ध है। इस यक्ष-प्रश्न की वैदिक सज्ञा 'ब्रह्मोद्य'[3] थी। उत्तर भारत मे यक्ष-पूजा का कितना अधिक प्रचार हो गया था, इसका विशेष पता हमें बौद्ध और जैन-साहित्य से चलता है। इस साहित्य मे उंबरदत्त, सुरवर, माणिभद्र, भडीर, शूलपाणि,

१ इससे तात्पर्य सांप के आकारवाली मूर्तियो से है। कभी-कभी केवल फण की आकृति बनाकर उसकी पूजा होती थी। सर्पविग्रह-प्रतिमाओं को प्राय. सतान की इच्छा रखनेवाली स्त्रियाँ पूजती थीं।

२. इसमें नाग-नागी को पुरुष-स्त्री रूप में दिखाया जाता था। सिर के ऊपर सात या पाँच फण रहते थे।

३. यजुर्वेद, ३२, ९ तथा ४५। यक्ष के लिए वैदिक साहित्य में 'ब्रह्म' नाम प्रायः मिलता है। इसकी पूजा का प्रचलन 'बरम' तथा 'बरमदेव' नाम से आज तक प्रचलित है। वीर, जखैया आदि की पूजा भी प्राचीन यक्ष-पूजा के आधुनिक रूप हैं। इसी प्रकार यक्षिणी-पूजा के प्रकार माता, जोगिनी, डाकिनी आदि की पूजा में देखे जा सकते हैं।

सुरप्रिय, घटिक, पूर्णभद्र आदि कितने ही शक्तिशाली यक्षो के नाम मिलते है। इसी प्रकार कुती, नटा, भट्टा, रेवती, तमसुरी, लोका, मेखला, आलिका, वेन्दा, मवा, तिमिसिका आदि अनेक यक्षियो या यक्षिणियो के नाम भी प्राप्त होते है,[1] जिनसे लोग वहुत भय खाते थे। अंतिम चारो यक्षिणियाँ मथुरा की थी। वुद्ध ने उन्हे दुष्प्रवृत्तियो से निवृत्त किया। मथुरा मे गर्दभ नामक यक्ष वडा शक्तिशाली था। इसका दमन कर वुद्ध ने मथुरा के निवासियो का कष्ट दूर किया।[2] इसी प्रकार आलवि का दुर्दांत यक्ष भी वुद्ध द्वारा विनम्र वनाया गया।

इस काल की अनेक लौकिक मान्यताओ तथा अंधविश्वासो का भी पता चलता है। इनमें से कुछ इस प्रकार थे—हस्त-ज्योतिष, सव प्रकार के दैव-कथन, दैवी घटनाओ से फलो का कथन, स्वप्न-फल, मूषको द्वारा काटे हुए कपडे का फल-कथन, अग्नि-वलि, विभिन्न प्रकार के देवो को वलि-प्रदान, भाग्यप्रद स्थानो का अभिज्ञान, मत्र-तत्र, प्रेतविद्या, सर्प तथा विविध पशु-पक्षियो का वशीकरण, फलित ज्योतिष, विविध प्रकार की भविष्य वाणियाँ, किसी लडकी मे देव को वुलाकर या दर्पण की सहायता से रहस्य का उद्‌घाटन, गुप्त धन को खोजने की विद्या, सर्वशक्तिमान् की उपासना, 'सिरि' या लक्ष्मी देवी का आह्वान, देवो की आन या सौगध तथा वशीकरण और इद्रजाल की विद्याएँ।[3]

इस प्रकार लोक में अनेक प्रकार के चमत्कारपूर्ण क्रिया-कलापो तथा मत्र-तत्रो मे श्रद्धा विद्यमान थी। वैदिक देवताओ—अग्नि, इद्र आदि—की पूजा अव भी प्रचलित थी। परतु इसके साथ ही मातृदेवी, वृक्ष-देवता, यक्षो, नागो तथा असुरो की पूजा भी होती थी। इन लौकिक देवताओ मे कुछ तो दयालु थे और कुछ कठोर और क्रोधी। अनेक देवता वायु, मेघ, गर्मी, प्रकाश आदि के प्रतीक थे और कुछ मानसिक प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करते थे।

अनेक मत-मतातर इस काल में फूल-फल रहे थे। इस सक्राति काल मे धार्मिक मान्यताओ के सवध मे लोगो को विचार-स्वातत्र्य प्राप्त था। कुछ आधुनिक विद्वानो का

१. द्रष्टव्य डा० मोतीचंद्र, 'सम ऐस्पेक्ट्स ऑव यक्ष कल्ट' (वुलेटिन ऑव दि प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, वबई, १९५४), पृष्ठ ४३ तथा आगे।

२. इस यक्ष के संवंध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए नलिनाक्ष दत्त, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १, पृ० १४–१७।

३. द्रष्टव्य रिज डेविड्स, वुधिस्ट इडिया (कलकत्ता संस्करण, १९५०), पृ० १४३–४४।

यह विचार कि बुद्ध के पूर्व भारतीय समाज ब्राह्मणो द्वारा पैदा की गई धार्मिक रूढियो में जकडा हुआ था, युक्तिसगत नही है। वास्तव मे इस काल के लोग धार्मिक विपयो मे स्वतन्त्र थे,जिसके फलस्वरूप चिंतन की कितनी ही धाराएँ एव सम्प्रदाय अस्तित्व मे आ गये थे। पाली साहित्य के अनुसार बुद्ध के धर्म-प्रचार के पूर्व ६२ सम्प्रदाय विद्यमान थे। ये आजीवक, परिव्राजक, जटिलक, मुड श्रावक, तेदडिक आदि थे। जैन ग्रथों मे इन सम्प्रदायो की सख्या ३६३ दी हुई है। इनमें से कितने ही वैदिक धर्म में या जैन एव बौद्ध धर्म मे समा गये होगे। बुद्ध के समय में विविध धर्मों के कितने ही विद्वान् प्रचारक मौजूद थे। इनमें पुराण कस्सप, मक्खलि गोषाल, निगठ नाटपुत्त, अजित केशकम्बलिन्, असित ऋषि, पकुद्ध कच्चायन, मोग्गलान, सजय वेलट्ठपुत्त, आडार कालाम, उद्दक रामपुत्त (रुद्रक रामपुत्र) आदि अनेक विद्वानो के नाम साहित्य मे मिलते हैं।

इस काल की सामाजिक स्थिति का भी यहाँ परिचय देना आवश्यक है। बुद्ध के पूर्व समाज में रग वा वर्ण (वप्र) के आधार पर वडाई-छुटाई थी। पर उसने परवर्ती काल की 'जाति-प्रथा' का रूप नही ग्रहण किया था। जन्म ही उच्चता या लघुता का निर्णायक है, यह बात समाज के एक अल्प वर्ग में ही मान्य थी। कर्म की प्रधानता की ओर अब लोगो का ध्यान गया था और यह स्वीकार किया जाने लगा था कि छोटे समझे जानेवाले लोग अच्छे कर्मों से ऊँचे उठ सकते हैं। उपनिषदो में तथा वुद्ध द्वारा दिये गये कई उत्तरो में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है।[1]

वश-परपरागत कर्मों को छोडकर लोग अन्य पेशो को भी अपनाते थे। जातक साहित्य में ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं। एक जातक[2] में एक क्षत्रिय पहले कुम्भकार का काम और फिर डलिया वनानेवाले का काम अपनाता है। उसके वाद वह क्रमश वशकार, मालाकार तथा रसोइया वनता है। पर इन वातो से उसकी उच्च जाति में कोई अतर नही आता। इसी प्रकार एक सेट्ठि, दर्जी तथा कुम्हार का पेशा अपनाने पर भी उच्च वर्ग का ही माना जाता है।[3] कुछ ब्राह्मणो के द्वारा जब यह देखा गया कि यज्ञादि कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन नही हो पाता तव वे अन्य कार्य करने लगे। वौद्ध साहित्य में खेती करनेवाले ब्राह्मण[4] (कस्सक), वाणिज्य में लग्न

१. द्रष्टव्य जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०१, पृ० ८६८।
२. जातक, ५, २९०।
३. जातक, ६, ३७२।
४. जातक, ३, १६३; ५, ६८।

ब्राह्मण[1], बढई (वड्ढकि)[2] ब्राह्मण तथा शिकारी ब्राह्मणो[3] के उल्लेख मिलते हैं। कुछ ब्राह्मण विद्यार्थियो को पढाने, भविष्य-कथन तथा मन्त्र-तन्त्र का काम भी करने लगे थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा सेट्ठि (वैश्य)—इन तीन उच्च वर्णों के अतिरिक्त हीन जातिवाले लोग भी थे। जिनके पेशो ('हीनसिप्पानि') का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। ये लोग चिडीमार, नट, चमार, जुलाहे, डलिया बनानेवाले, बढई, नाई, कुम्हार आदि थे। इन हीन जातियो के भी नीचे चडाल, पुक्कुस आदि थे।[4] इनके अतिरिक्त दास भी थे, जिनकी सतान भी प्राय दास समझी जाती थी। ये लोग अधिक-तर घरेलू नौकर होते थे और उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। इनकी सख्या अधिक न थी।

तत्कालीन समाज मे अनुलोम तथा प्रतिलोम—दोनो प्रकार के विवाह प्रचलित थे। दो असवर्ण स्त्री-पुरुषो के सयोग से उत्पन्न सतान प्राय उच्च वर्ग की मानी जाती थी।[5] आपस में खानपान भी प्रचलित था, पर चडालो, पुक्कुसो आदि के साथ उच्च वर्ग के लोगो का भोजन करना गर्हित समझा जाता था।

इस काल की एक उल्लेखनीय व्यवस्था आश्रमो की थी। आरण्यको तथा प्राचीन उपनिषद्-ग्रथो में केवल तीन आश्रम बताए गए हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ। ये तीनो आश्रम जीवनरूपी वृक्ष की तीन शाखाओ के रूप में माने जाते थे, न कि जीवन की क्रमिक धाराओ के रूप में। परवर्ती उपनिषदो में तथा महाभारत एव धर्म-सूत्रो में आश्रमो का पिछला स्वरूप मिलने लगता है और चौथा सन्यास आश्रम भी तीनो आश्रमो के साथ जुड जाता है।

वनो में निवास करनेवाले वानप्रस्थी लोग प्राय वैदिक कर्मकाड से विरत रहने लगे थे। उन्होने ज्ञान-मार्ग को अधिक श्रेयस्कर समझा। धर्म-प्रचारको के रूप में इन लोगो की मान्यता बढी। अनेक विदुषी महिलाओ ने भी वैदिक कर्मकाड के स्थान पर दार्शनिक विचारधारा के प्रचार मे योग दिया। फलस्वरूप कर्मकाड की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग की ओर प्रवृत्ति बढने लगी।

१. जातक, ५,४७१, २, १५।
२. जातक, ४, २०७।
३. जातक, २, २००।
४. अगुत्तर निकाय, १, १६२, याकोबी, जैनसूत्रज, २, ३०१।
५. जातक, ४, ३८, १४६ तथा ६, ३४८।

बुद्ध के पूर्व उत्तर भारत की जनभापा पाली थी। इसका प्रचार तक्षशिला से लेकर चपा[1] तक था। सस्कृत का प्रयोग उच्च वर्ग के कुछ लोगो तक ही सीमित था। यह सस्कृत प्राचीन वैदिक सस्कृत से भिन्न हो चली थी। जनभापा पाली मे वैदिक सस्कृत के कितने ही शब्द घुल-मिल गए थे। कुछ नये शब्द भी गढे गए या अनार्य भापाओ से ग्रहण किए गए। वुद्ध ने इसी जनभापा पाली को अपनाया। इस कारण भी ब्राह्मणो में उनके प्रति विरोध की भावना पैदा हुई।

प्राक्-वुद्धकालीन समाज की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। अनेक प्रकार के उद्योग-धवे उन्नति पर थे। यातायात के साधनो का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। सडको के किनारे बडे नगर स्थापित थे, जिनमें विविध व्यवसाय प्रचलित थे। ये नगर चपा, राजगृह, वैशाली, वाराणसी, अयोध्या, साकेत, श्रावस्ती, कौशाबी, मथुरा, तक्षशिला आदि थे। जो मुख्य व्यवसाय इस काल में प्रचलित थे वे वस्त्र-उद्योग, हाथी दाँत का काम, धातु का काम, वढईगीरी, कुम्हार का काम तथा पत्थर का काम थे। इनके अतिरिक्त रत्नकार, मालाकार (माली), सुराकार (मदिरा वनानेवाले), रग-कार (रगरेज), चर्मकार (जूते आदि बनानेवाले) भी थे।

इस काल में शिल्पियो और व्यवसायियो ने अपने को ग्रामीण कृपक जनता पर पूर्णतया अवलवित रहने से वहुत-कुछ स्वतत्र कर लिया था। इससे उन्हे अपने व्यवसाय को एक निर्दिष्ट परिधि से आगे वढाने का मौका मिल गया। अव वे गाँव के लोगो की आवश्यकताओ से कही अधिक सामान वनाने लगे और उसे वाहर भेजने लगे। उद्योगो की उन्नति एव सुरक्षा के लिए विविध व्यवसायवालो ने अपने-अपने सगठन वना लिए, जो निगम, सघ, श्रेणि, पूग, निकाय आदि नामो से प्रसिद्ध हुए। प्रत्येक निगम का एक प्रवान या अव्यक्ष होता था जो 'पमुख' (प्रमुख) या 'जेट्ठक' (ज्येष्ठक) कहलाता था। जातको मे 'कुमारजेट्ठक' (स० ३८७), 'मालाकार जेट्ठक' (स० ४१५), 'वड्ढकिजेट्ठक' (स० ४६६) आदि के उल्लेख मिलते है। व्यापारियो के समुदायो के प्रधान 'सत्थवाह जेट्ठक' (स० २५६) कहलाते थे। जातको से पता चलता है कि चोरो के भी समुदाय अपने जेट्ठक नियुक्त करते थे। ५०० चोरो के एक जेट्ठक का वर्णन सत-पत्त जातक (स० २७९) में मिलता है। समुद्दवाणिज जातक (स० ४६६) मे लिखा हे कि एक गाँव मे वढइयो के १,००० मकान थे। इनमें से प्रत्येक ५०० वढइयो के ऊपर

१. यह विहार प्राते के जिला भागलपुर म है। प्राचीन अग राज्य की चंपा नगरी राजधानी थी।

एक अध्यक्ष था।[1] कही-कही अध्यक्ष के लिए सेट्ठि (श्रेष्ठि) शब्द मिलता है। विभिन्न निगमो में सदस्यो की सख्या पृथक्-पृथक् होती थी। शिल्पियो और व्यापारियो के निकाय अपने-अपने व्यवसायो के सरक्षण एव प्रवर्धन के प्रति सचेष्ट रहते थे। इनके जेट्ठको का शासन में प्राय महत्त्वपूर्ण भाग रहता था। निकायो के अपने नियम थे, जो राज्य द्वारा मान्य थे। धर्मसूत्र ग्रथो से पता चलता है कि राजा सघो के नियमो का आदर करता था और किसी प्रकार की अव्यवस्था होने पर विविध वर्गों को उनके नियमो में नियोजित करता था।[2] निगमो का शासन-कार्य में बडा हाथ रहता था। उरग-जातक[3] से ज्ञात होता है कि व्यावसायिक सघो के दो अध्यक्ष कोसल राज्य के महामात्र-पद पर आसीन थे। सूचीजातक में लोहकारो के प्रमुख को 'राजवल्लभ' (राजा का विशेष कृपापात्र) कहा गया है। निग्रोध जातक[4] में उल्लेख आया है कि एक जेट्ठक राज्य का कोषाध्यक्ष बनाया गया था।

बौद्ध साहित्य मे 'सेट्ठि' (सेठ) का उल्लेख बहुत मिलता है। ये कई प्रकार के होते थे। सबसे बडा 'महासेट्ठि' कहलाता था। उससे छोटे 'अनुसेट्ठि' तथा 'उत्तरसेट्ठि' थे। समाज में इनकी बडी प्रतिष्ठा थी। बुद्ध के समकालीन अनाथपिंडिक सेठ की कथा प्रसिद्ध है। उसका ससुर राजगृह का महासेट्ठि था।[5] मगधराज बिंबिसार तक उसके यहाँ निमन्त्रण में आया करते थे। इसी प्रकार मृगधर, यश, मेंडक, धनजय आदि की गणना भी बडे श्रेष्ठियो में थी। महावग्ग से ज्ञात होता है कि राजगृह का सेट्ठि वहाँ के राजा तथा वणिक-समुदाय के हित के लिए विविध कार्य करता रहता था।[6] राजा लोग सेट्ठि का बडा आदर करते थे और उसकी सलाह राज्य के अनेक कार्यों में ली जाती थी। विशेष आवश्यकता पडने पर सेट्ठि राज्य के लिए धन भी प्रदान करता था। व्यापारिक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में वह राजा से व्यावसायिक हितो की रक्षा कराता

१. "कुलसहस्से पञ्चन्न पञ्चन्न कुलसतान जेट्ठका द्वे वड्ढकि अहेसु।" (जा० स० ४६६)। निगमों की विस्तृत सूची के लिए देखिए रमेशचंद्र मजुमदार, कारपोरेट लाइफ इन एंश्यंट इडिया, पृ० ५, १८–१९, तथा रिज डेविड्स, बुधिस्ट इडिया, पृ० ५७ तथा आगे।

२. देखिए गौतम धर्मसूत्र, ११,२१।

३. स० १५४।

४. स० ४४५।

५. चूलवग्ग, ६, ४, १।

६. "बहूपकारको देवस्स चेव नेगमस्स च।" (महावग्ग, ८, १, १६)।

था। विभिन्न निगमो के बीच कोई झगडा उपस्थित होने पर राजा सेट्ठि की सहायता से उसे निपटाता था। देश की आर्थिक योजनाओ के निर्माण में, उत्पादन-वितरण आदि की व्यवस्था में तथा श्रेणिधर्म पर विचार करने में राजा श्रेष्ठि से परामर्श करता था। श्रेष्ठि की अनुपस्थिति में उसका कार्य अनुश्रेष्ठि (अनुसेट्ठि) करता था।[१]

ये महासेट्ठि आदि के पद प्राय कुलक्रमागत होते थे। राजपरिवार उनके प्रति सम्मान का भाव रखते थे। अट्ठान जातक[२] में लिखा है कि वनारस का राजकुमार वहाँ के सेट्ठि-पुत्र के साथ एक ही गुरु के यहाँ पढता था। बडे होने पर भी इन दोनो की मैत्री मे कमी नही आई। सेट्ठि लोग प्राय साहित्य तथा ललित कलाओ को सरक्षण प्रदान करते थे। उनके यहाँ कितने ही सगीतज्ञ, नर्तक-नर्तकियाँ, चित्रकार तथा अन्य कलाकार रहते थे। समय-समय पर उनके यहाँ विविध आमोद-प्रमोद के विशेष आयोजन हुआ करते थे। जातको में 'असीतिकोटिविभवो सेट्ठि' (अस्सी करोड की सपत्तिवाले सेट्ठि) के वर्णन कई स्थानो में मिलते हैं।[३] नगरो के अतिरिक्त कुछ सेट्ठि गाँवो में भी रहते थे। सभवत उनके लिए ही साहित्य में 'जनपद सेट्ठि' शब्द का व्यवहार हुआ है।[४]

सेट्ठि लोग अपने लडको को ऊँची से ऊँची शिक्षा दिलाने का प्रयत्न करते थे। निग्रोध जातक से ज्ञात होता है कि राजगृह के सेट्ठि ने अपने दो लडको को तक्षशिला में अध्ययन के लिए भेजा और वहाँ के अध्यापक को २,००० मुद्राएँ भेंट में दी। उस समय तक्षशिला के विश्वविद्यालय में विविध शिल्पो (सिप्पानि) की उच्च शिक्षा का प्रबध था।

शिल्पी तथा व्यवसायी लोग दान देने में अग्रणी थे। कितने ही मदिर, औपधालय, पुण्यशाला, विद्यालय तथा गरीब लोग उनके दान से चलते-पलते थे। विविध व्यवसाय-वालो तथा साधारण गृहपतियो को वे धन उधार देते या दिलाते थे। उस समय बैंक नही थे। जैसा कि जातको से पता चलता है, लोग प्राय अपना धन जमीन में गाड देते थे।[५] बिना व्याज के और व्याज पर भी धन उधार दिया जाता था। पाणिनि ने द्वैगुणिक (दुगुने), त्रैगुणिक (तिगुने) और दशैकादशिक (दस-ग्यारह गुने) व्याज का

१ रिचर्ड फिक, दि सोशल आर्गनिजेशन इन नार्दर्न इंडिया इन बुद्धज टाइम, (कलकत्ता, १९२०), पृ० २५८ तथा आगे।

२ स० ४७५।

३. जातक स० १२८, ३००, ४४४ और ३८२।

४. निग्रोध जातक (स० ४४५)।

५. उदाहरणार्थ देखिए जातक सख्या ३९,७३ तथा १३७।

उल्लेख किया है, जो वास्तव में बहुत अधिक था। वशिष्ठ ने व्याज की दर दो प्रतिशत से पाँच प्रतिशत तक लिखी है।[1] धर्मशास्त्रकारो ने ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो के लिए व्याज लेना निषिद्ध लिखा है। व्याज की विभिन्न दरें प्राक्-बुद्धकाल में भी प्रचलित रही होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं बुद्ध के पूर्व वर्तमान उत्तर प्रदेश के कोसल, काशी, पचाल, शूरसेन आदि राज्य आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे। शिल्प तथा वाणिज्य की दशा अच्छी थी। इस काल में कई बडे व्यापारिक मार्ग थे। एक बडी सडक श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जाती थी। इसपर मुख्य बडे नगर साकेत, कौशावी, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी तथा माहिष्मती थे। दूसरा बडा मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक जाता था। व्यापारी लोग श्रावस्ती से तराई में होते हुए वैशाली के उत्तर पहुँचते थे। फिर वहाँ से दक्षिण की ओर जाते थे। मार्ग में ठहरने के स्थान सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, हस्तिग्राम, भडग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालदा थे।[2]

---

१. वशिष्ठ धर्मसूत्र, २, ४८-४९।

२. यातायात के अन्य मार्गों का वर्णन पिछले अध्याय (पृ० ११-१४) में किया जा चुका है।

अध्याय ३

गौतम बुद्ध का प्रारंभिक जीवन

भगवान् बुद्ध का जीवन कोसल मे बौद्ध धर्म के इतिहास का एक सारभूत अग है। बुद्ध पसेनदि की भाँति कोसलक थे, यह पसेनदि के ही शब्दो से इस प्रकार व्यक्त होता है—"भगवापि कोसलको अह पि कोसलको।"[1] राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म शाक्यो की राजधानी कपिलवस्तु मे हुआ था और शाक्यो का देश राजा पसेनदि के राज्य में सम्मिलित था। अग्गञ्ञ सुत्तात[2] मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शाक्य गण पसेनदि कोसलक से अनुयुक्त (अनुयुत्तो) थे और उनके प्रति उचित आदर और प्रणति प्रकट करते थे। पसेनदि भी राज्य-कार्य से शाक्यो के प्रदेश मे जाया करते थे।[3] अत कोसल या उत्तर प्रदेश महात्मा बुद्ध का स्वदेश होने का पूरा दावा कर सकता है।[4] यद्यपि सिद्धार्थ ने बुद्धत्व (बोधि) गया में प्राप्त किया, परतु उन्होने न केवल अपना प्रथम उपदेश बनारस के निकट इसिपत्तन मे दिया अपितु वही उन्होने अपने शिष्यो का प्रथम दल सघटित किया और उन्हे इस आदेश के साथ विभिन्न स्थानो में भेजा—"जाओ भिक्षुओ, भ्रमण करो, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकपा करने के लिए, देवो और मनुष्यो के हित एव सुख के लिए। तुममे से कोई दो एक साथ मत जाओ। भिक्षुओ, उपदेश करो धर्म का, जो आदि में कल्याणमय है, मध्य मे कल्याणमय है, अत में कल्याणमय है" (चरथ भिक्खवे, चारिक बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकपाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान, म एकेन द्वे अगमित्थ, देसेथ भिक्खवे, धम्म आदि कल्याण मज्झे कल्याण परिओसान कल्याण)।

बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्य का सपूर्ण उत्तरार्ध काल श्रावस्ती मे ही बीता, जो उस समय कोसल की राजधानी थी। और उन्होने अपना शरीर-त्याग किया कुशीनारा

१ मज्झिम० २, पृ० १२४।

२. दीघ० ३।

३. मज्झिम० २, पृ० ११८—"पसेनदि कोसलको नगरक अनुपत्तो होति केनचिद् एव करणीयेन," ३, पृ० १०४—"नगरक नाम सक्यान निगमो।"

४. सुत्तनिपात में बुद्ध कहते है—"हिमवत-कोसल से सटे हुए ही आदिच्च-साक्य है। उसी साक्य-कुल से मैने प्रव्रजन किया।"

(कसिया) में। बौद्धधर्मियो को स्वय बुद्ध ने तीर्थयात्रा के लिए जो चार स्थान बतलाए थे उनमे से तीन उत्तर प्रदेश की सीमा के अतर्गत अवस्थित है।[1]

इन सब साक्ष्यो के आधार पर असदिग्ध रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम बुद्ध उत्तर प्रदेश के थे। आगे यह दिखाया जायगा कि उन्होने उन्ही स्थानो मे अपने उपदेश सबसे अधिक दिए और विनय के अधिकाश नियम निर्मित किए जो उत्तर प्रदेश राज्य में ही सम्मिलित हैं। यह भी बताया जायगा कि श्रावस्ती और बनारस बुद्ध के प्रमुख शिष्यो के अत्यंत प्रिय स्थान थे, जहाँ वे प्राय एकत्र हुआ करते थे।

बुद्ध के परपराप्राप्त जीवन-चरित मे उनकी बोधिसत्त्व तथा बोधिसत्त्व के पूर्व तक की अवस्थाओ का वर्णन मिलता है। महावस्तु में बोधिसत्त्व के पूर्व की अवस्था को 'प्रकृति-चर्या' कहा गया है। इस चर्या (भावना-क्रम) में रहनेवाला व्यक्ति सामान्य मनुष्य (प्रकृति=पाली 'पुथुज्जन') ही रहता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह (१) अपने माता-पिता का आज्ञापालक हो, (२) श्रमणो और ब्राह्मणो के प्रति उदार रहे, (३) गुरुजनो का आदर करे, और (४) दस प्रकार के सत्कर्मों (कुशल-कर्मपथ) को करता रहे। साथ ही उसे यह भी चाहिए कि वह (५) दूसरो को दान देने तथा पुण्यार्जन करने के लिए उत्साहित करे और (६) बुद्धो और अर्हतो की पूजा किया करे। परतु इस चर्या में मनुष्य के हृदय में बुद्धत्व प्राप्त करने की अभिलाषा नही जगती। निदानकथा मे सामान्य मनुष्य के कर्तव्यो का विवरण नही दिया गया है और केवल यह कहा गया है कि बोधिसत्त्व अपनी बोधिसत्त्व के पूर्व की अवस्था मे तण्हकर, मेधकर तथा सरणकर नामक बुद्धो के समकालीन थे। महावस्तु के अनुसार बोधिसत्त्व अवस्था एक प्राचीन शाक्यमुनि बुद्ध के समय मे प्रारभ हुई, जब कि हमारे बोधिसत्त्व ने बोधि प्राप्त करने का प्रथम निश्चय (प्रणिधान) किया, और बाद में यह निश्चय उन्होने कई बार किया। केवल इन प्रणिधानो के समय को 'प्रणिधि या प्रणिधान चर्या' कहते है। बोधिसत्त्व की दूसरी चर्या जिसे 'अनुलोम' (अग्रसर होना) कहते हैं, समिताबी बुद्ध के समय में प्रारभ हुई, जब कि वे बोधिसत्त्व के लिए विहित

१ उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त, जो कि यह सिद्ध करते है कि बुद्ध कोसलक थे, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध का सबसे पहला जीवनचरित उनके श्रावस्ती में दिये गये प्रवचनों में प्राप्त होता है, जैसे अरिय परियेसन सुत्त (मज्झिम० १, पृ० १६० तथा आगे) जो एक आत्मचरित है, तथा अच्छरियब्भुत धम्मसुत्त (मज्झिम० ३, पृ० ११८ तथा आगे) जिसमें ललितविस्तर में पाई जानेवाली कुछ अनुश्रुतियाँ दी हुई हैं।

अनिवार्य गुणो को प्राप्त करने में प्रवृत्त हुए। इसका विवरण कई जातको में दिया हुआ है। महायान मत के अनुसार अनुलोम-चर्या में रहते हुए वोधिसत्त्व उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए प्रथम से अष्टम 'भूमि' तक पहुँच जाते हैं। अविवर्त वा अनि-वर्तन (न लौटनेवाली) नाम की चतुर्थ चर्या हमारे वोधिसत्त्व ने दीपकर वुद्ध के समय में ग्रहण की, जव कि उन्होंने मेघमाणव अथवा सुमेध ब्राह्मण के रूप में जन्म लिया।

महावस्तु में दी हुई मेघमाणव की कथा इस प्रकार है—'मेघमाणव ने जव अपनी ब्राह्मण-धर्म की शिक्षा समाप्त कर ली तव वे अपने गुरु को अध्ययन-समाप्ति की गुरु-दक्षिणा देने के लिए वन एकत्र करने के हेतु हिमवत के मैदानो मे आए। एक उदार व्यक्ति ने उन्हें 'पुराण' नाम वाली पाँच सौ मुद्राएँ दी। उनके मन में राजधानी दीपवती को देखने की इच्छा हुई और उन्होने देखा कि नगर खूव सजाया गया है, जैसे कोई समारोह मनाया जा रहा हो। अपने हाथो मे सात कमल पुष्प लिए हुए एक सुदर युवती जा रही थी, उससे पूछने पर उन्हें पता चला कि नगर दीपकर बुद्ध के स्वागत के लिए सजाया गया है। तव उन्होंने पाँच सौ 'पुराण' मूल्य देकर उससे पाँच कमल पुष्प क्रय करने की इच्छा प्रकट की। युवती ने उत्तर दिया कि वे पुष्प उन्हें तभी मिल सकते हैं जव वे उसे अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करें। उसके प्रस्ताव पर थोडा ननु-नच करने के बाद उसके यह विश्वास दिलाने पर कि वह उनकी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक न बनेगी, उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। दीपकर बुद्ध की दीप्ति-मान् आकृति को देखकर उनके मन में गहरी श्रद्धा उत्पन्न हुई और उन्हें अद्वैत (अद्वय सज्ञा) का बोध हो गया। वे वुद्ध की दिव्य शक्तियो को देखकर उनके भक्त वन गए और अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने के लिए उन्होने वुद्ध के कमलवत् चरणो की धूलि अपने केशो से पोछी। जव वे ऐसा कर रहे थे उसी समय उनके हृदय में वोधि प्राप्त करने की अभिलाषा जाग उठी।'

दूरे निदान

निदान कथा के अनुसार वोधिसत्त्व अवस्था दीपकर वुद्ध के समय से प्रारभ हुई, न कि उसके पहले, जैसा महावस्तु में वताया गया है। उस समय हमारे वोधिसत्त्व का जन्म सुमेध ब्राह्मण के रूप में हुआ था, जिसकी कथा इस प्रकार है—'सुमेध का जन्म अमरावती के एक अभिजात एव अत्यत धनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके माता-पिता का उनकी वाल्यावस्था में ही देहात हो गया। उन्होंने ब्राह्मण-शास्त्रो का अध्ययन

किया। अपने माता-पिता द्वारा छोडी हुई अपार सपत्ति से वे ऊब गए और उसे दान कर दिया। अब वे सन्यास लेकर उस अमर अवस्था (अमत-महानिब्बान) की साधना में प्रवृत्त हुए जो जन्म-मृत्यु, सुख-दु ख तथा रोग-क्लेश से सर्वथा मुक्त है। उन्हें अनुभव हुआ कि यत ससार मे प्रत्येक वस्तु के धनात्मक (भावात्मक) और ऋणात्मक (अभावात्मक) दो पक्ष है, अतएव जन्म की भी कोई अभाव-सूचक वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो जन्मरहित हो, और वह वस्तु उन्हें प्राप्त होगी। वे हिमालय में चले गए और केवल वृक्षो से गिरे हुए फलो से जीवन-निर्वाह करते हुए धम्मक पर्वत पर रहने लगे। उन्होने शीघ्र ही ध्यान योग तथा पच महाशक्तियो (अभिञ्ञा)[1] में सिद्धि प्राप्त कर ली।

वे समय-समय पर नमक और फलो का रस लेने के लिए ग्रामो मे जाया करते थे, सो एक दिन वे रम्मक नगर चले गए। उसी समय बुद्ध दीपकर उस प्रत्यतदेशीय नगर (पच्चन्त-देसविसय) रम्मक में पहुँचे और सुदस्सन महाविहार में ठहरे। सुमेध तापस ने नगर-निवासियो को बुद्ध के स्वागत के लिए नगर की सफाई और सजावट मे तत्पर पाया, अत वे भी उसमें हाथ बँटाने के लिए अग्रसर हुए। वे बुद्ध की दिव्य दीप्तिमान् आकृति पर मुग्ध हो गए और उनके मन मे उनके निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर देने की इच्छा हुई। जब बुद्ध एक कर्दमयुक्त मार्ग से जा रहे थे तो उनके चरण मलिन न हो जायँ इसलिए सुमेध उस मार्ग पर रत्न-सेतु (मणिकफलक सेतु) के सदृश लेट गए, जिससे बुद्ध और उनके शिष्य जो सभी सिद्ध (अर्हत्) थे, उनके शरीर पर से चले जायँ। जब वे इस प्रकार लेटे हुए थे उस समय उनके हृदय मे यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मै अपने मलिन कर्मों को नष्ट करके (जो कि वे सरलता से कर सकते थे) स्वय मुक्ति न प्राप्त करूँ, प्रत्युत मुझे बुद्धत्व प्राप्त हो, जिससे मै असख्य प्राणियो का जीवन-मरण के प्रवाह से उद्धार करने मे समर्थ हो सकूँ। तब दीपकर ने ठीक उनके सिर के सामने खडे होकर यह भविष्यवाणी की कि यह महान् जटिल तापस असख्य कल्पो के अनतर बुद्धत्व प्राप्त करेगा। वह कहाँ जन्म लेगा, कैसे परम ज्ञान (बोधि) प्राप्त करेगा और कौन उसके मुख्य शिष्य होगे, इसका भी उन्होने विस्तार से वर्णन किया। उस समय अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओ ने उनकी भविष्यवाणी की पुष्टि की और एक भूकप भी आया जिससे इस बात मे कुछ भी सदेह नही रह गया कि सुमेध 'बुद्ध बीजकुर' है। सुमेध को भी इस सत्य का अनुभव हुआ और अपनी उच्च शक्तियो

१. द्रष्टव्य, पाली टेक्स्ट, पृ० १४।

(अभिञ्ञा) के द्वारा उन्होंने उन दस पारमिताओं को प्राप्त किया जिन्हें पहले के बोधिसत्त्वों ने बुद्ध होने के लिए प्राप्त किया था।' सुमेध ब्राह्मण के रूप में जन्म लेने के बाद (न कि पहले) के बोधिसत्त्व के सभी जन्मों को पाली-परपरा में उनकी 'अनुलोम-चर्या' माना गया है, जिसका उद्देश्य उन पारमिताओं या पारमियों में सिद्धि प्राप्त करना था जिनका वर्णन 'जातकत्थवण्णना' की ५५० कथाओं में किया गया है। दसों पारमियों में से प्रत्येक की सिद्धि निम्नलिखित जन्मों में हुई—

१. वेस्सतर जातक	दान पारमिता	(दान)
२ सखपाल जातक	शील पारमिता	(नीति-उपदेश)
३. चुलसुतसोम जातक	नेक्खम्म पारमिता	(निवृत्ति)
४. सत्तुभट्ट जातक	पञ्ञा पारमिता	(ज्ञान)
५. महाजनक जातक	विरिय पारमिता	(वीर्य)
६. खन्तिवाद जातक	खन्ति पारमिता	(क्षान्ति, क्षमा)
७. महासुतसोम जातक	सच्च पारमिता	(सत्य)
८ मुगपक्ख जातक	अधिट्ठान पारमिता	(दृढता)
९ एकराज जातक	मेत्ता पारमिता	(मित्रता)
१० लोमहस जातक	उपेक्खा पारमिता	(उदासीन भाव)

अविदूरे निदान

महावस्तु के द्वितीय भाग निदानकथा के अविदूरे निदान मे तथा अन्य सभी जीवनचरितो मे बुद्ध के जीवन का आरभ उनके तुषित स्वर्ग के जीवन से होता है। जब बोधिसत्त्व अपने तुषित स्वर्ग के प्रासाद में सिंहासन पर विराजमान थे तब देवो ने उनसे बुद्ध-रूप धारण करने की (बुद्ध होने की) प्रार्थना की और उन्हें उनके पूर्व जन्मो का स्मरण कराया जिनमें उन्होने (बोधिसत्त्व ने) बोधिसत्त्व के दिव्य गुणो को प्राप्त करने के लिए विकट साधनाएँ की और घोर कष्ट सहे थे। देवो ने उन्हें उनकी बार-बार दुहराई गई उस दृढ प्रतिज्ञा का भी स्मरण दिलाया जो उन्होंने पृथ्वी के ही नहीं, स्वर्ग एव नरक के भी समस्त जीवो को बारबार के जन्म-मरण के दुःखो से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से बोधि प्राप्त करने के लिए की थी। समस्त देवो के इस प्रकार विनय करने पर बोधिसत्त्व ने घोषित किया कि अब बोधि प्राप्त करने के लिए मेरे मृत्युलोक मे अवतरित होने का उपयुक्त समय आ गया है और मैं बारह वर्षों के अनतर ऐसा

करूँगा।[1] जंबूद्वीप को उनके अवतरण के लिए तैयार करने के उद्देश्य से देवगण महापुरुषों के योग्य सातो रत्नों[2] सहित, ब्राह्मण आचार्यों के रूप में स्वय वेद पढाने के लिए पृथ्वी पर आए, जिनका अध्ययन महापुरुषो का विशेष लक्षण है। देवो ने बोधिसत्त्व के भावी अवतार की सूचना प्रत्येकबुद्धो को दे दी, क्योंकि जब सम्यक् सबुद्ध पृथ्वी पर प्रकट हो तो प्रत्येकबुद्धगण वहाँ नही रह सकते। सम्यक् सबुद्ध के भावी अवतार का समाचार सुनकर प्रत्येकबुद्धो ने ऋषिपत्तन-मृगदाव (वर्तमान सारनाथ, बनारस के निकट) में योगाग्नि के द्वारा अपने पवित्र मर्त्य शरीरो को त्याग दिया।

बारह वर्ष पूरे हो जाने पर, यह निश्चय करने के लिए कि उनके मनुष्य-जन्म ग्रहण करने के हेतु कौन-सा समय उपयुक्त होगा तथा कौन सा महाद्वीप, देश एव कुल उनके योग्य होगा, बोधिसत्त्व ने सपूर्ण पृथ्वी का परिवीक्षण किया।

उनके अवतरण के लिए सबसे उपयुक्त समय सृष्टि का अतिम युग था, जब कि चारो ओर लोग जन्म, जरा, रोग एव मृत्यु के दु खो से पीडित थे। सबसे उत्तम महादेश जबूद्वीप था, पूर्वविदेह, अपर गोदान वा उत्तर कुरु नही। सबसे उपयुक्त स्थान जबूद्वीप के प्रत्यत देश में नही, प्रत्युत उसके मध्य में स्थित एक नगर मे था। इस मध्य देश[3] की सीमा इस प्रकार बताई गई है—

१. तुलनीय मज्झिम०, ३, पृ० ११९—सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसित कायं उपज्जि, सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसिते काये अत्थासि सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसित काया चवित्वा मातु कुच्छि ओक्कमीति। 'अभिनिष्क्रमण सूत्र' मे यह वर्णन किया गया है कि तुषित भगवान् बोधिसत्त्व के मृत्युलोक में अवतरित होने के बारह वर्ष पूर्व उनके शरीर में जरा एव मृत्यु के पूर्व लक्षण प्रकट हुए।

२. सातो रत्न ये हैं—

(१) सपूर्ण पृथ्वी पर शासन करनेवाला चक्र (चक्र-रत्न)।
(२) अनत-शक्ति-सपन्न गजराज (हस्तिरत्न)।
(३) सर्वश्रेष्ठ अश्व (अश्व-रत्न)।
(४) रात को भी सूर्य का-सा प्रकाश फेंकनेवाला एक अत्यत दीप्तिमान् रत्न।
(५) एक परम रूपवती रानी (स्त्री-रत्न)।
(६) एक सुयोग्य अमात्य।
(७) एक अति बलवान् एव बुद्धिमान् सेनापति (परिणायक-रत्न)।

३. 'मज्झिम-देश', विनय १, पृ० १९७, जातक, १, पृ० ४९, ८०; दिव्यावदान (पृ० २१) में इसकी सीमा पूर्व की ओर इतनी दूर तक जाती है कि पुंड्रवर्धन उसके अंतर्गत आ जाता है।

पूर्व में कजगल नगर, जिसके आगे महासाल था, दक्षिण-पूर्व में सललवती नदी, दक्षिण-पश्चिम में सतकण्णिक, पश्चिम में थूण नाम का ब्राह्मणो का ग्राम , उत्तर में उसिरद्धज पर्वत।

बोधिसत्त्व के दिव्य जन्म के अनुरूप वही कुल हो सकता था जो उस काल की सर्वश्रेष्ठ जाति का हो, न कि चडाल, घरिकार, बढई, पुक्कुस या ऐसी किसी अन्य नीच जाति का। उस समय क्षत्रियो की जाति सबसे ऊँची मानी जाती थी, अत उन्होंने क्षत्रिय कुल मे जन्म लेने का निश्चय किया।

इसके अनतर देवगण विचार करने लगे कि सोलह राजकुलो और जनपदो में से कौन-सा उनके जन्म के लिए उत्तम होगा। उन्होने कोसल, वस, वैशाली, प्रद्योत, मथुरा के सुबाहु, हस्तिनापुर के पाडव, मिथिला के सुमित्र—इन सबकी परीक्षा की, परतु सबको किसी न किसी गुण से हीन पाया। तब एक धर्मवृद्ध बोधिसत्त्व ने उन्हें सुझाया कि केवल शाक्यकुल[1] ही एक ऐसा क्षत्रिय राजकुल है जो उनके जन्म से गौरवान्वित होने योग्य है, और बोधिसत्त्व ने इसका समर्थन किया।

१. शाक्यकुल की रक्तशुद्धता सिद्ध करने के लिये महावस्तु सृष्टि के आरभ तक जा पहुँचता है जब आदि राजा महासम्मत का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसके पुत्र-वश में शाक्यो की तथा कन्या-वश में कोलियो की उत्पत्ति हुई। बोधिसत्त्व की माता और पत्नी कोलिय वंश की ही थीं। कथा इस प्रकार है—

बहुत समय पहले न पृथ्वी थी और न सूर्य, चद्र और तारे थे। जीव केवल सूक्ष्म शरीरधारी थे, उनके स्थूल शरीर नहीं थे। इससे वे सर्वत्र विचरण करने में समर्थ थे। कालातर में वे निर्मल आत्माएँ पृथ्वी से उत्पन्न अन्न के लोभ के वशीभूत हो गईं और शनैः शनै. पृथ्वी, सूर्य, चंद्र और तारो से युक्त यह विश्व अस्तित्व में आया। उन आत्माओ के सूक्ष्म वा मानस शरीर लुप्त हो गए और उन्होने स्थूल भौतिक शरीर धारण किए। उनके लिए स्वत उत्पन्न अन्न की कमी न थी, परतु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, वे अधिक से अधिक सग्रह एव सचय करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप एक दूसरे का अन्न बिना उससे पूछे ले लेने लगे। इस प्रकार सभी लोग अधर्मी हो गये। तब वे सब एक स्थान पर इकट्ठे हुए और उन्होंने अपने लिये एक नेता चुना जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अन्न के खेतों की सीमाएँ निश्चित कर दे। इस प्रकार सबके द्वारा चुने जाने के कारण वह नेता 'महासम्मत' कहलाया। वह राजा एव पिता के समान सबका परिपालक बना। सर्वास्तिवाद विनय में कहा गया है कि इस राजा ने मथुरा के पास अपना सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) स्थापित किया (गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३,

वोधिसत्त्व ने तव तुषित देवो को 'धर्मालोक' नाम के उपदेश दिए, जिनमें धर्म के समस्त मूलभूत तत्त्वों का निरूपण किया गया था। फिर उन्होंने अपने वियोग से शोकाकुल तुषित देवो का शोक दूर करने तथा धार्मिक विषयो में उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए मैत्रेय वोधिसत्त्व को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया।

तव देवगण यह विचार करने लगे कि वोधिसत्त्व का किस रूप में अपनी माता के गर्भ में प्रवेश करना उचित होगा, और इस परिणाम पर पहुँचे कि मांसल शरीर, लाल मस्तक तथा छ दाँतोवाले श्वेत हाथी के रूप में प्रवेश करना सवसे अच्छा होगा, क्योकि फलित ज्योतिष के ग्रथो मे इसका फल यह वताया गया था कि इससे वत्तीस लक्षणो से युक्त एक महान् पुरुष का जन्म होगा। शाक्यो के देश में वुद्ध के जन्म लेने के पहले, मानो उनके जन्म की पूर्वसूचना देने के लिए, देश वृक्षो, लताओ और पुष्पो से परिपूर्ण हो गया, जिनपर पक्षी कलरव करने और भ्रमर गुंजारने लगे तथा सभी

भाग ४)। उसके वाद वहुत से राजा हुए, जिनमें अंतिम इक्ष्वाकुवशी सुजात था। उसकी राजधानी साकेत थी। उसके पाँच पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं, तथा जेन्त नाम का एक पुत्र एक रखेली के गर्भ से था। उस रखेली से राजा इतना प्रसन्न था कि वह अपने इच्छानुसार जो कोई भी वर माँगे उसे देने का उसने वचन दे दिया। फलतः उसने यह वर माँगा कि उसका पुत्र जेन्त युवराज वनाया जाय और राजा के औरस पुत्र निर्वासित कर दिए जायें। राजा को अपनी इच्छा के विरुद्ध उसे यह वर देना स्वीकार करना पड़ा, परतु उसने अपनी प्रजा को अपने सुयोग्य निर्वासित पुत्रो के साथ जाने की अनुमति दे दी तथा उन पुत्रो की यात्रा के लिए समस्त आवश्यक वस्तुओ का समायोजन कर दिया। उन सवने शाक्य-देश छोड़ दिया; हिमालय की तराई में जाकर एक स्थान अपने रहने के लिए चुना, जहाँ कपिल मुनि का आश्रम था। अपने कुल की शुद्धता की रक्षा के लिए उन राजपुत्रों ने अपनी सौतेली वहिनो से विवाह कर लिया, जिसे ब्राह्मणो ने वहुत अनुचित समझा। उनकी संतान 'शाक्य' कहलाई। पाँचो भाइयो में जो ज्येष्ठ था उसके वश में शुद्धोदन हुआ। एक भाई के एक अत्यंत रूपवती कन्या थी, परतु उसे कुष्ठ हो गया था; इस कारण वह वहुत दिनो तक वन के भीतर एक गुफा में रखी गई और वहीं उसे भोजन पहुँचाया जाता रहा। कालातर में एक वाघ ने धरती को खुरचकर वहुत सी मिट्टी गुफा के द्वार पर इकट्ठी कर दी जिससे गुफा वंद हो गई। राजर्षि कोल ने राजकुमारी को देखा और उन्होंने उसे पत्नी-रूप में ग्रहण किया। उसके अनेक पुत्र हुए, जिनकी संतान 'कोलिय' कहलाई और उस गुफा का स्थान 'व्यग्घपज्ज' नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि एक व्याघ्र ने उसका पता लगाया था।

प्रकार के भोज्य पदार्थों एव फलो की भी प्रचुरता हो गई। रानी महामाया ने स्नान करके शरीर मे सुगधित पदार्थों का लेप किया और रत्न-अलकार धारण किए। वह अपनी सखियो के सग राजा शुद्धोदन के पास गई और सिंहासन पर अपना नियत स्थान ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसने राजा से प्रार्थना की कि 'हे आर्य, आप मुझे अनुमति दें कि मैं एक सप्ताह तक प्रेम एव परोपकार से युक्त अष्टाग धर्म का पालन करते हुए ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करूँ और उतने समय तक मेरे पास केवल मेरी सखियाँ, रक्षिकाएँ तथा परिचारिकाएँ ही रहें।' उसने राजा से बदियो को मुक्त कर देने तथा सप्ताह भर दान-पुण्य करते रहने की भी प्रार्थना की। राजा ने सहर्ष उसकी सभी प्रार्थनाएँ स्वीकार कर लीं और उसकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए राजकीय आदेश निर्गत कर दिए।

अब देवगण आपस मे विचार करने लगे कि बोधिसत्त्व के गृह-जीवन, सन्यास, मार-विजय तथा बोधि-प्राप्ति के समय उनपर दृष्टि रखते हुए हमें किस प्रकार उनकी सेवा करनी चाहिए। देवागनाओ को बडा कुतूहल होने लगा कि उस स्त्री की गढन और सुदरता किस प्रकार की होगी जो उस तेजस्वी महापुरुष को अपने गर्भ में धारण करेगी। जब महामाया राजप्रासाद में अपनी सखियो के साथ सोई हुई थी उस समय अप्सराओ से घिरी हुई एक देवी का-सा उसका सुदर रूप देखकर वे सब देवागनाएँ मुग्ध हो गईं। जिस समय बोधिसत्त्व अपने सिंहासन सहित तुषित स्वर्ग को छोडने के लिये उद्यत हुए उस समय उनके शरीर से ऐसा तेज प्रस्फुटित होने लगा कि उससे समस्त विश्व उद्भासित हो उठा, पृथ्वी बारबार कपित होने लगी तथा समस्त जीव रोग, शोक और दुःख को भूलकर आनद में मग्न हो गए। अप्सराएँ उनकी स्तुति करने तथा उनके उस घोर त्याग-तप की प्रशसा करने लगी जो उन्होंने पूर्वजन्मो में पारमिताओ (दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा) की सिद्धि के लिए किया था।

बोधिसत्त्व का मर्त्यलोक मे आगमन

वैशाख मास के पुष्य नक्षत्र मे बोधिसत्त्व ने एक हाथी के रूप में दक्षिण पार्श्व से अपनी माता के गर्भ में प्रवेश किया। जिस समय वे गर्भ मे प्रविष्ट होने लगे उस समय पृथ्वी कपित होने लगी और समस्त विश्व एक दिव्य आलोक से देदीप्यमान हो उठा। इस आलोक की किरणें उन नारकीय जीवो तक भी पहुँची जो सदा अधकार में ही निवास करते और सूर्य-चद्र का दर्शन कभी नही कर पाते थे। प्रातःकाल रानी अपने शयन-कक्ष मे बाहर निकली और अशोक-कुज मे जाकर आसन ग्रहण किया। उसने राजा

को सदेश भेजा कि वे वहाँ आकर उसे दर्शन दें। जब राजा अपने मन्त्रियो और पारिपदो सहित रानी के समीप जाने लगे तो उनके मन तथा शरीर में ऐसा अनुभव होने लगा जैसे वे एक बडे महान् व्यक्ति से मिलने जा रहे हो। देवो ने उन्हें बोधिसत्त्व के आगमन की सूचना दी और उनसे स्वप्नो का फल बतानेवाले विद्वान् ब्राह्मणो को बुलवाने की प्रार्थना की। ब्राह्मण लोग यथाविधि निमन्त्रित किए गए और उन्होने स्वप्न का फल विचार कर बतलाया कि रानी के गर्भ से एक चक्रवर्ती अथवा सम्यक्-सबुद्ध का जन्म होगा। बोधिसत्त्व के गर्भस्थिति-काल के दस महीनो में चार देव निरतर उनकी माता की रक्षा करते रहे।

बोधिसत्त्व ने रानी के गर्भ में दस महीने एक रत्नजटित मजूषा के भीतर रहकर व्यतीत किए, जिससे वे गर्भ के मलो से सर्वथा अस्पृष्ट रहे।[1] उनकी माता महामाया भी सदा सुख से रही, कभी किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नही किया। बोधिसत्त्व अपने भोजन के लिए पौष्टिक तत्त्व माता के स्तनो से न लेकर एक कमल पुष्प से प्राप्त होनेवाले मधु से लेते थे, जिसकी नाल की लबाई तालवृक्ष की सातगुनी थी। बोधिसत्त्व मजूषा के भीतर आसीन होकर देवो तथा अन्य देव-योनिधारियो को उपदेश दिया करते थे। पृथ्वी पर के समस्त जीव सब प्रकार की आधि-व्याधियो से मुक्ति पाकर आनदित हो गए। बोधिसत्त्व की माता के स्पर्श मात्र से लोगो का रोग-दुःख दूर हो जाता था।

बोधिसत्त्व की माता अपने मन पर पूर्ण सयम रखकर एक शुद्ध ब्रह्मचारिणी का जीवन व्यतीत करती थी। कोई भी पुरुष अपनी कामुक दृष्टि उनकी ओर नही डालता था, न वे ही किसी पुरुष का दर्शन करती थी। जब स्वप्न के अनतर दस महीने व्यतीत हो गए तो रानी ने अनुभव किया कि अब उस महापुरुष के जन्म का समय आ गया है। अत उन्होने राजा के निकट जाकर प्रार्थना की—'अब वसत ऋतु का आगमन हो गया है, वृक्ष पुष्पो से लदे हुए हैं, पक्षी सर्वत्र कलरव कर रहे हैं, और चारो ओर पराग उड रही है, अत मुझे उपवन में जाने की अनुमति दी जाय।' राजा को बहुत दिनो तक विनय के नियमो का पालन करते रहने के कारण विश्राम की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी, और रानी भी दस महीनो तक भगवान् बोधिसत्त्व को धारण करने के कारण थकान का अनुभव कर रही थी। रानी की इच्छा पूर्ण करने के लिए उन्होने तुरत आदेश निकाल दिए कि नगर के पथो, वीथियो और उद्यानो की सजावट की जाय, और अपने सेवको

१. आनंद के प्रश्न करने पर कि स्त्रियों से विरक्ति रखनेवाले बुद्ध किस प्रकार एक स्त्री के गर्भ में रह सके, बुद्ध ने ही उक्त रहस्य को प्रकट किया था।

को आज्ञा दी कि वे उनका रथ भी खूब सजाकर तैयार रक्खे । रानी महामाया की लुबिनी वन की यात्रा के लिए एक वृहत् समारोह का आयोजन किया गया । उस समय देव और अप्सराएँ भी झुड की झुड स्वर्ग से उतर आईं और दिव्य मगल-सगीत तथा स्वर्गीय पुष्पो की वर्षा से उन्होने उस समारोह को अपूर्व शोभा प्रदान की ।

वन में पहुँचकर रानी बहुत प्रसन्न हुईं और उन्हें बडा सुख मिला । वह वृक्षो की शोभा निरखती और उनके कोमल स्पर्श का सुखद अनुभव करती हुई उनके बीच इधर उधर टहलने लगी । प्लक्ष तरु की एक शाखा झुककर रानी के हाथो में आ गई । जब वह अपने दाहिने हाथ से उस शाखा को पकडे हुए खडी थी उसी समय बोधिसत्त्व उनकी दाहिनी ओर से धरती पर उतर पडे । उनका शरीर स्वच्छ था, गर्भ का मल उन्हें छू भी नही गया था । उस महान् आत्मा को मनुष्य के हाथो का स्पर्श नही लगना चाहिए, इसलिए देवगण तुरत उस स्थल पर पहुँचे और बडे आदर और श्रद्धा के साथ शिशु को रेशमी वस्त्रो में ले लिया । पृथ्वी में से एक कमल-पुष्प निकल पडा और नागराज नदोपनद ने दो स्रोत—एक उष्ण जल और एक शीतल जलवाला—प्रस्तुत किए, जिनमें बोधिसत्त्व और उनकी माता को स्नान कराया गया । शिशु सात पद चला और प्रत्येक पद पर छ दिशाओ में से प्रत्येक में एक कमल उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ यह था कि बोधिसत्त्व छहो दिशाओ के देहधारियो में सर्वश्रेष्ठ होगे ।[1] उस समय वहाँ प्रत्येक वस्तु की प्रचुरता थी, इस कारण उनका नाम 'सिद्धार्थ गौतम' रक्खा गया ।

बोधिसत्त्व के जन्म के साथ-साथ विभिन्न शाक्य-कुलो मे आनद, देवदत्त, अनिरुद्ध, छदक इत्यादि अनेक पुत्रो और पुत्रियो का जन्म हुआ ।

लुबिनी वन में सात दिनो तक देवगण तथा उनकी देवियाँ बोधिसत्त्व की पूजा करती रही एव शाक्य लोग जी-भर दान करते रहे । परतु सातवें दिन रानी महामाया ने समस्त एकत्र समाज को असह्य शोकसागर मे मग्न कर इस क्षणभगुर ससार को त्याग त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को प्रस्थान किया जहाँ उनका जन्म एक परम रूप-गुणवती देवी के रूप में हुआ ।

इसके अनतर राजा ने बोधिसत्त्व को कपिलवस्तु नगर में लाने के लिए बडी धूम-

१ मज्झिम ३, पृ० १२३ में यह भी लिखा है कि बोधिसत्त्व केवल सात पद चले ही नहीं, अपितु उन्होने इन शब्दो का उच्चारण किया—"अग्गोह अस्मि लोकस्स, सेट्ठोह अस्मि लोकस्स, जेट्ठोह अस्मि लोकस्स, अय अन्तिमा जाति न अत्थि दानि पुनब्भवो ति ।"

धाम से तैयारियाँ की। इस समारोह की शोभा रानीमहा माया की पिछली लुंबिनी-यात्रा के उत्सव से हजारो गुना अधिक थी। एक सौ शाक्यो ने अपनी श्रद्धा और प्रेम को व्यक्त करने के लिए अपने एक सौ प्रासाद बोधिसत्त्व के निमित्त अर्पित किए और प्रत्येक ने प्रार्थना की कि बोधिसत्त्व उसके प्रासाद में रहें। उन सभी शाक्यो को सतुष्ट करने के लिए राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व को एक-एक दिन प्रत्येक प्रासाद मे रक्खा और इस प्रकार चार मास व्यतीत हो गए। अत में बोधिसत्त्व राजप्रासाद मे ले जाए गए, जहाँ वयोवृद्ध शाक्यो द्वारा उनका यथाविधि अत्यत भव्य स्वागत किया गया। इसके अनतर उन सबने भली भाँति सोच-विचारकर बोधिसत्त्व के पालन-पोषण का प्रबध उनकी मातृष्वसा महाप्रजापति गौतमी की देखरेख में कर दिया।

ऋषि असित

उन दिनो हिमालय पर्वत मे तपस्वियो में श्रेष्ठ असित ऋषि निवास करते थे, जिन्हें पाँचो दिव्य शक्तियाँ (अभिज्ञा) प्राप्त थी।[1] अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा उन्होंने महात्मा बोधिसत्त्व के जन्म को देख लिया और उनके वदन के हेतु वे अपने भ्रातृज नरदत्त (अपर नाम नालक) सहित आकाश-मार्ग से उडकर कपिलवस्तु पधारे।

राजा ने उनका यथोचित स्वागत एव आदर-सत्कार किया और ऋषि ने राजा को राजकुमार के जन्म की बधाई देते हुए शिशु के दर्शनो के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। राजा ने यह सोचकर कि अभी राजकुमार शयन कर रहे हैं, ऋषि से उनके जागने तक प्रतीक्षा करने की प्रार्थना की। ऋषि ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि ऐसे महापुरुष बहुत देर तक नही सोया करते और प्राय जागते ही रहते है। तब वे शिशु के निकट ले जाए गए और उन्होने राजकुमार के बत्तीस लक्षणो[2] को देखकर कहा कि ये इस बात के सूचक हैं कि इन लक्षणो को धारण करनेवाला चक्रवर्ती राजा अथवा सन्यासी, तथागत वा सम्यक् सबुद्ध होगा। ऋषि के नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, जिसे देख

१. दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वनिवासज्ञान और ऋद्धिविद्धिज्ञान (=ध्यान के द्वारा साधारण आँख-कान की पहुँच के बाहर की बातें देखना और सुनना, दूसरों के मन की बात जान लेना, अपने पूर्व जन्म की बातो का स्मरण, और अलौकिक शक्तियो की प्राप्ति)।

२. तीस मुख्य तथा आठ गौण लक्षणों के लिए द्रष्टव्य—ललित विस्तर, पृ० १२०-२; महावस्तु लक्खनसुत्त (दीघ, ३)।

राजा वडे अधीर हुए और उन्होने उनसे उनके नेत्रो से आँसू निकलने का कारण पूछा। तव असित ऋषि ने राजा को समझाया कि मेरे शोक का कारण यह नही है कि राजकुमार के सवध में कोई अशुभ घटना घटने की आशका है, प्रत्युत मुझे यह सोचकर दु ख हुआ कि जव यह शिशु वडा होकर जन्म-मरण के चक्र एव दु खो के वधन से जीवो को मुक्त करने के लिए सत्यधर्म का उपदेश करेगा उस समय तक मैं जीवित न रहूँगा। ऋषि के इस वचन को सुनकर राजा आश्वस्त हुए और शिशु की वदना की। तत्पश्चात् ऋषि ने अपने भतीजे को शिशु बोधिसत्त्व के वडे होकर बुद्ध हो जाने पर उनका शिष्य बन जाने का आदेश दिया। फिर देवगण भी शुद्धोदन के राजप्रासाद में आए और उन्होने मनुष्यो के नेत्रो से अदृश्य रहकर वोधिसत्त्व की वदना की।

वालक सिद्धार्थ

शाक्यकुल की रीति के अनुसार महाप्रजापति गौतमी नवजात शिशु को देवमदिर मे ले गईं। इसपर शिशु के मुख पर मुस्कराहट झलक उठी। उसके मन में यह भाव आया कि मैं तो स्वय देवाधिदेव हूँ, मैं मदिर के देव को क्या नमस्कार करूँगा! इसके पश्चात् ऐसी घटना घटी कि ज्योही शिशु मदिर में ले जाया गया त्योही उसके भीतर की सव मूर्तियाँ यकायक सजीव-सी हो उठी और शिशु का अभिवादन करने के लिए झुक गईं। यह देखकर साथ में आए हुए सभी लोग आश्चर्य-चकित रह गए।

इसके उपरात राजपुरोहित ने राजा को यह परामर्श दिया कि शिशु के लिए रीत्यनुसार आभूपण बनवा लिए जायँ। राजा ने भद्रिक शाक्यराज से सव आभूषण तैयार करा लिए, परतु जब वे शिशु के शरीर पर पहिनाए गए तो उनकी चमक जाती रही। साथ ही वहाँ जो अन्य शिशु लाए गए थे उनके शरीर पर के आभूपणो की भी वही दशा हुई।

जव शिशु वोधिसत्त्व कुछ वडे हुए तो विधिपूर्वक उनका विद्यारभ सस्कार किया गया और शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें पाठशाला में ले जाया गया। उनके शिक्षक गुरु विश्वामित्र थे, जो वोधिसत्त्व का दर्शन होते ही उनके तेज से ऐसे अभिभूत हुए कि मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडे। जव वे पुन स्वस्थ हुए तो वोधिसत्त्व ने उनसे पूछा कि मुझे यहाँ कौन सी लिपि पढाई जायगी—ब्राह्मी या खरोष्ठी, अथवा पुष्करसारी, अग, वग, मगव, शाकरी, ब्रह्मावर्ती, द्राविडी, किन्नरी, दक्षिण, उग्र, दरद, खस, चीन किंवा हूण? यह सुन विश्वामित्र किंकर्त्तव्यविमूढ हो गए और उनसे कुछ उत्तर

देते न बना। तब बोधिसत्त्व के सब सहपाठियो ने अक्षर सीखना आरभ किया, जिन्हें वे उनके प्रभाव से इस प्रकार पढते थे —

अ=अनित्य
आ=आत्म-पर-हित
इ=इद्रिय-वैपुल्य
ई=ईतिबहुल जगत्
उ=उपद्रवबहुल जगत्
ऊ=ऊनसत्त्व
ए=एषणा-समुत्थान दोष
ऐ=ऐरपथ श्रेयान्
ओ=ओघोत्तर
औ=औपपादुक

इत्यादि।

जब बोधिसत्त्व कुछ और बडे हुए तो अपने सखागण के साथ वे एक दिन एक गाँव में खेतो की जुताई देखने के लिए गए।[1] वहाँ वे एक जबूवृक्ष के नीचे एकात स्थान पाकर वही बैठ गए और सासारिक जीवन की कठिनाइयो पर विचार करते-करते ध्यानमग्न होकर ध्यान की चतुर्थ भूमिका पर पहुँच गए। उस समय दिव्य-शक्ति-सपन्न पाँच ऋषि आकाश में उडे जा रहे थे। जब वे उस जबूवृक्ष के ऊपर होकर जाने लगे तो अचानक उनकी गति अवरुद्ध हो गई। उन्हें बडा आश्चर्य हुआ और जब उन्होने नीचे देखा तो वहाँ बोधिसत्त्व को ध्यान में मग्न बैठे हुए पाया। वे नीचे धरती पर उतर पडे और यथोचित शब्दो मे उनकी वदना की। उनको ढूँढते-ढूँढते राजा शुद्धोदन वहाँ पहुँचे तो उन्हें ध्यानावस्थित देखकर उन्होने तुरत अपने राजचिह्न उतार दिए और उन्हें हाथ जोडकर नमस्कार किया।

सिद्धार्थ का विवाह

जब बोधिसत्त्व युवा हुए तो सब शाक्यो ने सभा की और राजा शुद्धोदन से निवेदन किया कि अब राजकुमार का विवाह कर दिया जाय। यद्यपि बोधिसत्त्व की इच्छा किसी भी प्रकार के सासारिक बधनो में पडने के विरुद्ध थी, परंतु उन्होने इस उद्देश्य से विवाह करना स्वीकार कर लिया कि इसके द्वारा लोक को यह विश्वास कराया जा सकेगा कि मनुष्य सासारिक विलासो में डूबे रहकर भी उसी प्रकार उनसे ऊपर उठ सकता है जैसे पक मे उत्पन्न एक कमल का पुष्प जल के ऊपर उठ जाता है।

१. पाली अनुश्रुतियों के अनुसार यह समय खेतों की जुताई के आरभ का था। इस अवसर पर यह रीति थी कि राजा स्वयं हल की मूँठ पर हाथ रखकर इस कार्य को विधिपूर्वक आरभ करता था, जो कृषि के लिए शुभ समझा जाता था। राजकुमार इसी अवसर पर राजा के साथ गए थे।

उन्हे यह भी ज्ञात था कि पूर्व काल के बोधिसत्त्वो ने भी अपना विवाह किया था। अत उन्होने अपने विवाह के लिए कन्या में जो-जो गुण होने चाहिए उन्हे निश्चित कर वतला दिया। राजपुरोहित राजकुमार के लिए कन्या की खोज में अनेक स्थानो में गए और अत में उन्होने दडपाणि की कन्या को वैसे ही स्वभाव और उन्ही सब गुणो से सपन्न पाया जिन्हें बोधिसत्त्व चाहते थे। परतु राजा ने यह अधिक अच्छा समझा कि स्वय बोधिसत्त्व को ही अपने लिए कन्या-वरण करने का सुअवसर दिया जाय। अत उन्होने सभी विवाह योग्य शाक्य कन्याओ को बोधिसत्त्व के हाथो से बहुमूल्य धातुओ के पुष्पो की भेंट ग्रहण करने के लिए राजप्रासाद मे निमत्रित किया। निमत्रण देने के सातवें दिन शाक्य-कन्याएँ प्रासाद में एकत्र हुई। बोधिसत्त्व के सौंदर्य और तेज से उनके नेत्र चौंधिया गए। केवल दडपाणि की पुत्री गोपा ही उनके तेज को सहन करने में समर्थ हुई और राजकुमार के रूप को निहारती हुई कुछ दूर पर खडी रही। जब राजकुमार के निकट जाने की उसकी वारी आई तो वह चुपचाप उनकी ओर बढी और उसे केवल सर्वोत्तम पुष्प ही नही मिले, राजकुमार की बहुमूल्य अँगूठी भी प्राप्त हुई। वहाँ उपस्थित सभी लोगो को विदित हो गया कि राजकुमार ने गोपा को वरण किया है। गुप्त रूप से वहाँ भेजे गए राजा के दूतो ने भी इसे लक्ष्य किया और वे राजा को यह समाचार देने के लिए दौडे।

इसके पश्चात् राजा शुद्धोदन ने दडपाणि के पास राजपुत्र के विवाह का प्रस्ताव भेजा, परतु राजकुमार का पालन-पोषण राजप्रासाद के विलासमय वातावरण में होने के कारण दडपाणि कुछ असमजस में पड गए और उन्होने उनके सामर्थ्य और गुणो के विषय मे पूछताछ की। इसपर राजा कुछ निराश-से हो गये, क्योकि उन्होने सोचा कि सभव है राजकुमार की शक्ति और योग्यता के विषय में दडपाणि का सदेह साधार हो। राजा का विषाद देखकर राजकुमार ने उन्हे सूचित किया कि मैं कला, शिल्प, रणकौशल अथवा वाहुवल के प्रदर्शन में किसी से भी प्रतियोगिता कर सकता हूँ, तब राजा आश्वस्त हुए। राजकुमार ने राजा से प्रार्थना की कि सभी शाक्य युवको को अपना-अपना कौशल प्रदर्शित करने का अवसर देने के लिए उपयुक्त आयोजन किया जाय। राजा ने सहर्ष इसे स्वीकार कर लिया और प्रदर्शन के लिए आवश्यक तैयारियाँ कराई तथा समस्त शाक्य युवको को उसमे सम्मिलित होकर भाग लेने के लिए निमत्रित किया। इस प्रदर्शन मे इन विषयो में प्रतियोगिता का आयोजन किया गया—(१) एक हाथी का शव उठाकर दूर फेंकना, (२) लिपियो का ज्ञान प्रदर्शित करना, जिसके लिए निर्णायक विश्वामित्र चुने गए, (३) गणित के प्रश्नो को शीघ्र और शुद्ध-शुद्ध हल करना, जिसके लिए निर्णायक थे गणना-

विशारद अर्जुन, (५) बाण चलाना (जिसके लिए राजकुमार ने अपने पूर्वज सिंहहनु का भारी धनुष लिया), (६) मल्लयुद्ध, (७) संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओ में वैशिष्ट्य, (८) काव्यो और ग्रथो की रचना, (९) ज्योतिष तथा अन्य शास्त्रो का ज्ञान, और (१०) वेद आदि ब्राह्मण साहित्य तथा तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन एव राजनीति का ज्ञान।

यह घोषणा की गई कि जो व्यक्ति इन सब प्रतियोगिताओ में विजयी होगा उसी से गोपा का विवाह होगा। गोपा भी जयपताका लिए हुए वहाँ उपस्थित थी और प्रदर्शन देख रही थी। देवदत्त, सुदरानद तथा अन्य अनेक शाक्य युवक सभी अपने को सबसे योग्य सिद्ध करने के लिए परस्पर होड कर रहे थे। परतु राजकुमार के सामने सबको नीचा देखना पडा। यहाँ तक कि राजकुमार की गणना-शक्ति को देखकर गणना के पडित अर्जुन को भी मन ही मन उनकी विशिष्टता से पराभव का अनुभव करना पडा। यत राजकुमार सभी प्रतियोगिताओ में विजयी सिद्ध हुए, अतएव दडपाणि ने परम हर्षपूर्वक गोपा का विवाह उनके साथ कर दिया।

कुछ काल तक बोधिसत्त्व ने गोपा के साथ आनदपूर्वक पारिवारिक जीवन व्यतीत किया। परतु उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सासारिक जीवन से विरत होने में बोधिसत्त्व को विलब करते देख देवगण अधीर हो उठे। अत वे बडे विनय के साथ उनके निकट जा उपस्थित हुए और उन्हें उनके अनेक पूर्वजन्मो का स्मरण कराया जिनमें उन्होंने जीवो के कल्याण के लिए तथा पुण्यार्जन एव छ पारमिताओ की सिद्धि के लिए घोर तप एव त्याग किए थे। देवो ने उन्हें सासारिक जीवो को जन्म, जरा, रोग एव मृत्यु के दुखो से मुक्त करने के लिए की गई उनकी पूर्व प्रतिज्ञाओ का भी स्मरण कराया। यद्यपि बोधिसत्त्व को किसी अन्य के परामर्श या पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नही थी तथापि देवो और अप्सराओ ने उनके सम्मुख कुछ ऐसी गाथाओ का पाठ किया जिनमें यह प्रतिपादन किया गया था कि ससार का अस्तित्व स्वप्नवत् अस्थिर है, सासारिक सुख मल-पात्र के सदृश बीभत्स एव सर्पों से भरे जलाशय के समान भयानक है तथा ससार के समस्त दृश्य पदार्थ गुफा में हुई प्रतिध्वनि के समान, या जल मे चद्रमा के प्रतिबिंब के समान, अथवा रगमच पर अभिनय करनेवाले नटो के समान निस्सार है। उन्होंने और भी गाथाएँ पढी जिनका भाव यह था कि यह भौतिक जगत् एक निर्वाणोन्मुख दीपशिखा के समान या कुछ निमित्त एव उपादानो—यथा मनुष्य के प्रयत्न और मूंज—से बनी हुई रस्सी के समान अथवा मनुष्य के प्रयत्न एव ईंधन (जिनमें स्वत अग्नि का कोई चिह्न नही है) से

प्रस्तुत की गई अग्नि के सदृश है। उनके द्वारा पठित अन्य गाथाओ का आशय यह था कि जीवो का बारबार जन्म एक निरतर घूमनेवाले चक्र के समान अथवा बीज से अकुर और फिर अकुर से बीज की उत्पत्ति के सदृश है, जिसका कही आदि या अत नही। और सासारिक सत्ताओ का कारण सत्य का अज्ञान (अविद्या) है, परतु स्वय उन सत्ताओ मे अज्ञान की सत्ता नही है, जिस प्रकार कि मुद्रा से छाप तो बन जाती है, परतु उस छाप में मुद्रा का अस्तित्व नही है। आँखो से रूप दिखाई पडते हैं, परतु आँखो के भीतर रूप का अस्तित्व नही है। यह ससार मिथ्या (शून्य), अल्पस्थायी (क्षणिक) एव प्रतिध्वनि के समान (प्रतिश्रुत्कोपम) है। यह जन्म, जरा, रोग एव मत्यु-जनित दु खो से भरा हुआ है।

बोधिसत्त्व को पुन पुन ऐहिक सुखो की निस्सारता एव गृहस्थ-जीवन से निवृत्ति की श्रेष्ठता का स्मरण कराया गया।

जिस रात को देवगण तथा अप्सराएँ गाथाओ का गान कर रही थी उसी रात में राजा शुद्धोदन ने स्वप्न देखा कि उनका पुत्र देवो के मध्य, पीले वस्त्र धारण किए हुए, राजप्रासाद छोडने को उद्यत है। वे अपनी शय्या से उठे और चिंतित होकर अपने पुत्र के विषय में पूछताछ करने लगे। यह सूचना पाकर कि राजकुमार अपने शयनकक्ष में सोए हुए हैं, उनकी चिंता दूर हुई, परतु उन्होने राजकुमार के लिए आमोद-प्रमोद के अधिक से अधिक साधनो का प्रबध करा दिया और राजप्रासाद की सुरक्षा के लिए बहुत भारी फाटक लगवा दिए, जो सैकडो रक्षको द्वारा मिलकर खोले और बद किए जा सकते थे।

चार दृश्य

दूसरे दिन प्रात काल राजकुमार ने वन-विहार के लिए बाहर जाने की इच्छा प्रकट की और अपने सारथी को आज्ञा दी कि रथ प्रस्तुत करे। जब राजा को राजकुमार की इस इच्छा की सूचना मिली तब उन्होने राजकुमार से एक सप्ताह प्रतीक्षा करने के लिए कहा। उन सात दिनो के भीतर राजा ने इस बात की पूरी सावधानी रखने के लिए प्रबधको को भली भाँति सहेज दिया कि राजकुमार के सामने किसी भी प्रकार का कोई अप्रिय दृश्य न आने पाए। जब नगर भली भाँति स्वच्छ करके सजा दिया गया तो सारथी राजकुमार को रथ पर बैठाकर विहार के लिए ले चला। जब वे नगर में से जा रहे थे, उसी समय देवो ने एक वृद्ध पुरुष को प्रस्तुत किया जिसके चमडे पर झुर्रियाँ पडी हुई थीं, जिसके बाल पक गए थे, जो दतहीन और कुबडा था और एक लठिया के सहारे चल रहा था। उन्होने उसे केवल राजकुमार और उनके सारथी के दृष्टि-पथ में उपस्थित किया। राजकुमार ने सारथी से उस वृद्ध के विषय में पूछा

और उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रत्येक मनुष्य की एक दिन यही गति होगी। उस दृश्य से उनका मन बहुत विचलित हो गया और वे प्रासाद में लौट आए। जब राजा ने राजकुमार के इतने शीघ्र लौट आने का कारण पूछा तो सारथी ने उस वृद्ध पुरुष के, तथा उसे देखकर राजकुमार के मन पर जो प्रभाव पडा उसके, विषय में उन्हें सब बातें बतला दीं। राजा ने और अधिक सतर्कता रखने की आज्ञा दी, परतु दूसरे दिन जाने पर राजकुमार और सारथी ने एक ऐसे पुरुष को देखा जो ज्वर से पीडित होकर कराह रहा था और अपने ही मूत्र और विष्ठा में लपेटा हुआ था। पहले दिन की भाँति उस दिन भी उन्हे सारथी से ज्ञात हुआ कि एक दिन सबकी वैसी ही गति होनेवाली है, और वे प्रासाद में लौट आए। तीसरे दिन राजकुमार और सारथी ने कुछ लोगो को एक मृत मनुष्य का शव अर्थी पर श्मशान की ओर ले जाते हुए देखा, जिसके कुटुबी उसके लिए रो-पीट रहे थे। राजकुमार को फिर उसी प्रकार बताया गया कि प्रत्येक मनुष्य की एक न एक दिन मृत्यु होती है, तब उनको विहार के लिए जाने की इच्छा नही रह गई। चौथे दिन उन्होंने पीला वस्त्र धारण किए हुए एक शात पुरुष को देखा, जिसने अपनी इद्रियाँ वश में कर ली थी और जो हाथ में भिक्षापात्र लिए धीर गति से जा रहा था। सारथी से पूछने पर राजकुमार को विदित हुआ कि वह पुरुष अपने गृहस्थ जीवन को त्याग कर सन्यासी हो गया है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की साधना कर रहा है। राजकुमार को यह सोचकर बडा हर्ष हुआ कि मै भी एक दिन सन्यास लेकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त करूँगा। उस दिन उन्होने वन में जाकर खूब जी भरकर आनद मनाया। जब वे प्रमोदवन में इस प्रकार आनद में रम रहे थे, उसी समय राजा के दूतो ने आकर उन्हें यह समाचार दिया कि राजकुमार के पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस समाचार को सुनकर राजकुमार को बहुत प्रसन्नता नही हुई। उन्हें भय हुआ कि कही इससे उनके सासारिक जीवन से निवृत्त होने के उद्देश्य में विघ्न न पडे, अत उनके मुख से निकला—'राहुलो जातो', अर्थात् एक विघ्न उत्पन्न हुआ। राजा ने राजकुमार के मुख से निकले हुए इन शब्दो की सूचना पाकर नवजात शिशु का नाम 'राहुल' रक्खा। जब राजकुमार राजकुलोचित बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण किए हुए प्रासाद को लौट रहे थे तो मार्ग में उनके एक दूर के सबधवाली स्त्री कृशा गौतमी से उनकी भेट हो गई, जिसने निम्नलिखित छद कहा—

निब्बुता नून सा माता
निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी
यस्स य इदिसो पति॥

(सुखी है अवश्य ही वह माता जिसका ऐसा पुत्र है, सुखी है निश्चय ही वह पिता भी। सुखी है निश्चय ही वह नारी भी, जिसका ऐसा पति है।)

इस छद का 'निब्बुत' शब्द राजकुमार को लग गया और उससे उन्होने शाति और गभीरता का आशय ग्रहण किया। वे इस शब्द से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने अपना रत्नो का कठहार उतारकर कृशा गौतमी के पास भेट के रूप मे भेज दिया। परतु कृशा गौतमी ने उससे यह समझा कि राजकुमार उसके ऊपर रीझ गए है। राजकुमार प्रासाद मे लौट आए और सगीत-निपुण नारियाँ उन्हें राग-रग से रिझाने लगी, परतु उसमे उनका मन तनिक भी नही लगा।

राजकुमार यह सोचकर कि पिता की सहमति के विना सन्यास लेना अनुचित होगा, प्रात काल सूर्योदय के पूर्व ही राजा के निकट उपस्थित हुए। राजकुमार के शरीर से निकलनेवाली ज्योति की किरणो से प्रासाद आलोकित हो उठा जिससे राजा वडे चकित हुए। वोधिसत्त्व ने गृहस्थ जीवन को त्यागने के लिए राजा से अनुमति माँगी, परतु जब उन्होने राजकुमार के इस विचार का विरोध किया तो राजकुमार ने उनसे निवेदन किया कि यदि आप मुझे ये चार वरदान दे कि मै वृद्ध न होऊँ, कभी वीमार न होऊँ, मेरी मृत्यु न हो, न मुझे पुन जन्म लेना पडे, तो मै सन्यास न लूँगा। राजकुमार की इन माँगो को मूर्खतापूर्ण समझकर राजा तथा महाप्रजापति गौतमी ने रक्षको और राजकुमार का मनोरजन करनेवाली स्त्रियो की सख्या और वढा दी जिससे वे किसी प्रकार प्रासाद के वाहर न जा सकें। परतु राजकुमार को सन्यास लेने से रोकने के लिए किए गए राजा और उनके कर्मचारियो के प्रयत्नो को व्यर्थ करने के लिए देवगण स्वय आ उपस्थित हुए। वोधिसत्त्व को स्मरण था कि उन्होने पहले ही ये चार निश्चय किए थे—(१) तृष्णा की शृखला तोडकर ससार के कारागार से जीवो को मुक्त करने के लिए मै सर्वज्ञता प्राप्त करूँगा, (२) मै ज्ञान का प्रकाश फैलाऊँगा जो अज्ञान-तिमिर का नाश कर सासारिक जीवो की ज्ञान-दृष्टि को निर्मल करेगा, (३) 'मैं'-'मेरा' के कारण उत्पन्न सपूर्ण भ्रम को दूर कर दूँगा, तथा (४) उस ज्ञान का प्रचार करूँगा जिससे यह निर्भ्रान्ति प्रतीति हो जायगी कि जन्मो के अनत चक्र केवल अग्नि के चक्र (अलातचक्र) द्वारा छोडी गई चमक के समान है।

जव राजा शुद्धोदन राजकुमार की वात का कोई उत्तर न दे सकने के कारण चुप रह गए तो राजकुमार अपने कक्ष मे लौट आए और वहाँ देखा कि नर्तकियाँ वाल विखराए निद्रा में मग्न है, कुछ दाँत पीस रही है, किन्ही के फेन-भरे मुँह से लार वह रही है, कोई नीद मे कुछ वक रही है और कोई विकृत मुद्राओ में पडी हुई है। राजकुमार

को ऐसा अनुभव हुआ जैसे वे श्मशान में अथवा राक्षसियों के बीच खड़े हों। इस वीभत्स दृश्य को देखकर वे अपने ही शरीर के विषय में विचार करने लगे, जो सोचने पर उन्हें केवल एक मलकोष मात्र जान पड़ा। उसी क्षण उन्होंने सन्यास ग्रहण करने के उद्देश्य से प्रासाद को त्याग देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने छंदक को बुलाया और प्रासाद से प्रस्थान करने के लिए उससे अपने प्रिय अश्व कंठक को प्रस्तुत करने को कहा। छंदक चाहता था कि वे वृद्धावस्था में सन्यास लें, परंतु उन्होंने उसकी अनुनय-विनय पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उसे प्रबल युक्तियों द्वारा विश्वास करा दिया कि उनका तत्काल सन्यास लेना आवश्यक है। तब वे कंठक पर आरूढ़ हो, छंदक को अपने साथ लिए राजप्रासाद से निकल पड़े।

राजकुमार का प्रव्रजन

वे रात भर चलते गए और शाक्यों, कोलियों, मल्लों और मैनेयों की राज्य-सीमाओं को पार कर भोर में घोड़े पर से उतर पड़े। उन्होंने अपने रत्नाभूषणों को छंदक के हवाले किया और उससे घोड़े को लेकर कपिलवस्तु लौट जाने को कहा। उन्होंने खड्ग से अपने केश काटकर ऊपर फेंक दिये जिन्हें त्रयस्त्रिंश देवगण स्वर्ग में ले गए। राजकुमार अपने राजकीय वेश को त्यागना चाहते थे और पीले वस्त्र की खोज में थे उसी समय एक देव व्याध का रूप धर पीला वस्त्र पहने हुए उनके समक्ष उपस्थित हुआ। उन्होंने अपने बहुमूल्य परिधान को उस व्याध के वस्त्रों से बदल लिया, जिन्हें धारण कर वे पूरे परिव्राजक के वेश में हो गए। उनके इस प्रकार पूर्ण रूप से प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के कारण देवगण बड़े प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन प्रातःकाल कपिलवस्तु में राजप्रासाद की स्त्रियों ने राजकुमार को कहीं न पाकर रोना-चिल्लाना शुरू कर दिया, जिससे राजा का ध्यान आकर्षित हुआ। वे घबराए हुए वहाँ दौड़े गए और कारण पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि राजकुमार प्रासाद छोड़कर चले गए। व्याध राजकुमार के वस्त्र लिए हुए कपिलवस्तु को लौट रहा था, उसे देख लोगों ने समझा कि इसी व्याध ने राजकुमार को मार डाला। उसी क्षण छंदक और कंठक भी वहाँ राजकुमार के आभूषणों के साथ आ पहुँचे और छंदक ने सारा समाचार कह सुनाया। राजकुमार के प्रव्रजन के समाचार ने सभी को शोक-सागर में मग्न कर दिया, फिर यशोधरा, राजा शुद्धोदन और महाप्रजापति गौतमी की दशा का तो कहना ही क्या!

इधर छंदक राजभवन की स्त्रियों को समझा-बुझा रहा था, उधर राजकुमार पैदल

हो सत्य की खोज में बढे जा रहे थे। उन्हे दो ब्राह्मण तपस्विनियो ने और उसके बाद ब्रह्मर्षि रैवतक और राजक त्रिदडक ने अपने आश्रमो में रहने के लिए आमन्त्रित किया, परतु उन्होने नम्रता के साथ उनके आमत्रण को अस्वीकार कर दिया और आगे बढते गए। इस प्रकार वे वैशाली जा पहुँचे और वहाँ आडार कालाम के आश्रम में ठहर गए। आडार कालाम की सिद्धियो के विषय में पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वे 'अकिचन्यायतन' (जिसमे मनुष्य को कोई कामना नही रह जाती) नाम की ध्यान की सप्तम भूमिका (समापत्ति) मे पहुँच चुके थे। बोधिसत्त्व उनकी उस शिष्यमडली में सम्मिलित हो गए जिसकी सख्या उस समय तीन सौ थी और कुछ ही समय में उन्होने अपने दृढ सकल्प (छद), वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा सप्तम भूमिका (समापत्ति) प्राप्त कर ली। आडार ने उनसे अपने सहाध्यापक के रूप में अपने ही आश्रम में रहने का अनुरोध किया, परतु उन्होने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'मुझे अपनी सिद्धि से सतोष नही है क्योकि मै उसे अतिम मुक्ति नही मानता।' वे वैशाली छोडकर राजगृह की ओर चल पडे और उष्ण कुड के पासवाले द्वार से नगर में प्रवेश किया। जब वे भिक्षा के लिए अटन कर रहे थे, उस समय उनकी तेजोदीप्त आकृति और शाति गभीर मुद्रा को देखकर नगर-निवासियो के हृदय में उनके प्रति भयमिश्रित आदर की भावना उत्पन्न हुई और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। वे राजभवन की ओर दौडे और राजा को बोधि-सत्त्व के आगमन की सूचना दी। दूसरे दिन प्रातःकाल राजा उनसे मिला और अपना आधा राज्य उन्हें देना चाहा, परतु उन्होने नम्रतापूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया और राजा को क्षणिक सासारिक सुखो के दोषो से अवगत किया। इसके अनतर वे राजगृह के उपकठ में गये और रुद्रक रामपुत्र के आश्रम में ठहरे। पता लगाने पर उन्हे ज्ञात हुआ कि रुद्रक 'नैवसज्ञानासज्ञायतन' नाम की ध्यान की अष्टम भूमिका तक पहुँच सकते है, जिसमें न इद्रियानुभव होता है, न उसका अभाव ही होता है। आडार कालाम के द्वारा प्राप्त की हुई भूमिका से यह भूमिका उच्चतर थी, परतु वह सिद्धि भी इस ससार (ससृत) की सीमा के भीतर की ही थी, लोकोत्तर नही, जिससे शाति और विश्राति मिलती है, दु खो का अत हो जाता है, और अत में पूर्ण रूप से निर्वाण प्राप्त हो जाता है। अपेक्षाकृत कम समय में और अल्प परिश्रम के द्वारा नैवसज्ञानासज्ञायतन की भूमिका प्राप्त कर लेने की बोधिसत्त्व की असाधारण शक्ति को देखकर रुद्रक के पाँचो ब्राह्मण शिष्यो ने अपने गुरु को छोडकर गौतम के साथ रहना पसद किया। उनके साथ गौतम गया गए और गयाशीर्ष गिरि के पास ठहरे।

बोधिसत्त्व अपने पांच नए साथियो के साथ गयाशीर्ष गिरि पर गए और वहाँ कितने

ही तपस्वियो को अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए कठोर तपश्चर्या मे निरत पाया। परतु उन्होने लक्ष्य किया कि उन तपस्वियो ने सासारिक तृष्णाओ से अपने को पूर्ण रूप से मुक्त नही कर पाया था। उनके घोर तपश्चर्या मे लीन रहते हुए भी, सत्य अतर्दृष्टि एव ज्ञान के साक्षात्कार को कौन कहे, अलौकिक शक्तियो को भी प्राप्त करना अभी उनके लिए बहुत दूर की बात थी। वे गीली लकडियो से अग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न कर रहे थे। बोधिसत्त्व ने विचार किया कि अग्नि तो सूखी लकडियो में से ही उत्पन्न की जा सकती है। दूसरे शब्दो में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश उसी के हृदय मे हो सकता है जिसने सासारिक तृष्णाओ से अपने को पूर्ण रूप से मुक्त कर लिया है। और बोधिसत्त्व ने पहले ही उनसे अपने को मुक्त कर लिया था।

बोधिसत्त्व का तप

तब वे उरुविल्व सेनापति-ग्राम की ओर चले और जल से परिपूर्ण नेरजना नदी का दृश्य देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उस समय के लोगो के धार्मिक विश्वासो का निरीक्षण करते हुए उन्होने पाया कि लोग नाना प्रकार के अधविश्वासो मे उलझे हुए हैं। कोई मत्रो की शक्ति तथा ओकार के जप मे विश्वास करता है, कोई उच्चतर जीवन प्राप्त करने के लिए न केवल देवी-देवताओ की अपितु वृक्षो, सरोवरो, श्मशानो और चतुष्पथो की भी पूजा करता है, कोई मुक्ति प्राप्त करने के लिए शरीर को कष्ट देकर घोर तप करते हुए कुत्तो या गायो की भाँति जीवन व्यतीत कर रहा है और जटा और नख बढाए हुए, शरीर में धूल लपेटे हुए हैं। कितने ऐसे भी थे जिनका विश्वास था कि एक पुत्र का जन्म हो जाने से उसके द्वारा उनका परलोक सुधर जायगा। इन अधविश्वासो मे लिप्त मनुष्यो को शिक्षा देने के लिए बोधिसत्त्व ने कठोर तपस्या करने का निश्चय किया और छ वर्ष तक घोर तपस्या की। वे इतना कठोर श्रम करते थे कि घोर शीतकाल में भी उनकी काखो में पसीना आ जाता था। प्राणायाम में उनकी श्वास-क्रिया इस प्रकार बद हो जाती थी कि कभी-कभी लोग भ्रम से उन्हें मृत समझ लेते थे। व्रतो और उपवासो की शक्ति में विश्वास करनेवालो का अज्ञान दूर करने के लिए उन्होने केवल एक बेर या अन्न का एक दाना खाकर महीनो बिता दिए, जिससे कुछ दिनो तक वे केवल ककाल मात्र रह गए थे। उनके शरीर मे रक्त और मास लेशमात्र भी नही रह गया और अस्थियाँ केवल नसो के द्वारा किसी प्रकार जुडी रही। दीर्घ काल तक स्नान न करने के कारण उनके शरीर पर मैल की पपडियाँ जम गई

और उनका सोने सा दमकता रंग काला पड़ गया। इस प्रकार कृशकाय हो जाने पर एक दिन वे मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े।

बोधिसत्त्व की तपश्चर्या के छ वर्षों की अवधि में मार बराबर इस ताक में रहा करता था कि उनकी तपस्या में कहीं कोई त्रुटि दिखाई पड़े। परंतु जब उसे कोई त्रुटि नहीं मिली तो वह उनके सम्मुख प्रकट हुआ और उनसे शरीर को कष्ट देनेवाले कठिन अभ्यासों को छोड़कर यज्ञ तथा अन्य विहित कर्मों का मार्ग ग्रहण करने की प्रार्थना की; क्योंकि उसके कथनानुसार उनके द्वारा भी जीवन की उच्चतर अवस्थाएँ प्राप्त की जा सकती थी।[1] परंतु बोधिसत्त्व मार की बातों में न आये और उन्होंने सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने तथा मार के लोक से ऊपर उठ जाने का अपना दृढ निश्चय प्रकट किया।

बोधिसत्त्व ने अनुभव किया कि केवल तपस्या के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, और उन्हें कृषिग्राम में हुए अपने समाधि के अनुभवों का अकस्मात् स्मरण हो आया। तब उन्होंने आहार ग्रहण कर तथा अपने कृश शरीर को दृढ बनाकर अपनी साधना के मार्ग को बदल देने का निश्चय किया।

सुजाता की खीर

उन दिनों उरुवेला में सेनानी नाम का एक भूस्वामी था, जिसके सुजाता नाम की एक कन्या थी। सुजाता ने पुत्रोत्पत्ति के लिए एक न्यग्रोध वृक्ष में निवास करनेवाले देव को खीर चढाने की मनौती मानी थी। बोधिसत्त्व की तपस्या का वह छठा वर्ष था। अपनी मनौती के अनुसार उसने वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन उस वृक्ष-निवासी देव को खीर चढाने की तैयारियाँ की। खीर पकाते समय उसने कुछ अलौकिक चमत्कार देखे और अपनी दासी पुण्णा को पहले से वृक्ष के नीचे भेज दिया। उस समय भगवान् न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, उनके शरीर से तेज की किरणें निकल रही थी। पुण्णा को बड़ा विस्मय हुआ और वह सुजाता को यह समाचार देने के लिए दौड़ी कि वनदेव उसकी पूजा ग्रहण करने के लिए वृक्ष से उतरकर नीचे विराजमान हैं। सुजाता ने एक नवीन स्वर्णपात्र में प्रेमपूर्वक खीर परोसी, और तब अवसर के अनुकूल वस्त्रादि धारण कर खीर से भरा पात्र सिर पर लिए वह न्यग्रोध वृक्ष की ओर चली। वनदेव का साक्षात्

१ तुल० पधान सुत्त।

दर्शन कर वह परम प्रसन्न हुई। उसने उन्हें खीर अर्पित की[1] और भगवान् ने उसे स्वीकार किया। उन्होने नदी में स्नान करने के पश्चात् खीर ग्रहण की। उनचास दिनो के निरतर उपवास के अनतर (उन दिनो में उन्होने स्नान वा आचमन भी नही किया था) उन्होने प्रथम बार यह आहार ग्रहण किया। भोजन कर लेने के पश्चात् उन्होने पात्र को यह कहते हुए नदी में फेंक दिया कि यदि मुझे बोधि प्राप्त होनेवाली होगी तो यह पात्र नदी में तैरेगा और धारा के प्रतिकूल चलेगा। ऐसा ही हुआ और वह पात्र धारा के प्रतिकूल नदी में तैरता हुआ अत मे एक भवँर मे पड गया और डूबकर नीचे काल नागराज के लोक मे पहुँच गया।

बोधिसत्त्व के पाँचो ब्राह्मण साथियो ने देखा कि ये तपश्चर्या के द्वारा तो अपने लक्ष्य को प्राप्त करने मे असफल रहे और अब ये भोजन ग्रहण कर तथा सुख से जीवन व्यतीत करके उसे प्राप्त करना चाहते है। इससे वे बडे निराश हुए। बोधिसत्त्व से उन्हें विरक्ति हो गई और वे उनका साथ छोड बनारस के निकट मृगदाव को चले गए।

स्नान-भोजन से स्वस्थ होकर भगवान् वीर गति से बोधि वृक्ष की ओर चले। देवो ने मार्ग को कुश-कटको और ककरियो से रहित करके स्वच्छ-सुगम बना दिया। बोधिसत्त्व के शरीर से समस्त जीवो को आनद देनेवाली तेज की किरणे निकलकर चारो दिशाओ में फैल रही थी। नागराज कलिक ने उनके चरणो के दर्शन किए और उसकी रानी सुवर्णप्रभास ने उनकी स्तुति की। इसके पश्चात् बोधिसत्त्व को स्वस्तिक नामक एक घसियारा (यवमिक) मिला, जिससे उन्होने आसन

१. ललित विस्तर में दी हुई कथा इससे कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है—सुजाता बोधिसत्व के भक्तो में से थी। वह इस आशा से ब्राह्मणो को भोजन कराया करती थी कि उनके आशीर्वाद से बोधिसत्त्व को साधना सफल होगी और वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। देवो ने सुजाता को बोधिसत्त्व के लिए खीर पकाने की प्रेरणा की। तदनुसार उसने खीर पकाई और एक सोने के कटोरे में परोस कर उसे बोधिसत्त्व को खाने के लिए दिया। उन्होंने उसे ग्रहण करने के अनतर कटोरे को नदी में फेंक दिया। उन्होने नेरंजना नदी के शीतल जल में स्नान किया।

उस समय बोधिसत्त्व का कटिवस्त्र नितात शीर्ण हो गया था और वे एक नया वस्त्र चाहते थे। उन्होंने निकटस्थ श्मशान में किसी शव पर का फेंका हुआ एक क्षौम-वस्त्र-खंड पाया और उसे उठा लिया। वे उसे धोना चाहते थे; परतु उस स्थान के निकट कोई जलाशय न था, अत देवो ने वहाँ अपनी दैवी शक्ति से एक जलाशय तथा उसके तट पर एक शिला प्रस्तुत कर दी, जिसपर बोधिसत्त्व ने उस वस्त्र को धोया।

के निमित्त कुछ घास माँगी। फिर वे यह दृढ प्रतिज्ञा करके बोधिवृक्ष के नीचे आसीन हो गये कि भले ही शरीर सूख जाय और मास और हड्डियाँ गल जायँ, परतु मै बोधि प्राप्त किए विना आसन से नही उठूँगा। जब वे पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से उस स्थिति में बैठे हुए थे उस समय छहो दिशाओ के लोको से आकर वहाँ एकत्र हुए अनेक बोधिसत्त्व उनकी रक्षा कर रहे थे।

मार-विजय

जब भगवान् बोधिवृक्ष के नीचे बैठ हुए थे उस समय उन्होने अनुभव किया कि मार-लोक के निवासी जो देवगण अपने पुण्यो के बल से कालातर में बुद्धत्व प्राप्त करने के अधिकारी है उन्हे सम्यक् बोधि प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने बोधिवृक्ष के नीचे आसनस्थ होने की सूचना दे देना आवश्यक है। अत उन्होने मार के लोको को प्रकाशित करनेवाली आलोक की किरणें प्रसारित की। उनकी इन आलोक-किरणो ने उनके कुटिल शत्रु मार को भी स्पर्श किया, जिसे अपने प्रताप के क्षीण होने के कई स्वप्न दिखाई पडे। वह भयभीत होकर उठ बैठा और अपने पुत्रो और सेनापतियो को बुलाया, जिन्होने यह कहकर उसके भय को दूर करने का प्रयत्न किया कि कोई शत्रु-सेना कितनी भी प्रचड एव बलशालिनी क्यो न हो, उसे पराजित करने के लिए हमारे पास पर्याप्त सेना और शक्ति है। मार की आज्ञा पाकर उन्होने भयानक आकारवाले यक्षो, राक्षसो, कुभाडो, उरगो और पिशाचो को उत्पन्न किया और उन्हें पूर्ण रूप से शस्त्रसज्ज कर दिया। मारपुत्रो ने मार का दक्षिण और वाम पार्श्व सँभाला और इस प्रकार अपने वीर योद्धाओं के साथ रणोद्यत हो मार बोधिसत्त्व से युद्ध करने को प्रस्थित हुआ। परतु बोद्धिसत्त्व के मुँह खोलने मात्र से मार और उसकी सारी सेना भयभीत हो गई। बोधिसत्त्व अपने सिर पर हाथ फेरते तो भी उन सबको ऐसा लगता कि उनपर खड्ग से प्रहार हो रहा है। वे बोधिसत्त्व पर भारी-भारी अस्त्र फेंकने लगे, परतु उन्होने देखा कि वे अस्त्र फूल बनकर बोधिवृक्ष की डालो में लटक जाते थे। तब बोधिसत्त्व ने उन्हें सबोधित कर कहा—'निस्सदेह तुम लोगो के स्वामी मार ने अनेक यज्ञ करके असाधारण शक्तियाँ प्राप्त कर ली हैं, परतु वैसे यज्ञ मैंने भी किए है और उनसे भी बढकर, मैंने अगणित दान दिए हैं। केवल धन-सपत्ति ही नही, मैंने अपना शरीर तक लोकहित के लिए अर्पित कर दिया है।' अपने इस कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उन्होने पृथ्वी माता की ओर सकेत किया, जो बारबार कपित होकर उनके कथन की पुष्टि करने लगी।

मार बहुत निराश हो गया और युद्धक्षेत्र से लौटकर वह बोधिसत्त्व को उनके बोधि प्राप्त करने के निश्चय से पराङमुख करने के लिए कोई मृदु उपाय सोचने लगा। उसने अपनी रूपवती पुत्रियो को अपने शृगार, हाव-भाव एव सपूर्ण नारी-सुलभ युक्तियो द्वारा बोधिसत्त्व को मोहित करने की आज्ञा दी। वे सब भली भाँति शृगार कर एक साथ बोधिसत्त्व के पास गई और अपने मधुर वचनो तथा अगो की मोहक चेष्टाओ द्वारा उस महान् सत को लुभाने का यथाशक्ति प्रयत्न करने लगी। परतु बोधिसत्त्व पर्वत के समान अचल रहे, उनके सुदर रूप, हाव-भाव और मधुर वचनो का उनपर कोई प्रभाव नही पडा। अत में बोधिसत्त्व मुस्कराए और उन्होने उन्हें इद्रिय-भोगो के कुपरिणामो तथा सासारिक सुखो की अस्थिरता का ज्ञान कराया। उन्होने यह भी बतलाया कि ससार में बार-बार जन्म लेने का कारण विषय-तृष्णा है तथा यह शरीर मलो की खान है। मार-कन्याओ ने उनकी बातें सुनी-अनसुनी कर दी और उन्हें सासारिक भोगो की ओर आकर्षित करने का पुन प्रयत्न करने लगी, परतु वे पुन असफल रही।

जब मार-कन्याएँ सब प्रयत्न करके थक गई और बोधिसत्त्व को उनके निश्चय से विरत न कर सकी तो उन्होने अपनी हार मान ली और अपने पिता से जाकर निवेदन किया कि बोधिसत्त्व राग, द्वेष और मोह से सर्वथा रहित हैं। वे स्त्रियो की सारी धूर्त-विद्या भली भाँति समझते हैं, और उसका उनपर कोई प्रभाव नही पड सकता। मार-कन्याओ को पूरा विश्वास हो गया था कि पृथ्वी और स्वर्ग की कोई भी शक्ति बोधि-सत्त्व को पराभूत नही कर सकती, और वे मार की सेनाओ को बडी सरलता से परास्त करने में पूर्ण समर्थ हैं।

जब मार बोधिसत्त्व से युद्ध[1] कर रहा था उस समय देवगण बराबर उनके पार्श्व में खडे उस युद्ध का अवलोकन कर रहे थे। उन्होने बोधिसत्त्व की दृढता और बुद्धि की प्रशसा की और मार से भगवान् पर आक्रमण न करने का अनुरोध किया। बोधिसत्त्व ने कहा कि इसमें कोई सदेह नही कि मार कामधातु के स्वामी (कामेश्वर) है, परंतु मै धर्म का स्वामी (धर्मेश्वर) हूँ। और सब प्रकार से मार से श्रेष्ठ हूँ। मार की सेना को पूर्ण रूप से ध्वस्त करके बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष के नीचे दृढ आसन लगाकर बैठ गए।

१. मार और बोधिसत्त्व के युद्ध के वर्णन ने बढते-बढते ग्रंथ का रूप धारण कर लिया। द्रष्टव्य महासन्निपात-रत्न केतु-धारणी, अध्याय २, गिलगिट मैनु०, जिल्द ४।

बोधि की प्राप्ति

इसके अनतर बोधिसत्त्व ध्यान मे लीन हो गए और शनै-शनै उनका उत्थान प्रथम भूमिका (सवितर्क-सविचार-विवेकज-पीति-सुख) से द्वितीय भूमिका (अवितर्क-अविचार-समाधिज-पीति-सुख) फिर द्वितीय से तृतीय (उपेक्षक-स्मृतिमान्-सुख-विहारी) और फिर तृतीय से चतुर्थ भूमिका (अदु खासुख-उपेक्षा-स्मृति-परिशुद्धि) पर होता गया। जब वे ध्यान की चतुर्थ भूमिका में थे तब रात्रि के प्रथम प्रहर मे उन्हे दिव्य चक्षु तथा शुद्ध अतर्दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे वे समस्त जीवो के स्वभाव को जान सकते थे। द्वितीय प्रहर मे उन्हें जीवो के पूर्वजन्मो की बाते जानने की शक्ति प्राप्त हुई और रात्रि के अतिम प्रहर में उन्हें अनुभव हुआ कि उनके रहे-सहे दोषो का भी पूर्ण रूप से नाश हो गया (आस्रव-क्षय-ज्ञान)। इस भूमिका में उन्हें इस सत्य का ज्ञान हुआ कि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्य होता है, और जब वे इस सत्य पर मनन कर रहे थे उस समय उन्हें कारण-परपरा के नियम (प्रतीत्य-समुत्पाद) का भी ज्ञान हो गया, जिससे उन्होने यह पूर्ण रूप से समझ लिया कि सत्य का अज्ञान (अविद्या) ही सासारिक दु खो का मूल कारण है। तब उन्होने कारण-परपरा के नियम पर विलोम क्रम से विचार किया और उन्हे बोध हुआ कि अविद्या का नाश ही अतिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। तदनतर उन्हें दु ख, समुदय (दु ख का कारण), निरोध (दु ख का नाश) और मार्ग (दु ख के नाश का उपाय)— इन चार सत्यो का ज्ञान हुआ। उन्होने अविद्या, सस्कार, तृष्णा इत्यादि कारण-शृखला की बारह कडियो मे से प्रत्येक मे चारो सत्यो का विनियोग किया और पाया कि प्रत्येक कडी का आदि और अत है और उसके अत का एक मार्ग है। प्रात काल उन्हे परम सत्य अर्थात् बोधि का साक्षात्कार हुआ और वे पूर्ण ज्ञानी, 'बुद्ध' अथवा प्रबुद्ध हो गए। उन्हे सृष्टि के दृश्य पदार्थों के अस्थिर स्वभाव का ज्ञान हो गया और साथ ही उन्होने परम तत्त्व का, जीवन (भूत कोटि) के अत का भी ज्ञान अधिगत कर लिया।

देवो ने उनकी बोधि-प्राप्ति मे आनदित होकर उनके ऊपर पुष्पो की वर्षा की और अत्यत भावपूर्ण शब्दो मे उनका स्तवन किया।

सात सप्ताह

इस अद्भुत सफलता के बाद बुद्ध जन्म, जरा, और मृत्यु से सर्वदा के लिए मुक्ति दिलानेवाली अपनी भावना के सिद्ध हो जाने के ध्यान आनद (प्रीत्याहार-व्यूह) का अनु-

भव करते हुए एक सप्ताह तक बोधिवृक्ष के नीचे आसीन रहे। दूसरे सप्ताह मे वे विचार-मग्न होकर टहलते रहे और तीसरे सप्ताह में, जिस प्रकार से उन्होंने सत्य का ज्ञान प्राप्त किया उसपर विचार करते हुए बोधि-वृक्ष की ओर देखते रहे। चौथे सप्ताह में वे फिर थोडी दूर तक टहलते रहे। इसी सप्ताह मार ने उनके पास आकर यह प्रार्थना की कि 'अब आप परिनिर्वाण (महाकाल) को प्राप्त हो।' बुद्ध ने उसकी बात नही मानी और कहा कि जब तक मैं अपने शिष्यो को पूर्ण रूप से अपने सिद्धातो और उपदेशो का ज्ञान न करा लूं और अपने भिक्षु-सघ को भली भाँति सघटित और सस्थापित न कर लूँ तब तक मैं तुम्हारी इच्छा को पूर्ण नही कर सकता। मार इससे बहुत हताश और दुखी हुआ और उसने अपनी कन्याओ से कहा कि जिसने राग, द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त कर ली है उसको वश में करने का कोई भी प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। मार की कन्याएँ भी उसकी इस बात से सहमत थी। अत उन्होंने भगवान् बुद्ध के निकट जाकर उनसे अपनी दुष्चेष्टाओ के लिए क्षमा-प्रार्थना की। पाँचवाँ सप्ताह बुद्ध ने नागराज मुचिलिद के राजभवन में व्यतीत किया, जो उनके शरीर को लपेट कर और उनके ऊपर अपना फन फैलाकर धूप और वर्षा से उनकी रक्षा करता रहा। मुचिलिद के राजभवन से वे गडेरिए के न्यग्रोध वृक्ष के निकट गये, जो उस समय एक देव था, और उसके नीचे ध्यान करते हुए उन्होंने छठा सप्ताह व्यतीत किया। सातवाँ सप्ताह बुद्ध ने तारायण वृक्ष के नीचे बिताया, जहाँ उन्हें दक्षिणापथ से उत्तरापथ जाते हुए त्रपुस और भल्लिक नामक दो व्यापारी मिले। उन दोनो व्यापारियो के पास बडे हृष्ट-पुष्ट और बलवान् बैलो की एक जोडी थी। वे मार्ग में आनेवाली किसी विपत्ति को पहले ही जान लेते थे। आगे-आगे चलनेवाले ये दोनों बैल बुद्ध के पास आकर रुक गये और फिर एक इच भी आगे नही बढे। वे दोनो व्यापारी इस प्रकार बैलो के अकस्मात् रुक जाने के कारण का पता लगाने लगे। उसी समय कुछ देवो ने, जो पूर्वजन्म मे उन व्यापारियो के सबधी थे, उन्हें उस स्थान के निकट बुद्ध की उपस्थिति की सूचना दी और उनसे भगवान् को मधु तथा अन्य भोज्य पदार्थ देने का अनुरोध किया। व्यापारियो ने सहर्ष उनकी बात मान ली। परतु उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिए बुद्ध के पास कोई पात्र नही था, अत चार लोकपाल उसी क्षण चार रत्नजटित सोने के कटोरे लेकर वहाँ उपस्थित हुए। बुद्ध ने उन्हें लेना स्वीकार नही किया और एक पत्थर का कटोरा ले लिया। त्रपुस और भल्लिक को बोधि-प्राप्ति के बाद प्रथम बार भगवान् बुद्ध को भोजन कराने और इस प्रकार उनके सर्व-प्रथम उपासक होने का गौरव प्राप्त हुआ।

सातवें सप्ताह मे जब भगवान् बुद्ध तारायण वृक्ष के नीचे ठहरे हुए थे तो उन्हे प्रतीत हुआ कि जिस सत्य का उन्होने साक्षात्कार किया है वह इतना गभीर और सूक्ष्म है कि सामान्य बुद्धि के मनुष्यो के लिए उसको समझना कठिन है। वह शब्दो से अगम्य, तर्कों से परे, अचल-स्वभाव है और उसमें सपूर्ण भूत-जगत् तथा काम, क्रोध, मोह आदि का अत हो जाता हैं। अत उस सत्य को प्रचारित करने का प्रयत्न करना केवल शक्ति का अपव्यय करना है। महाब्रह्मा उनके इन विचारो को जानकर तत्क्षण वहाँ आये और उनसे सत्य का उपदेश करने की प्रार्थना की। उन्होने कहा कि कुछ लोग जिनका बौद्धिक एव आध्यात्मिक विकास सामान्य जनो की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि का है, सत्य को हृदयगम करने में समर्थ होगे। उन्होने यह भी कहा कि मगध मे इस समय घोर अज्ञान का अधकार छाया हुआ है और यदि सत्य धर्म का उपदेश न किया जायगा तो लोग और अधिक अज्ञानग्रस्त होकर उन्मार्गगामी हो जायँगे। तब बुद्ध ने अपने दिव्य नेत्रो से ससार का अवलोकन किया और देखा कि उसमें अनेक प्रकार के लोग है जिनमे कुछ अवश्य सत्य धर्म को हृदयगम करने मे समर्थ होगे। तब उन योग्यतम व्यक्तियो का पता लगाने लगे जो उनके उपदेशो से लाभान्वित हो सकते थे। पहले उन्हें रुद्रक रामपुत्र का और फिर आडार कालाम का ध्यान आया। परतु वे दोनो उस समय ससार छोड चुके थे, अत उन्होंने उन पाँचो ब्राह्मण तपस्वियो को सत्य धर्म का उपदेश देने का निश्चय किया जो उस समय बनारस के निकट मृगदाव में रहते थे। वे उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से विशिष्ट स्तर पर पहुँचे हुए तथा उनके उपदेशो को समझने मे समर्थ जान पडे। अत वे गया छोडकर बनारस के पथ पर अग्रसर हुए। मार्ग में उन्हें एक आजीवक साधु मिला जो उनके शात और तेजस्वी रूप को देखकर बहुत प्रभावित हुआ और जिसने उनसे उनके गुरु का नाम जानना चाहा। बुद्ध ने उत्तर दिया कि 'मेरे समान ज्ञानी कोई नही है, मेरा कोई गुरु नही है, मैं सम्यक् बुद्ध हूँ।' आजीवक साधु के चले जाने पर वे उत्तर दिशा मे चले और गगातट पर पहुँचे। उन्होने एक केवट से पार उतारने के लिए कहा तो उसने उतराई माँगी। तब वे वायु-मार्ग से उडकर गगा पार हो गए। केवट को इससे बडा पश्चात्ताप हुआ और राजा बिंबिसार भी इससे बहुत दु खी हुए। इसके बाद राजा ने केवटो को आज्ञा दे दी कि वे साधुओ को बिना शुल्क लिए पार उतार दिया करे।

———

अध्याय ४

बुद्ध का धर्म-प्रचार

बुद्ध का धर्म-प्रचार-कार्य सारनाथ से प्रारंभ हुआ। वाराणसी से चलकर बुद्ध अपने पुराने ब्राह्मण साथियो को उपदेश देने के लिए मृगदाव पहुँचे, जो इसिपत्तन (ऋषियो का नगर) के नाम से प्रसिद्ध था। भगवान् बुद्ध को अपनी ओर आते देख उन पाँचो ब्राह्मणो ने प्रतिज्ञा की कि हमारे पुराने मित्र होने पर भी ये तपोभ्रष्ट हो गए, अत. हम इनका स्वागत नहीं करेंगे। परतु जब बुद्ध उनके निकट पहुँच गए, तो उनकी शात, गभीर, देवोपम आकृति से वे ब्राह्मण ऐसे अभिभूत हुए कि उन्हें अपनी प्रतिज्ञा भूल गई। उन्होने आगे बढकर उचित आदर और विनय के साथ उनका स्वागत किया। पहले उन्होने भगवान् को अपने मित्र के समान 'आयुष्मन्' कहकर सबोधित किया, जिसपर उन्होने आपत्ति की और उनसे कहा कि वे उन्हें अपना गुरु समझे और उन्हें गुरु कहकर ही सबोधित करें।

उन्होने देखा कि उन पाँचो ब्राह्मणो को एक साथ सत्य धर्म मे विश्वास कराना सरल नही है, अत उन्होने उनमे से दो को भिक्षा माँगने के लिए बाहर भेज दिया और शेष तीनो को अपने सत्य धर्म का रहस्य समझाया। जब भिक्षार्थ गये हुए विप्र लौट आये तो दूसरे दिन उन तीनो को भिक्षा के लिए भेजकर उन्होने अन्य दो को धर्म का उपदेश दिया। उन्होने पहले उन्हें यह समझाया कि गृहस्थी का सुखमय जीवन तथा तपस्या का कष्टमय जीवन—दोनो ही दो अतिम कोटि के है, अत अनुचित है। उनका त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। मध्यम मार्ग के अतर्गत उन्होने तीन बातें बतलाई—(१) वचन, कर्म तथा जीविका के साधन पर सयम (सम्मा वाचा, कम्मन्त तथा आजीव), (२) अपने मन पर पूर्ण नियत्रण, अर्थात् दृढ निश्चय, अभ्यास, ध्यान एव समाधि के द्वारा सद्‌गुणो का अर्जन तथा दोषो का त्याग (सम्मा सरिकप्प, वायाम, सति, समाधि) तथा (३) सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति, अर्थात् चार सत्यो एव द्वादश कारण-परपरा का ज्ञान (सम्मा दिट्ठि)।

चार सत्यो में से प्रथम सत्य यह है कि 'यह ससार दु खमय है' और इसके साथ सदव जन्म, जरा, रोग और मृत्यु का चक्र लगा रहता है। जीव इस कारण भी दु ख पाता है कि वह जो कुछ चाहता है वह उसे प्राप्त नहीं होता और उसे ऐसे लोगो की

सगति प्राप्त होती है जिनसे वह मिलना भी नही चाहता। दूसरे शब्दो में, जिन पचभूतो से जीव का शरीर बना हुआ है उनके साथ दु ख और पीडा का नित्य सबध है। दूसरा सत्य यह है कि 'दु ख का कारण इच्छा या तृष्णा है' जो मनुष्य के सासारिक जीवन मे बार-बार उत्पन्न होती और बढती ही जाती है। तृष्णा का सबसे बुरा रूप वह है जिसमे मनुष्य मृत्यु के समय यह कामना करता है कि वह फिर से इस ससार में जन्म ले। तीसरा सत्य है 'दु ख का नाश', जो इच्छा या तृष्णा को पूर्णत नष्ट करके ही किया जा सकता है। चौथा और अतिम सत्य यह है कि 'दु ख और पीडा के नाश का उपाय उपर्युक्त अष्टाग धर्मवाला मध्यम मार्ग है।'

द्वादश कारण-परपरा[1] के सिद्धात की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'तृष्णा' द्वितीय सत्य है, और वह अनुभूति या वेदना से उत्पन्न होती है। अनुभूति या 'वेदना' स्वय छहो इद्रियो का अपने-अपने इद्रियार्थो या विषयो से सबध होने पर उत्पन्न होती है। षडिद्रियो की उत्पत्ति मनुष्य के ससार में जन्म लेने के कारण होती है, और जन्म के कारण है कर्मो के प्रभाव (सस्कार), जिन्हे वह पूर्व जन्मो से प्राप्त करता है, जिनमें विश्व के मूल सत्य के ज्ञान के अभाव के कारण उसका जीवन 'अविद्या' में लिप्त रहता है। बार-बार जन्म लेने का कारण 'इच्छा, विशेषत पुनर्जन्म की इच्छा' है, जिसमें जरा, रोग और मरण अवश्यभावी है। बुद्ध ने बारबार इस बात पर जोर दिया कि पुनर्जन्म की तृष्णा (भावतृष्णा) ही पचतत्त्वो के सयोग का कारण है जिससे जीव की देह का निर्माण होता है। ये तत्त्व (नाम-रूप) अनित्य एव दु ख के मूल है तथा कामना के योग्य विषय नही है। अतएव यह अत्यत आवश्यक है कि मनुष्य तृष्णा से बचने का उपाय स्वय करे, इसके लिए किसी मनुष्य या ईश्वर के भरोसे न रहे (आत्मशरण अनन्यशरण)।

उपर्युक्त उपदेश और उसकी व्याख्या से पाँचो ब्राह्मण तपस्वियो की दृष्टि निर्मल हो गई। पाँचवे दिन जब बुद्ध के उपदेशो मे उन पाँचो की कुछ गति होने लगी तो बुद्ध ने 'अनत्तलक्खनसुत्त' का व्याख्यान किया जिसमे उन्होने अपने धर्म के मूल सिद्धात बतलाए, जिनका सार यह है कि जीव के निर्माण-तत्त्वो (स्कधो) से पृथक् आत्मा (अत्त = आत्मन्) नाम की कोई वस्तु नही है। जिन पाँच तत्त्वो से देही का निर्माण होता है वे है—रूप, वेदना, (अनुभूति), सज्ञा (सञ्ञा), सस्कार (सखारा) और विज्ञान (विञ्ञान)। आत्मा का अस्तित्व न पृथक्-पृथक् इन पाँचो स्कधो मे

१ और विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य अध्याय ८।

से किसी में है, न वह इनके समवाय में है। इन स्कधो के वाहर भी कही उसका अस्तित्व नही है। इस उपदेश से उन पाँचो ब्राह्मणो के ज्ञान-नेत्र खुल गए और उन्हें तत्काल अर्हत् पद प्राप्त हो गया।

उन पाँचो बुद्ध-शिष्यो के व्यक्तिगत इतिहास के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है। अनुश्रुतियो से जो कुछ थोडी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है—

(१) अञ्ञात-कोडञ्ज—(अज्ञात कौंडिन्य)—ये कपिलवस्तु के निकट द्रोण-वस्तु के एक सपन्न ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होने वेदो और अन्य ब्राह्मण-शास्त्रो का अध्ययन किया था। जिन ब्राह्मणो को राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के जीवन का भविष्य पूछने के लिए निमत्रित किया था उनमे ये भी थे। ये उन पाँचो ब्राह्मणो मे ज्येष्ठ थे जिन्होने बुद्ध के साथ तपस्या की थी और यही उनके उपदेशो को समझनेवाले सर्वप्रथम शिष्य थे तथा उनके भक्तो में सर्वश्रेष्ठ मानकर लोग इनकी प्रशसा करते थे। अर्हत् पद प्राप्त करने के बाद ये गुरु की आज्ञा लेकर एकात वन मे चले गए। कहा जाता है कि वहाँ वन के हाथी उनकी सेवा करते थे।

(२) भद्दिय—बुद्ध के उपदेशो को समझनेवाले द्वितीय ब्राह्मण थे।

(३) वप्प—कपिलवस्तु के वासेट्ठ कुल मे उत्पन्न हुए थे। बुद्ध के ऋषिपत्तन में आने के दूसरे ही दिन वे 'सोतापन्न' हो गए।

(४–५) महानाम और अस्सजि—पाँचो ब्राह्मणो मे कनिष्ठ ये और पाँचो में से ये ही दोनो बुद्ध की शिक्षाओ से लाभान्वित होनेवाले अतिम व्यक्ति थे। चित्तगहपति महानाम से बहुत प्रभावित हुआ था और उसने उन्हें अवटक वन दान कर दिया था। अस्सजि ने 'ये धम्म हेतुप्पभवा' इत्यादि श्लोक कहकर सारिपुत्त को बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट किया था, इस कारण उनकी बडी प्रसिद्धि हुई।

पूर्ण, नालक और सभिय

पाँचो ब्राह्मणो को अपने धर्म का अनुयायी बनाकर कुछ काल तक बुद्ध ऋषिपत्तन में ही रहे। उस समय पूर्ण मैत्रायणीपुत्र, नालक और सभिय[1] ने जो सभी बुद्ध के सम-

[1] महावस्तु (३, पृ० ३७७तथा आगे) तथा अभिनिष्क्रमण सूत्र (पृ० २७४ तथा आगे) में पूर्ण मत्रायणीपुत्र, असित ऋषि के भांजे नालक, और एक विख्यात तार्किक स्त्री के पुत्र सभिय के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन श्रेष्ठिपुत्र यश की दीक्षा के पहले किया गया है।

सामयिक साधु थे, बुद्ध के उपदेशो की बडी प्रशसा की। परतु सभवत वे भिक्षु नही हुए, यद्यपि महावस्तु में कहा गया है कि बुद्ध ने "एहि भिक्षु" मत्र का उच्चारण करके उन्हें भिक्षु-सघ मे सम्मिलित किया था। इसमें सदेह नही कि ये तीन साधु इसके एक-दो वर्ष के बाद बौद्ध-सघ में सम्मिलित हुए और उन्होने भिक्षुओ में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। पूर्ण मैत्रायणीपुत्र ने भिक्षु-सघ में सम्मिलित होने के कुछ ही समय बाद बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनद को उपदेश दिया था। पूर्ण मैत्रायणीपुत्र कपिलवस्तु के निकट कोसल के द्रोणवस्तु नामक स्थान के निवासी एक सपन्न ब्राह्मण के पुत्र थे। उन्होने राजकुमार सिद्धार्थ के प्रव्रज्या-ग्रहण के ही दिन गृह त्याग दिया था। वे हिमालय में चले गए और ध्यान एव समाधि के अभ्यास मे उन्होने पूर्ण सफलता प्राप्त की। उनके २९ शिष्य थे और सभी वेदागो के पडित थे। पूर्ण ने अपने शिष्यो को गौतम बुद्ध के आविर्भाव तथा वाराणसी में उनके प्रथम धर्म-व्याख्यान की सूचना दे दी थी। वे तीसो ऋषि बौद्ध भिक्षु-सघ मे सम्मिलित होने के लिए वाराणसी गए और बुद्ध ने उन्हे भिक्षु बनाया। पाली ग्रथो मे वर्णन है कि पूर्ण अञ्ञातकोडञ्ञ के भाजे थे, जिन्होने उनको भगवान् बुद्ध के वाराणसी से प्रस्थान करने के कुछ ही समय बाद कपिलवस्तु में दीक्षा दी थी। पूर्ण की बुद्ध से भेंट पहले-पहल सावत्थी मे हुई थी। उन्होने अर्हत् पद प्राप्त किया। वे बडे विद्वान् थे और उन्होने सारिपुत्त सहित अनेक भिक्षुओ की शकाओ का समाधान किया था। बुद्ध उन्हें धम्मकथिको का प्रधान कहा करते थे।

नालक—कात्यायन-गोत्रीय तथा अवती के राजा के कुलगुरु के द्वितीय पुत्र थे। उनके मामा ऋषि असित थे, जो विध्य पर्वत मे निवास करते थे। उन्होने नालक के ज्येष्ठ भ्राता उत्तर को सपूर्ण शास्त्रो की शिक्षा दी, जिसके बाद वह अवती मे 'मर्कट' नामक स्थान मे अध्यापक हो गया। नालक ने बहुत शीघ्र ही सपूर्ण शास्त्रो का अध्ययन कर लिया और वे विध्य पर्वत मे जाकर ऋषि असित के शिष्य हो गए। जब बुद्ध वाराणसी मे प्रथम बार अपना उपदेश देने के बाद वही ठहरे हुए थे उस समय ऋषि असित की आज्ञा से नालक वहाँ गए और धर्मसघ मे सम्मिलित होने के लिए बुद्ध से प्रार्थना की, जिन्होने सहर्ष उनकी इच्छा पूर्ण की।

उपर्युक्त कथा का वर्णन सुत्तनिपात के नालकसुत्त मे किया गया है और बताया गया है कि नालकसुत्त का उपदेश धम्मचक्कपवत्तनसुत्त के सात दिनो के बाद किया गया था। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पाली अनुश्रुति में नालक और महाकात्यायन को एक ही नही कहा गया है, जैसा कि महावस्तु मे।

सभिय—दक्षिण देश की एक विख्यात तार्किक महिला के पुत्र थे। उन्हें सपूर्ण कलाओ और शास्त्रो, विशेपत तर्कशास्त्र की तथा परिव्राजक-वाङमय, की शिक्षा दी गई थी। जव वे पोडश जनपदो में परिव्राजक के रूप में भ्रमण कर रहे थे उस समय वे वाराणसी भी गए थे और उन्होने वुद्ध से शास्त्रार्थ किया था। वुद्ध के द्वारा दिए गए अपने प्रश्नो के उत्तरो से वे वहुत प्रभावित हुए और उन्होने धर्मसघ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की, जिसे वुद्ध ने तत्काल पूर्ण किया। उक्त कथा का वर्णन पाली ग्रथो (सुत्तनिपात) में भी हुआ है परतु वहाँ सभिय और वुद्ध की भेंट वेलुवन में वताई गई है।

यश—जव वुद्ध ऋपिपत्तन में ठहरे हुए थे उन दिनो वाराणमी नगर में यश अथवा यशोद नामक एक वडा धनाढ्य श्रेष्ठि-पुत्र निवास करता था। उसके तीन प्रासाद थे, जो अलग-अलग वर्ष की तीनो ऋतुओ में सुखद निवास के योग्य वनाए गए थे। वह सदा नर्तकियो और गायिकाओ से घिरा हुआ भोग-विलास में डूवा रहता था। एक दिन अर्द्ध रात्रि में उसकी निद्रा खुली तो उसने नर्तकियो को विकृत मुद्राओ में सोते हुए पाया, जैसे कि राजकुमार सिद्धार्थ ने अपनी प्रव्रज्या की रात्रि में अपने प्रासाद की नर्तकियो को पाया था। इसके वाद यश अपने प्रासाद से वाहर निकल गया और नदी-तट पर जाकर खुले मैदान में उच्च स्वर से यह कहता हुआ घूमने लगा कि 'मैं दु खी हूँ, मैं विपन्न हूँ' (उप्पदुत वो उप्पसट्ठ वो)। वुद्ध ने, जो उस समय वरुणा नदी के तट पर वैठे हुए थे, उसकी वह आर्त वाणी सुन ली। उन्होने समझ लिया कि यश ने पूर्व जन्मो में इतने पुण्य अर्जित कर लिए हैं कि उसे इसी जन्म मे मुक्ति प्राप्त होगी। उन्होने उसे निकट वुलाया और पहले उसको दान-धर्म और नियमो के पालन का तथा दिव्य जीवन प्राप्त करने के उपायो, एव सासारिक भोगो को भोगने के कुपरिणामो का उपदेश किया (दानकथ सीलकथ सग्गकथ कामान आदीनव सकिलेस)। जव उन्होने देखा कि उनके उपदेश का अनुकूल प्रभाव पडा और उसका मन कुछ शात हुआ जिससे वह उच्चतर आध्यात्मिक उपदेशो को ग्रहण करने की स्थिति में हो गया, तव उन्होने उसे धर्म के चतुस्सूत्रो तथा द्वादश कारण-परपरा का रहस्य वतलाया। इससे तत्काल यश की अतर्दृष्टि निर्मल हो गई और उसे दिव्य शक्तियो के साथ-साथ पूर्ण मुक्ति भी मिल गई।

यश के माता-पिता अपने पुत्र को प्रासाद में न पाकर उसकी खोज में निकले और उन स्थान पर जा पहुँचे जहाँ वरुणा-तट पर भगवान् वुद्ध विराजमान थे। उन्होने वुद्ध से अपने पुत्र के विपय में पूछा तो पहले उन्होने अपनी दिव्य शक्ति से यश को अदृश्य

कर दिया और उसके माता-पिता को दान, धर्म एव नियमो के पालन का उपदेश किया। जव उनका मन शात हुआ तब उन्होंने रहस्यमय आवरण को दूर कर दिया जिससे श्रेष्ठि-दपति ने अपने पुत्र को वहाँ बैठे हुए देखा। अपने प्रिय पुत्र को पाकर वे वडे प्रसन्न हुए, परतु जव उन्हे ज्ञात हुआ कि वह प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए समुद्यत है तो वे दुखी हो गए। परतु फिर जव उन्हें विदित हुआ कि उसे दिव्य आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो गई है तो उन्होने अपने सौभाग्य, अथवा अपने प्रिय पुत्र से वियुक्त होने के दुर्भाग्य को माथे चढाया। उसके वाद वे बुद्ध के अनुयायी हो गए।

यह सुनकर कि यश वुद्ध का शिष्य बनकर भिक्षु हो गया है, उसके चार मित्र विमल, सुवाहु, पूर्ण (पुण्णजी) और गवापति, जो सभी श्रेष्ठि-कुलो के थे, पचास अन्य व्यक्तियो के साथ भिक्षु हो गए। इन चारो में से गवापति बहुत प्रसिद्ध हुए। उन्हे दिव्य शक्तियाँ (ऋद्धियाँ) प्राप्त हुई, अत में अर्हत् पद भी प्राप्त हो गया। वे साकेत में अजनवन में रहते थे। सहजाति (चेदि देश) में उन्होने चतुस्सूत्र धर्म का उपदेश दिया जो उनके कथनानुसार उन्हें साक्षात् बुद्ध भगवान् से प्राप्त हुआ था। प्रथम धर्म-परिपद् (सगीति) के अधिवेशन के समय वे बहुत वृद्ध हो गए थे, अत उन्होने उस अधिवेशन की कार्यवाहियो में कोई भाग नही लिया। उनके पूरण नाम के एक घनिष्ठ मित्र थे, जो उपर्युक्त पूर्ण या पुण्ण हो सकते हैं। सर्वास्तिवाद की अनुश्रुति है कि परिषद् के अधिवेशन के समय गवापति वहुत अस्वस्थ थे। उसके बाद शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो गई और पुण्ण ने उनकी अत्य क्रिया की।[1]

वुद्ध के शिष्यो की सख्या अव ५९ तक पहुँच चुकी थी। वे सव शिष्य मानवीय अथवा दैवी सभी वधनो से मुक्त थे। वुद्ध ने उनके पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेने के कारण उनकी प्रशसा की और उनसे इस प्रकार कहा—"भिक्षुओ, तुम भिन्न-भिन्न दिशाओ मे जाकर भ्रमण करो। तुममे से कोई दो एक साथ मत जाना। 'वहुजन सुखाय, वहुजन हिताय' तथा देवो और मनुष्यो के कल्याण के लिए तुम भ्रमण करो और सत्य धर्म का उपदेश करो जिसका आदि, मध्य और अत सभी कल्याणमय है, तथा लोगो को शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन की शिक्षा दो।" वुद्ध का विश्वास था कि ससार में ऐसे लोग भी हैं जिनका आध्यात्मिक विकास हो चुका है परतु जिन्हें सिद्धि प्राप्त करने के लिए कुछ और उपदेश देने की आवश्यकता है। विशेषत ऐसे ही लोगो के लिए उन्होंने भिक्षु-

१. रॉकहिल, लाइफ ऑव वुद्ध, पृ० १४९।

सघ का निर्माण किया। शिष्यों को धर्म-प्रचार के लिए भेजकर अपने लिए उन्होने कहा कि मैं सत्य का उपदेश करने के लिए गयाशीर्ष गिरि पर जा रहा हूँ।[1]

गयाशीर्ष के मार्ग में उन्हें तीस प्रतिष्ठित कुलो के युवक वन में अपनी पत्नियो के साथ विहार करते हुए मिले। एक युवक की सगिनी एक वारवनिता थी जो उस मित्र-मडली की कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर चपत हो गई। उस स्त्री को खोजते हुए वे बुद्ध के पास पहुँचे और उनसे उसके विषय मे पूछा। भगवान् ने उन्हें उपदेश दिया कि 'तुम उस स्त्री को न खोजकर अपने आत्मा को खोजो।' इस उपदेश से उन युवको के मन परिवर्तित हो गए और वे बुद्ध के शिष्य हो गए।

इसके पश्चात् बुद्ध गयाशीर्ष पहुँचे और उन्होने वहाँ के श्रेष्ठ ऋषियो को, ब्रह्मर्षियो और राजर्षियो को, बौद्ध धर्मानुयायी बनाने का प्रयत्न किया।

काश्यप—पहले बुद्ध जटिल काश्यपो की यज्ञशाला में गए और आश्रम में रहने की अनुमति माँगी। परतु जटिलों ने स्थान का अभाव बताकर यज्ञकुड के निकट के स्थान की ओर सकेत करके उनसे कहा कि रहने के लिए केवल यही स्थान यहाँ मिल सकता है, परतु वहाँ एक विषधर नाग रहता है। बुद्ध ने उस स्थान को स्वीकार कर लिया और सारी रात वहाँ उन्होने ध्यान में बैठे-बैठे बिता दी। उस नाग के मुँह से निकली हुई विषैली वायु उनके चारो ओर फैल गई, परतु जब उसने फिर भी उन्हें शात, गभीर और अचल पाया तो नतफण होकर उनकी पूजा की। काश्यपो को, रात्रि-विश्राम के लिए उस स्थान को स्वीकार करने के कारण, बुद्ध के दुर्भाग्य पर दया आ रही थी, परतु प्रात काल यह देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही कि बुद्ध न केवल जीते-जागते और प्रसन्न हैं, अपितु नाग को वे अपने भिक्षापात्र में लिए हुए हैं। अपनी कुछ अन्य अलौकिक शक्तियाँ उन्हें दिखलाकर बुद्ध ने उन काश्यपो को अभिभूत कर लिया और उन्हें अपना शिष्य बना लिया। उन्होने उन्हें अग्नि के विषय में (आदित्त परियाय सुत्त) उपदेश दिया, जिसमें उन्हें बतलाया कि वास्तविक अग्नि तो राग, द्वेष और मोह में रहती है जो इद्रियो और इद्रियार्थों के सयोग से उत्पन्न सस्कारो से उत्पन्न होती है। यही अग्नि हमारे जन्म, जरा एव मरण के दु खो का कारण है। इस अग्नि से अपनी रक्षा करने का केवल एक ही उपाय है, वह यह कि मनुष्य इद्रियो और उनके विषयो की उपेक्षा करके उनके द्वारा उत्पन्न सस्कारो से अपने को अप्रभावित रखे। इस प्रकार की निस्सगता, तटस्थता एव समभाव के द्वारा ही मनुष्य अपने मन को

१. विनय० १, पृ० २१।

वासनारहित करके वह अतर्दृष्टि प्राप्त कर सकता है जिससे पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[1]

इस व्याख्यान को श्रवण कर वास्तविक अग्नि का रहस्य उरुविल्व काश्यप की समझ में आ गया और उन्होने यज्ञाग्नि की शक्ति में अपना विश्वास त्याग दिया। उन्होने बुद्ध के व्याख्यान की बडी प्रशसा की और ज्ञान तथा दिव्य शक्तियो में बुद्ध से अपने को न्यून मानकर उनकी महत्ता स्वीकार की। वे उनके शिष्य हो गये और अपने वस्त्रो और यज्ञपात्रो को उन्होने नदी की धारा मे फेंक दिया। उनके दो भाई 'नदी काश्यप' और 'गया काश्यप', जो नदी के उतार की ओर रहते थे, अपने ज्येष्ठ भ्राता के वस्त्रादि को नदी में बहते देखकर डर गए और तुरत उनके पास गए। परतु अपने भ्राता को बौद्ध भिक्षुओ का वस्त्र पहने हुए देखकर उन्हें बडा आश्चर्य हुआ। उन्होने भी आदित्तपरियाय सुत्त का श्रवण किया और अपने भ्राता की भाँति बुद्ध की शिष्यता स्वीकार की।

तब भगवान् अपने इन नए जटिल शिष्यो तथा अन्य शिष्यो को साथ लेकर राजा बिंबिसार के यष्टिवन (लट्ठि वन) में गए, जहाँ राजा ने उनका बडे आदर से स्वागत किया। राजा उन जटिल तपस्वियो के बडे भक्त थे और जब उन्होने उन्हे बुद्ध के शिष्यो के साथ बैठे हुए देखा तो उन्हें बडा आश्चर्य हुआ और वे यह निश्चय न कर सके कि उस ऋषि-मडली के नेता बुद्ध हैं अथवा वे जटिल ऋषि। राजा के सदेह को दूर करने के लिए जटिल काश्यप ने घोषित किया कि 'मैंने यह अनुभव कर लिया कि कामनाओ का अत करने तथा पुनर्जन्मो के चक्र को रोकने में मेरी अग्नि-पूजा और शरीर को कष्ट देनेवाली तपस्या का कोई फल नही है, अत मैं निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा से बुद्ध का शिष्य हो गया हूँ। बुद्ध के अनुरोध करने पर जटिल ऋषि ने सभा के सम्मुख अपने द्वारा प्राप्त की हुई दिव्य शक्तियाँ प्रदर्शित की और अपनी सिद्धियो के द्वारा बुद्ध के ज्ञान और शक्ति की अद्वितीयता का लोगो को विश्वास करा दिया।

राजा बिंबिसार—जब लोगो का मन शात, स्वस्थ और श्रद्धायुक्त हो गया तब भगवान् बुद्ध ने उन्हें आत्मा एव अहकार के अनस्तित्व तथा सासारिक पदार्थों की अनित्यता पर उपदेश दिया। उन्होने किसी नित्य आत्मा के अस्तित्व को असिद्ध कर दिया। उनका तर्क था कि ऐसा आत्मा—प्रभु और ईश्वर—क्यो अपने को सासारिक

१ विनय० १, पृ० ३४-३५।

दु खो में डालेगा ? जन्म-मरण के कारणरूप तथा मुक्ति के मार्ग में बाधक अहकार की भावना के परित्याग की आवश्यकता का प्रश्न ही क्यो उपस्थित हो ?

अतएव न कोई कर्ता है, न कोई ज्ञाता, न कोई प्रभु, न कोई आत्मा। उन्होंने समझाया कि इद्रियो तथा उनके इद्रियार्थो के सपर्क से सस्कारो की उत्पत्ति होती है। ये सस्कार तृष्णा-बीज के जनक हैं। इस तृष्णा-बीज से जो अकुर उत्पन्न होता है वह स्वय न वह बीज है, न उस बीज से भिन्न ही है। यही सत्य है। राजा उनके इस व्याख्यान को सुनकर बहुत आनदित हुआ और उसे सत्य का साक्षात्कार हो गया।

इसके अनतर राजा ने बुद्ध से अपने वेलुवन मे निवास करने की प्रार्थना की और बुद्ध ने उसे स्वीकार कर लिया। यहाँ उन्होंने अपने धर्म-सिद्धातो का उपदेश देकर तथा अपने शिष्यो को प्रशिक्षित करके इस पृथ्वी पर अपना सघ स्थापित करने का निश्चय किया।

इसके कुछ समय बाद तक भगवान् बुद्ध वेलुवन में रहे और वहाँ अपने और शिष्य बनाए, जिनमें सारिपुत्त तथा मोग्गलायन सबसे विशिष्ट थे। ये दोनो पहले सजय वेलट्ठिपुत्त के शिष्य थे।

सारिपुत्र—इनके बौद्ध धर्म-सघ में सम्मिलित होने की कथा इस प्रकार है—एक दिन बुद्ध के दो शिष्य अश्वजित् (अस्सजि) और वास्प (वप्प) भिक्षाटन करते हुए राजगृह नगर में पहुँचे। वे जितेंद्रिय थे और उनका मन शात था। सारिपुत्त, जो उपतिष्य नाम से प्रसिद्ध थे, उनकी उदात्त एव गभीर मुद्रा तथा शात व्यवहार को देखकर मुग्ध हो गए। सारिपुत्त ब्राह्मण-कुलोत्पन्न थे। उनके माता-पिता तर्कशास्त्र के पडित थे और वे स्वय एक विशिष्ट विद्वान् थे। सारिपुत्त ने अश्वजित् से उनके गुरु का नाम और परिचय पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया—'मेरे गुरु इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न महात्मा बुद्ध हैं जो सर्वज्ञ तथा देवो और मनुष्यो में सर्वश्रेष्ठ है।' जब सारिपुत्त ने उनके गुरु के उपदेशो के विषय में पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैंने अभी-अभी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की है और उसके सिद्धात इतने सूक्ष्म एव गभीर हैं कि मैं अभी उन्हें पूर्ण रूप से अविगत नही कर सका हूँ। मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ कि एक श्लोक उद्धृत कर दूँ जिसमें भगवान् के उपदेशो का सार सन्निविष्ट है।' तत्पश्चात् उन्होंने निम्नलिखित श्लोक पढा—

"ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषा तथागतो ह्यवदत्।
तेषा च यो निरोध एव वादी महाश्रमण ॥"

[जो पदार्थ हेतु से उत्पन्न हैं उनका हेतु तथागत ने बतला दिया है। उनका निरोध (जिस प्रकार किया जा सकता है वही) महाश्रमण का सिद्धात है ।]

सारिपुत्त ने, जिनका पहले ही पर्याप्त आध्यात्मिक उत्थान हो चुका था, उक्त श्लोक के वास्तविक तात्पर्य को अवगत कर लिया और उसके तर्क और युक्ति की प्रशसा की। उनके हृदय मे तत्काल यह विश्वास हो गया कि ईश्वर तथा आत्मा सत्ताहीन है और ससार के समस्त पदार्थ कारण से उत्पन्न हुए हैं। ससार के जो पदार्थ दुःख के कारण है, नित्य सुख को प्राप्त करने के लिए उनके बीज को ही नष्ट कर देना चाहिए।

मौद्गलायन—सारिपुत्त के एक मित्र थे जिनका नाम था मौद्गलायन। आध्यात्मिक साधना मे वे भी सारिपुत्त के समान ही थे। एक दिन दोनो मित्र अलग-अलग एक गुरु की खोज में निकले जो उन्हें सत्य का दर्शन करा सके। दोनो ने एक-दूसरे से प्रतिज्ञा की कि जिसको पहले सत्य का दर्शन हो जाय वह तुरत दूसरे को उस सत्य और उसके द्रष्टा एव प्रतिपादक का पता देगा। अत सारिपुत्त मौद्गलायन के घर गए और जो कुछ हुआ था उसकी सूचना उन्हें दी। मौद्गलायन ने भी सत्य के तत्त्व को अवगत कर लिया और उन्हें ज्ञान-दृष्टि प्राप्त हुई। इसमें कोई सदेह नही कि उन्हें जो इतने शीघ्र सत्य का साक्षात्कार हो गया उसका कारण उनके पूर्वजन्मो का सचित पुण्य था, जिससे उनका ज्ञान परिपक्व हो गया और उनके दोषो का क्षय हो गया।

इसके बाद उन दोनो मित्रो ने अपने पुराने गुरु सजय को छोड दिया और वे बुद्ध के भिक्षु-सघ मे सम्मिलित हो गए। सजय के अन्य ढाई सौ शिष्यो ने भी उन दोनो का अनुसरण किया। बुद्ध ने दूर से उन्हें आते हुए देखकर ब्रह्मा के स्वर में कहा—'ये दोनो मित्र, जो मेरे पास आ रहे हैं, मेरे प्रधान शिष्य होगे।' और जब वे उनके निकट आये तो बुद्ध ने उनका स्वागत किया। तुरत ही उन दोनो ने अपने वस्त्र, त्रिशूल, कमडलु और जटा को त्याग दिया और मुडित एव पीतवस्त्रधारी भिक्षु हो गए। उन दोनो को अर्हत् पद प्राप्त हो गया। उसके बाद ढाई सौ अन्य साथियो सहित दोनो ने भक्तिपूर्वक बुद्ध को प्रणाम किया और वे भिक्षु-सघ के एक पार्श्व मे बैठ गए।

महाकाश्यप—इस घटना के कुछ ही काल के अनतर, जब बुद्ध राजगृह और नालदा के बीच बहुपुत्रक चैत्य मे ठहरे हुए थे, तब वहाँ काश्यप अग्निदत्त (पाली—पिप्फलिमाणव) नाम के एक ब्राह्मण ऋषि आए, जो पहले राजगृह के एक बडे सपन्न गृहस्थ थे और जिनकी पत्नी अत्यत सुदरी थी। वे अपना सर्वस्व त्याग कर अपनी स्त्री भद्रा कापिलेया (पाली—भद्दा कपिलानी) सहित सन्यासी हो गए थे। युवावस्था मे काश्यप की विवाह करने की इच्छा नही थी, परतु अपने माता-पिता के आग्रह पर उन्होने इस शर्त

पर विवाह करना स्वीकार कर लिया था कि कन्या ऐसी मिले जो उनके द्वारा उनकी रुचि के अनुसार बनवाई गई एक सुदर स्वर्ण-मूर्ति के समान हो। खोजते-खोजते सागल में एक धनाढ्य ब्राह्मण कन्या उस मूर्ति के समान आकृतिवाली मिल गई। उसकी भी प्रवृत्ति ससार की ओर नही थी। उनका विवाह सपन्न हो गया, परतु पति पत्नी दोनो ने यह समझौता कर लिया कि एक-दूसरे को स्पर्श नही करेंगे। जब काश्यप के माता-पिता का देहात हो गया तब वे दोनो ससार से निवृत्त हो गए और दोनो ने दो भिन्न मार्ग पकडे। ब्राह्मण मुनि होने के कारण काश्यप का मन शरीर और आत्मा की एकता और दोनो के भेद के विषय मे अत्यत सशयग्रस्त हो रहा था। उधर उनकी पत्नी एक नास्तिक-सघ में सम्मिलित हो गई। काश्यप एक ऐसे गुरु की खोज में थे जो उनके सदेहो का निवारण कर सके। वे शाक्य मुनि की शात एव गभीर आकृति से बहुत प्रभावित हुए और बडी श्रद्धा के साथ उनके निकट गए। उन्होंने अपने सदेहो के निवारणार्थ उनसे सहायता की प्रार्थना की। बुद्ध ने भी उन्हें सर्वथा योग्य तथा उन सब गुणो से सपन्न पाया जा उनके सच्चे शिष्य बनने के लिए आवश्यक थे। बुद्ध ने उनका स्वागत किया और 'सम्यक् प्रहाण' का चतु सूत्री उपदेश दिया जिसके ये चार अग हैं—(१) वर्त्तमान पापो को नष्ट करना, (२) भविष्य मे उनकी वृद्धि न होने देना, (३) वर्त्तमान पुण्यो की रक्षा करना और (४) जहाँ तक हो सके उनकी वृद्धि करना। इसके अतिरिक्त उन्होंने विनय के नियमो के पालन के महत्त्व तथा इद्रियो और इद्रियगत अनुभवो के नियत्रण पर, सासारिक पदार्थों के गुणो के ग्रहण न करने पर तथा अत में चार सत्यो पर अपने व्याख्यान दिए। काश्यप ने शरीर और आत्मा के सबध मे अपने पुराने विश्वासो को त्याग दिया और उन्हे विश्वास हो गया कि मानव-जीवन के दु खो का अत विनय के नियमो के समुचित पालन द्वारा किया जा सकता है। इसके साथ ही उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि विनय के नियमो के अभ्यास को दु खो के निवारण का हेतु नही मानना चाहिए। उन्होंने दस 'कुशलो'[1] और दस 'अकुशलो' की शिक्षा के महत्त्व को समझा। वे तीन दोषो (आस्रवों[2]) तथा राग, द्वेष एव मोह से मुक्त हो गए और उन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ। उन्हें 'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता' और 'उपेक्षा' (उपेक्खा) रूप ब्रह्म-विहार भी प्राप्त हुए और उन्होंने अरूप ब्रह्मलोक में जन्म पाने

१. दस कुशल ये हैं—हिंसा, चोरी, बुरे आचरण, असत्य, कठोर वचन, परनिंदा, असगत भाषण, लोभ, द्वेष और कुविचारो से बचना।

२. काम, भव, अविद्या।

की कामना नही की, जिसके कि वे अधिकारी थे। पाली अनुश्रुति में बुद्ध के महाकाश्यप से वस्त्र-परिवर्तन को बहुत महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि एक दिन बुद्ध एक वृक्ष के नीचे कठोर धरती पर बैठने जा रहे थे उस समय महाकाश्यप ने अपने कोमल सूती वस्त्र को चौपर्त कर उसे बुद्ध के बैठने के लिए गद्दी की तरह धरती पर बिछा दिया। बुद्ध को उसका कोमल स्पर्श अच्छा लगा और काश्यप की प्रार्थना पर वे अपने खुरदुरे साण वस्त्र को काश्यप के सूती वस्त्र से बदलने को तैयार हो गए। बुद्ध ने उन्हे भिक्षुओ (धूतवादो) में श्रेष्ठ कहकर उनकी प्रशसा की। काश्यप की पत्नी भद्दा कपिलानी भी राजगृह आई और नास्तिको के एक आश्रम में ठहरी। वह बौद्ध-सघ में प्रवेश नही पा सकी, क्योकि उस समय बुद्ध ने भिक्षुणियो के सघ-निर्माण की स्वीकृति नही दी थी। उनके स्वीकृति देने के कुछ समय बाद वह महाप्रजापति गौतमी के द्वारा भिक्षुणी बनाई गई और यथासमय उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ। बुद्ध ने उसे उन भिक्षुणियो में सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशसा की थी, जिन्हें अपने पूर्व जन्म की बातें स्मरण थी।

बुद्ध का कपिलवस्तु मे आगमन

जब बुद्ध राजगृह में ठहरे हुए थे उस समय राजा शुद्धोदन ने अपने प्रधान पुरोहित के पुत्र उदायी को, जिसका जन्म राजकुमार सिद्धार्थ के ही जन्म के दिन हुआ था, छदक और अन्य राजपुरुषो के साथ बुद्ध के पास उन्हें कपिलवस्तु में बुलाने के लिए भेजा। कालुदायी और उसके साथी बुद्ध के पास गए और उनके उपदेशो को सुनकर उनके मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। उचित अभ्यास के द्वारा यथासमय उन्हे अर्हत् पद प्राप्त हुआ। उन्होने बुद्ध को राजा की इच्छा से अवगत कराया। बुद्ध ने निमत्रण स्वीकार कर लिया और साठ दिन में १८० मील पैदल चल कर वे राजगृह से कपिलवस्तु गए और वहाँ से अनतिदूर न्यग्रोध की पहाडी पर ठहरे। बुद्ध के सघ का यह दूसरा वर्ष था।

राजा राजकुमार (अब सन्यासी) का यथोचित स्वागत करने के लिए अपने बहुत से परिचरो को साथ लेकर न्यग्रोध पहाडी की ओर चले। जब वे पहाडी के निकट पहुँचे तो चिर वियोग के बाद अपने प्रिय पुत्र को देखने की आशा में उनका हृदय आनद से उछलने लगा, और जब उन्होने सिर के चारो ओर प्रभामडल से युक्त बुद्ध को पीत-वस्त्रधारी भिक्षुओ के बीच बैठे हुए देखा तब उन्हें बडा आश्चर्य हुआ। परतु अपने पुत्र की शात और गभीर मुद्रा को देखकर उनका सारा आनद फीका पड गया। बुद्ध, पिता

और पुत्र के उस पुनर्मिलन के अवसर पर प्रेम अथवा आनद के भावो से सर्वथा शून्य होकर अपने स्थान पर बैठे रहे। उनके निकट जाने पर उनके पिता शुद्धोदन की वैसी ही दशा हुई जैसी उस प्यासे मनुष्य की होती है जो पानी की खोज में भटकता है परतु पानी सामने ही रखा मिल जाने पर उसे पी नही सकता। वे अपने मन में इस प्रकार सोचने लगे—'कितना महान् पुत्र मुझे मिला, जिसके शरीर में सपूर्ण जबूद्वीप का चक्रवर्ती सम्राट् होने के सभी शुभ लक्षण विद्यमान हैं, परतु हाय! अब यह द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह कर रहा है!' भगवान् ने उनके भावो को तुरत जान लिया और उन्हें यह विश्वास दिलाने के लिए कि वे चक्रवर्ती राजा से भी महान् हैं, वे आकाश में ऊपर उठ गए और वहाँ इस प्रकार इधर से उधर टहलने लगे जैसे ठोस धरती पर चल रहे हो। फिर वे धरती के भीतर इस प्रकार धँसे जैसे नदी के पानी में डुबकी लगा रहे हो। इन चमत्कारो के प्रदर्शन का राजा और उनके साथ के अन्य शाक्यो के मन पर बडा अनुकूल प्रभाव पडा।

जब राजा का हृदय आनद से पूर्ण हो गया और अपने पुत्र के प्रति उनके मन में आदर-भाव उत्पन्न हुआ तो भगवान अधर में लटकते हुए एक कमल-पुष्प के सिंहासन पर आसीन हुए और राजा को उपदेश दिया। पहले उन्होने उनसे अपने प्रगाढ पुत्र-स्नेह को त्याग देने के लिए कहा क्योकि वह एक के बाद एक करके उनके शोको को उत्पन्न करनेवाला था। फिर उन्हें बतलाया कि मनुष्य का शोक या हर्ष उसके देह, वाणी एव मन के द्वारा किए गए कर्मों पर निर्भर है। उन्होने कहा कि एक चक्रवर्ती राजा अथवा स्वर्ग के शासक इद्र का सुख भी क्षणिक तथा एक विषैले सर्प अथवा धधकती हुई ज्वाला के समान भय एव विपत्ति का घर है और यही कारण है कि बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे सुखो को त्याग कर ऐसे विश्राम और शाति के स्थान की खोज करता है जहाँ उसकी रक्षा के लिए सेना, शस्त्र अथवा हाथी-घोडो की आवश्यकता नही होती। इन उपदेशो को सुनकर राजा के मन की स्थिति बदल गई और उन्हें बोध हो गया कि उनके पुत्र ने वह पद प्राप्त कर लिया है जो चक्रवर्ती के पद से कहीं ऊँचा है। तब उन्होने भगवान और उनके सघ के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट किया।

दूसरे दिन भगवान् भिक्षाटन करते हुए मध्याह्न के पूर्व नगर मे पहुँचे। उस समय कपिलवस्तु के सकल पुरवासी, विशेषत स्त्रियाँ, राजकुमार के भव्य रूप का दर्शन करने की अभिलाषा से समूह की समूह अपने-अपने द्वारो और गवाक्षो पर आ जुटी। राजकुमार धीर-गभीर गति से चले जा रहे थे, परतु उनकी आँखें धरती पर ही गडी हुई थी। वे सब महाश्रमण के भव्य तेजस्वी रूप को देखकर मुग्ध हो गई और मन ही मन

विसूरने लगी कि एक राजकुमार, जिसे सुसज्जित राजरथ पर सुदर बहुमूल्य छत्र के नीचे चलना चाहिए था, आज हाथ में भिक्षापात्र लिये तपती धूप में धूलभरी सडको पर नगे पाँवो पैदल जा रहा है। सबसे अधिक दु ख राहुल की माता यशोधरा को हुआ, जिसे अपने राजकुमार पति का द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगना बहुत बुरा लगा। वह दौडी हुई अपने श्वसुर राजा शुद्धोदन के पास गई और उनसे राजकुमार को इस कार्य से विरत करने की प्रार्थना की। राजा ने बहुत प्रयत्न किया कि महाश्रमण भिक्षा माँगना छोड दे। परतु वे दाता के सबध में उसके धनी वा दरिद्र अथवा उच्च वा नीच होने का कोई विचार किए बिना, जो कुछ उससे प्राप्त हो जाय उसी से जीवन-निर्वाह करने के अपने दृढ निश्चय पर अटल रहे।

भगवान् ने धर्म के अनेक उपदेश दिए, जिससे राजा शुद्धोदन रानी महाप्रजापति सहित उनके परम भक्त हो गए।

यशोधरा––जब सभी शाक्य पुरुष और स्त्रियाँ बुद्ध के प्रति अपना आदर प्रदर्शित कर रही थी उस समय यशोधरा अपने प्रकोष्ठ के बाहर नही निकली। बुद्ध स्वय अपने दो मुख्य शिष्यो के साथ उसके पास गये और उन्हें राजा शुद्धोदन से ज्ञात हुआ कि जब से उन्होने (बुद्ध ने) गृह त्याग किया तभी से वह केवल एक पीत वस्त्र धारण कर तथा दिन मे केवल एक बार आहार ग्रहण कर कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत कर रही थी। बुद्ध ने इसपर उसकी प्रशसा करते हुए उसके पूर्व जन्म की एक कथा सुनाई जिससे प्रकट होता था कि पूर्व जन्म मे भी वह बोधिसत्त्व से कितना अधिक प्रेम करती थी। जब बुद्ध उसके प्रकोष्ठ से बाहर आए तो उसने राहुल को अपने पिता के साथ जाकर उनसे अपना पैतृक दाय माँगने की आज्ञा दी। राहुल अपने पिता के पीछे-पीछे उनके आश्रम तक गया और वहाँ बुद्ध के आदेश मे सारिपुत्त ने उसे बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। उसके बाद जब महाप्रजापति ने भिक्षुणी-सघ की स्थापना की तब यशोधरा भी भिक्षुणी हो गई और उसे छ उच्च शक्तियाँ (अभिज्ञा) प्राप्त हुई।

बुद्ध के प्रति राजा शुद्धोदन की निष्ठा देखकर सभी शाक्य उनके प्रति श्रद्धावान् हो गये और विशिष्ट शाक्य-कुलो के कुछ युवको ने बुद्ध का शिष्य होने और भिक्षु-सघ मे प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। उनमें आनद, अनुरुद्ध, भद्दिय, कविल, नद और देवदत्त भी थे। राजपुरोहित का पुत्र उदायी तो पहले ही भिक्षु और अर्हत् हो चुका था, छदक और उपालि ने भी शाक्य राजकुमारो का अनुसरण किया और वे भिक्षु-सघ में सम्मिलित हो गए। बुद्ध ने अनुपिय वन मे स्वय उन सबको दीक्षित किया। राजकुमार सिद्धार्थ का एक मात्र पुत्र राहुल भी श्रमण बना लिया गया।

आनंद—आनंद राजा शुद्धोदन के भाई अमितोदन का पुत्र था। वह पुण्ण मतानी-पुत्त के उपदेश श्रवण कर स्रोतापन्न हुआ था। भिक्षु-संघ की स्थापना के बीसवें वर्ष बुद्ध ने उसे अपना सेवक बना लिया और वह पचीस वर्ष तक उनकी सभी प्रकार की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए उनकी सेवा में तत्पर रहा। आनंद के पहले उपवान उनकी सेवा किया करता था।

अनुरुद्ध—अनुरुद्ध शुद्धोदन के दूसरे भाई द्रोणोदन का पुत्र था। उसे बहुत शीघ्र दिव्य चक्षु प्राप्त हो गए थे। सारिपुत्त ने उसे ध्यानयोग की शिक्षा दी थी और बुद्ध की सहायता से उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ था। वह प्राय निरंतर बुद्ध के साथ रहा। बुद्ध उसे दिव्य चक्षु प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ मानकर उसकी प्रशंसा करते थे।

भद्दिय—भद्दिय एक प्राचीन अभिजात शाक्य कुल में उत्पन्न हुआ था और अनुरुद्ध का परम मित्र था। अनुरुद्ध की माता उसे भिक्षु-संघ में सम्मिलित नही होने देना चाहती थी, तब भद्दिय के ही यह प्रतिज्ञा करने पर कि वह अनुरुद्ध के साथ रहेगा, उसने अनुरुद्ध को अनुमति दी थी। भद्दिय ने दीक्षित होने के कुछ ही मास के अनंतर अर्हत् पद प्राप्त किया था।

नंद—नंद राजा शुद्धोदन और रानी महाप्रजापति का पुत्र था। कपिलवस्तु में बुद्ध के अभ्यागमन के तीसरे ही दिन उसके राज्याभिषेक और विवाह की तिथि नियत थी। बुद्ध उसके घर भिक्षा माँगने गए, परंतु जब राजकुमार नंद ने उनका भिक्षा-पात्र भर दिया तो उन्होंने उसे अपने हाथ में नही लिया। ,उनके प्रति श्रद्धाशील होने के कारण राजकुमार ने भी उनसे उसे ले जाने को नहीं कहा। अत उस भिक्षापात्र को लेकर नंद को उनके साथ विहार तक जाना पड़ा, जहाँ बुद्ध ने उसे गृह त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करने का का उपदेश दिया। राजकुमार नंद का मन अपनी भावी पत्नी जनपद-कल्याणी में बसा हुआ था, इस कारण वह भिक्षु होना नहीं चाहता था। उसका मन परिवर्तित करने तथा सांसारिक जीवन की अस्थिरता को सिद्ध करने के लिए बुद्ध ने कुछ अप्सराएँ उत्पन्न की, जिनकी सुंदरता जनपदकल्याणी से कहीं बढ़कर थी। उनमें से एक इस शर्त पर नंद को देने को कहा कि वह भिक्षु बन जाय और उनके उपदेशों के अनुसार अभ्यास और आचरण करे। राजकुमार नंद सहमत हो गया और कुछ ही समय में कठिन परिश्रम के द्वारा उसने अपनी गृह-जीवन की दुर्बलताओं से मुक्त होकर अर्हत् पद प्राप्त किया।

देवदत्त—देवदत्त शाक्य सुप्पबुद्ध (बुद्ध के मामा) का पुत्र और यशोधरा का भाई था। दीक्षित होने के कुछ ही समय के बाद उसने कुछ अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर ली,

जिनके द्वारा वह अजातशत्रु का समर्थन प्राप्त करने में समर्थ हुआ। बुद्ध के सघ के सैतीसवें वर्ष उसे बुद्ध के सुयश से द्वेष हो गया और वह उनका शत्रु हो गया (देखिए आगे पृ० ८८-९०)।

उपालि—उपालि, जो विनय के नियमो का मानो आश्रय-स्थान था और बुद्ध के प्रधान शिष्यो में से अन्यतम था, कपिलवस्तु के एक नाई परिवार में उत्पन्न हुआ था। वह शाक्य युवको के साथ अनुपिय वन गया था और उनकी दीक्षा के समय उनके त्यागे हुए सब आभूषण उसे प्राप्त हुए थे। उसे लेने से उसका मन हिचका और उसने भिक्षु बनने का निश्चय कर लिया। बुद्ध ने शाक्य राजकुमारो की कुलीनता का अभिमान तोडने के लिए उस नाई को सबसे पहले स्वय दीक्षा दी, क्योकि भिक्षु के रूप में उसके उन सबसे ज्येष्ठ होने के कारण उन्हे उसका अभिवादन करना पडा। विनय के पडितो में श्रेष्ठ होने के कारण बुद्ध उसकी प्रशसा करते थे। बुद्ध के जीवन-काल में भी वह भिक्षुओ को विनय की शिक्षा देता था और विनय के नियमो एव उनकी व्याख्या के सबध में सर्वोपरि प्रमाण माना जाता था।

छदक—छदक राजकुमार सिद्धार्थ का परिचारक और सारथी था। जब बुद्ध का कपिलवस्तु में प्रथम बार अभ्यागम हुआ उस समय वह भिक्षु-सघ में सम्मिलित हो गया।

राहुल—राहुल जब सात वर्ष के बालक थे तभी श्रमण बना लिए गए थे। वे स्वय बुद्ध की तथा उनके प्रधान शिष्यो की निरतर देखरेख मे रखे जाते थे। कहा जाता है कि एक बार इस नियम का पालन करने के लिए कि पूर्ण दीक्षित भिक्षुओ को श्रमणो के साथ एक ही कमरे में नही सोना चाहिए, राहुल ने एक रात बुद्ध के शौचालय के आँगन में सो कर बिताई थी। बुद्ध ने जब उन्हें प्रात काल वहाँ सोते पाया तो वे बहुत अप्रसन्न हुए और राहुल के शिक्षको—सारिपुत्त और मोग्गल्लायन—को आदेश दिया कि वे श्रमण के जीवन की सामान्य आवश्यकताओ का ध्यान रखा करे।[1] भिक्षुओ द्वारा अपने प्रति पक्षपात किए जाने पर राहुल सदा उससे अपने को बचाते थे। अठारह वर्ष के होने पर उन्हे उच्चतर शिक्षा दी गई और कालातर में उन्होने अर्हत् पद प्राप्त किया।[2] सावको में सर्वोत्तम कहकर बुद्ध उनकी प्रशसा करते थे।

अनाथपिंडिक—कपिलवस्तु मे प्रत्यागत होने पर जब बुद्ध राजगृह के सीमावर्ती

१ जातक, स० १६।
२. मज्झिम निकाय, राहुलवाद सुत्त।

सीतावन चैत्य मे ठहरे हुए थे उस समय सुदत्त नाम का कोसल का एक असाधारण धनी श्रेष्ठि राजगृह आया और अपने मित्र, मगध के एक श्रेष्ठि, के घर ठहरा। उसे वहाँ ज्ञात हुआ कि प्रसिद्ध महात्मा शाक्यमुनि सीतावन में ठहरे हुए है। उसके मन में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी, अत वह उनके दर्शनो के लिए अधीर हो उठा। वह रात्रि मे बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ, जिन्होने उसे उसका नाम लेकर सबोधित किया और कहा कि तुमने अच्छा किया कि अपनी निद्रा को वश में करके हमारे धार्मिक उपदेश सुनने के लिए आए।

बुद्ध ने उससे कहा कि 'तुम्हारे सपूर्ण धन-वैभव और यश तथा मेरे प्रति तुम्हारी श्रद्धा और विश्वास का कारण तुम्हारे पूर्व जन्म में किए गए पुण्य कर्म हैं। मैं तुम्हें शील और त्याग-धर्म का उपदेश करूँगा जिससे तुम्हें दिव्य जीवन प्राप्त होगा, परतु उसमें दु ख का अभाव नही होगा। अत यह जानकर कि सासारिक पदार्थों की कोई स्थायी सत्ता नही है और वे केवल कुछ क्षणभगुर तत्त्वो और गुणो के समवाय हैं, तुम्हें उस अवस्था को प्राप्त करने में प्रवृत्त होना चाहिए जिसमें जन्म, जरा, रोग और मृत्यु जनित दु खो का सर्वथा अभाव है।' उन्होने इस प्रकार की युक्तियाँ उपस्थित की कि सर्वशक्तिमान् एव विश्व के स्रष्टा ईश्वर में विश्वास तर्कसगत नही है, क्योंकि यदि ऐसा कोई ईश्वर होता तो उसके द्वारा उत्पन्न किये गये जीवो को दु ख न भोगना पड़ता। भला कौन पिता चाहेगा कि उसकी सतान दु ख भोगे? यदि ईश्वर स्रष्टा है तो उसे अपनी सृष्टि-रचना का कार्य बद न करके बराबर करते रहना चाहिए, सृष्टि को अपने-आप विकसित होने के लिए नही छोड़ देना चाहिए। यदि सब जीव ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये हुए होते तो कर्मों और उनके परिणामो में बुरे और भले का भेद न होता। यदि सभी जीव उस ईश्वर से अभिन्न हो तो जीवो द्वारा किए गए सभी कर्म उसी के कर्म हुए। यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि ससार की सत्ता का कारण ईश्वर नही, प्रकृति के नियम (स्वभाव) हैं, तो यह भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ कारण से चेतन कार्य (जीव) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यह सर्वथा तर्क-विरुद्ध है कि कार्य अपने कारण से नितात भिन्न हो। और भी, यदि सभी पदार्थ 'स्वभाव' से उत्पन्न हुए है तो उससे मुक्ति पाने का प्रयत्न अनावश्यक है। दु ख और सुख दोनों एक साथ नही हो सकते। इसी प्रकार आत्मा से भी ससार की उत्पत्ति असिद्ध की जा सकती है। आत्मा सृष्टि का कर्ता हो नही सकता। कारण कि सुख और दु ख की स्वतत्र सत्ता तो है नही, उन्हें भी आत्मा से उत्पन्न मानना पड़ेगा, और आत्मा भल दु ख क्यो उत्पन्न करने लगा? दु ख और सुख को उत्पन्न करनेवाले आत्मा नही,

मनुष्य के अपने ही कर्म है। ससार के समस्त सत्तावान् पदार्थ बिना किसी कारण उत्पन्न नही होते और न वे असत् या अभाव से ही उत्पन्न होते है। सक्षेप में, समस्त पदार्थ निश्चय ही किसी-न-किसी कारण से उत्पन्न होते है।

बुद्ध की इन युक्तियो को सुनकर अनाथपिंडिक का हृदय नम्र और मृदुल हो गया। उनके उपदेशो का उच्च आशय उसकी समझ में भली भांति आ गया। तब उसने निवेदन किया—'मै श्रावस्ती का निवासी हूँ, जो धन-धान्य से पूर्ण है और जहाँ लोग शाति-पूर्वक जीवन व्यतीत करते है। देश का राजा सिहवशीय प्रसेनजित् बडा उदार और यशस्वी है। मेरी इच्छा है कि मै भगवान् के निमित्त वहाँ एक विहार का निर्माण कराऊँ। यद्यपि मै जानता हूँ कि भगवान् के लिए किसी निवासस्थान की आवश्यकता नही है, परतु मेरी विनीत प्रार्थना है कि नगरवासियो के कल्याण के लिए भगवान् उसे स्वीकार करने की कृपा करें।' उसकी प्रार्थना निर्दोष एव नि स्वार्थ होने के कारण बुद्ध उससे प्रभावित हुए और कहा—'धन चचल होता है, अत कृपण बनकर उसे सचित रखने और सदा उसकी रक्षा की चिता में पडे रहने की अपेक्षा मनुष्य के लिए यही उत्तम है कि वह उसका त्याग करे। दानी पुरुष सभी के प्रिय होते है और सभी श्रेष्ठ और सज्जन व्यक्ति उसके मित्र बनना चाहते है। उसे कभी भय और पश्चात्ताप नहीं होता। वह कभी निम्न योनियो में जन्म नही लेता। निश्चय ही इस जीवन के बाद वह देवलोक में जन्म पाता है। वह ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध को त्यागकर मानसिक शाति का अनुभव करता है और ध्यान के अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य पौधा रोपता है और उसके बढकर वृक्ष हो जाने पर उससे छाया, फूल और फल प्राप्त करता है उसी प्रकार दानी पुरुष का दान उसे आनद, सौंदर्य, प्रचुर भोजन-वस्त्र तथा अत मे निर्वाण से पुरस्कृत करता है। दान का एक सर्वोत्तम प्रकार विहारो का निर्माण है और इस दान का दूना फल होता है।

जेतवन—सारिपुत्त को श्रावस्ती मे प्रस्तावित विहार के लिए एक उपयुक्त स्थल चुनने का भार सौंपा गया। उनके साथ अनाथपिंडिक एक सुदर स्थल की खोज मे निकला और राजकुमार जेत का वन उसे जँच गया। राजकुमार जेत को अपना वन बहुत प्रिय था, अत उसने कहा मै उसे तभी दे सकता हूँ जब उसका क्रेता मूल्य में उसे स्वर्ण-मुद्राओ से ढक दे। अनाथपिंडिक इससे बहुत प्रसन्न हुआ और गाडियो मे स्वर्ण-मुद्राएँ भर-भर कर वन में उतारने लगा। तब राजकुमार जेत ने कहा 'मै वस्तुत इस भूमि को बेचना नही चाहता।' अत यह विवाद न्यायालय मे उपस्थित किया गया। जब राजकुमार को विदित हुआ कि वह भूमि बुद्ध और उनके शिष्यो के लिए विहार बनवाने के प्रयोजन

से ली जा रही है तो उसने कहा कि 'मै केवल आधी स्वर्णमुद्राएँ वन की भूमि के लिए लूँगा और वृक्ष मेरी ही सपत्ति रहेंगे।' वुद्ध का नाम सुनकर उसे भी श्रद्धा हो गई और उसकी इच्छा उन वृक्षो को अपनी ओर से वुद्ध को भेंट करने की हुई। तब वुद्ध और सघ के प्रतिनिधि सारिपुत्त को अनाथपिडिक ने जेतवन की भूमि का और राजकुमार जेत ने उसके वृक्षो का दान करने का सकल्प किया। तब सारिपुत्त के अधीक्षण में स्थपतियो ने दिनरात परिश्रम करके विशाल शालाओ का निर्माण किया, जो सुदरता मे राजप्रासादो से भी वढकर थी। यह विहार लोक में बहुत प्रसिद्ध हुआ और श्रावस्ती के पथो और वीथियो मे सर्वत्र पीत-वस्त्रधारी भिक्षु दिखलाई पडने लगे।[1]

राजा प्रसेनजित्—वुद्ध जब कपिलवस्तु से श्रावस्ती गए तो नगर फूलो और फौव्वारो से सजाया गया और सुदर पक्षियो के मधुर कलरव मे नगर की शोभा अत्यत आकर्षक हो गई। जेतवन विहार एक खूब सजाए हुए राजप्रासाद-सा दिखाई पडता था और उसमें चारो ओर पुष्पो तथा धूप की सुगध फैल रही थी। वह सब प्रकार से भगवान् वुद्ध के निवास के योग्य वनाया गया था। वुद्ध के वहाँ पधारने पर अनाथपिडिक ने एक सर्पाकृति स्वर्णपात्र से जल ढार कर वुद्ध और उनके चतुर्दिक्व्यापी सघ को भूमिसहित उस जेतवन विहार का दान कर दिया।

नगर में वुद्ध के आगमन का समाचार पाकर राजा प्रसेनजित् अपने परिजनो और परिचरो सहित तुरत विहार मे गए और उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करके कहा कि 'यह मेरा परम सौभाग्य है कि भगवान् वुद्ध जैसे महात्मा के चरणो मे मेरे राज्य की भूमि पवित्र हुई।'

वुद्ध ने लक्ष्य किया कि राजा का मन वैभव और विषय-भोगो मे रमता है, अत उन्होंने उन राजाओ की चर्चा की जिन्हें अपने सत्कर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त हुआ अथवा

१. वुद्ध के विभिन्न जीवन-चरितो में उनके कपिलवस्तु में प्रथम अभ्यागम तक की घटनाओ के कालक्रम में विशेष अतर नहीं पाया जाता। उसके वाद, पाली ग्रथो में यह लिखा मिलता है कि वुद्ध कपिलवस्तु से लौट कर राजगृह आये, जहाँ अनाथपिडिक ने उनकी पहली भेंट हुई और उन्होंने उसका श्रावस्ती जाने का निमत्रण स्वीकार किया। परतु सस्कृत ग्रथो के अनुसार वुद्ध से अनाथपिडिक की भेंट उनके कपिलवस्तु जाने के पहले ही हुई और वुद्ध कपिलवस्तु से लौटकर श्रावस्ती गये जहाँ उन्होंने तीसरा चौमासा विताया। पाली ग्रथो में कहा गया है कि वुद्ध ने दूसरी, तीसरी और चौथी वर्षाएँ (वस्सा) राजगृह में विताईं।

पापो के कारण नरक भोगना पडा था। उन्होने उन्हे प्रजा पर अत्याचार न करने, जीव-हिंसा से विरत होने, अपनी इद्रियो को वश में करने और अधर्मपूर्ण विधियो का त्याग कर सन्मार्ग पर चलने का, तथा कष्टमय तपो और व्रतो का प्रचार एव मिथ्या विचारो का प्रतिपादन करनेवाले पाखडी गुरुओ से बचते रहने का उपदेश दिया। उन्होने राजा से राजधर्म का पालन करने, अपने को दूसरो से बहुत बडा न समझने, अपनी बुद्धि से विचार कर कार्य करने तथा सासारिक पदार्थों की अनित्यता पर गभीरता-पूर्वक विचार करने का अनुरोध किया। आगे उन्होने उन्हें यह भी समझाया कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से कभी बच नही सकता, वह जो बोयेगा वही उसे काटना पडेगा। धतूरे के पेड में से गेहूँ के दाने नही पा सकता। जन्म, जरा, रोग और मृत्यु की अचल-अलघ्य दीवार के घेरे में मनुष्य बदी है, वह उसमें से निकलकर भाग नही सकता। इस पृथ्वी पर एक सिकता-कण से लेकर सुमेरु पर्वत तक तथा एक लघु कीट से लेकर अरूप-लोक के जीवो तक सभी नाशवान् हैं। बुद्धिमान् पुरुष जगत् के इस मिथ्या और अनित्य रूप को तथा सदा मृत्यु के समान दु ख देनेवाले दु ख की सत्ता को जानकर सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने और उसके द्वारा जन्म-मरण के चक्र तथा तज्जनित उन दु खो से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है।

इसमें सदेह है कि बुद्ध के इन उपदेशों का राजा पसेनदि के मन पर कोई प्रभाव पडा, क्योकि न तो ब्राह्मणो के यज्ञो और कर्मकाड पर से उसका विश्वास हटा, न उन नास्तिक गुरुओ के प्रति उसके आदर-भाव में कोई कमी हुई जिन्हें बुद्ध ने अधर्म-मार्ग का प्रदर्शक बतलाया था। इसके विपरीत, उस राजा की यह इच्छा थी कि वे मिथ्या-चारी गुरु गौतम बुद्ध के यश को उन अलौकिक शक्तियो के प्रदर्शन द्वारा अपकर्षित करें जो साधारण लोगो के लिए धार्मिक वा दार्शनिक शास्त्रार्थों की अपेक्षा अधिक रुचिकर थीं।

बुद्ध और उनके सघ की लोकप्रियता के बढने के साथ-साथ उन मिथ्याचारी धर्म-गुरुओ और उनके अनुयायियो का प्रभाव सर्वसाधारण पर से अनुदिन घटता जा रहा था। पाली ग्रथो में बुद्ध और उनके शिष्यो द्वारा उन गुरुओ के पराभव की कुछ कथाएँ मिलती हैं।

पहली कथा के अनुसार राजगृह के एक धनी सेठ (सेट्ठि) ने एक बहुत लबे बाँस के ऊपरी सिरे पर एक लाल चदन का कटोरा रखकर यह घोषणा की कि कटोरा उन मुनि या सन्यासी को दिया जायगा जो हवा में ऊपर उठकर उसे ले सके। मिथ्याचारी

मुनियो में से किसी में इतनी शक्ति न थी, अत वे निराश हो गए। उस समय पिंडोल भरद्वाज उधर के मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने अपने एक भक्त के द्वारा उस घोषणा की बात सुनी और बुद्ध तथा सघ की महत्ता स्थापित करने के लिए वे आकाश में उड़ते हुए गये और उस कटोरे को ले लिया। जब बुद्ध के पास यह समाचार पहुँचा तो अपने शिष्यो द्वारा अलौकिक शक्तियो के प्रदर्शन को उन्होंने उचित नही समझा और सभी भिक्षुओ के लिए उसका निषेध कर दिया। परतु अपने को उन्होंने उस प्रतिबंध से मुक्त रखा और जब वे अपने धर्म के प्रचार के लिए आवश्यक समझते थे तो अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करते थे।[1]

दूसरी कथा वैशाली में फैली हुई महामारी से सबधित है, जिससे वहाँ के निवासियो के बचने का कोई उपाय सभव नही प्रतीत हो रहा था। वे अन्य सभी धर्मगुरुओ के पास गए, किंतु कोई भी उस भयकर महामारी से उन्हें बचाने का उपाय न बता सका। अत मे वे बुद्ध के निकट गए जो उनके दुख को दूर करने के उद्देश्य से वैशाली गए। जैसे ही वे नगर में प्रविष्ट हुए, महामारी बद हो गई और वहाँ के निवासी स्वस्थ और आनदित हो गए।

तीसरी कथा में सावत्थी में बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित उस चमत्कार का उल्लेख है जिसमें उन्होंने कुछ ही क्षणो में एक आम का वृक्ष उगा दिया था और फिर उसी भाँति आकाश में गमन किया था जैसे वे कपिलवस्तु में कर चुके थे। एक विशाल सभा में जिसमें राजा पसेनदि की प्रजा बहुत बडी सख्या में उपस्थित थी, उक्त चमत्कार का प्रदर्शन करने के बाद बुद्ध का यश फिर एक बार चमक उठा और मिथ्याचारी मुनियो को विशाल जन-समूह के समक्ष उनसे पराभूत होना पडा।

अलौकिक शक्तियो की प्रतियोगिता में बुद्ध की समता न कर सकने पर उन्होंने बुद्ध को दुष्ट उपायो से कलकित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने चिंचा माणविका नाम की एक धूर्त किंतु सुदर स्त्री को, जो उनके भक्तो में से थी, बुद्ध के चरित्र को लांछित करने के लिए नियुक्त किया। उसे आदेश दिया गया कि वह प्रतिदिन सायकाल जेतवन विहार में जाया करे, रात्रि किसी दूसरे स्थान पर व्यतीत करे और प्रात काल यह प्रकट करे कि वह जेतवन से निकलकर आ रही है। चिंचा ने उनके आदेशो के अनुसार कार्य किया और कुछ समय के बाद जब बुद्ध एक बार धर्म का प्रवचन कर रहे थे उसी समय वह वहाँ गर्भवती होने का स्वाँग करके उपस्थित हुई और लोगो से कहा कि यह गर्भ बुद्ध का है।

१. विनय० २, पृ० ११०।

उस स्त्री की ऐसी धूर्तता देखकर इद्र के हृदय को बडा आघात लगा और उसने उपस्थित जनसमूह के समक्ष यह सिद्ध करके कि यह वस्तुत गर्भवती नही है, उसकी सारी दुष्टता प्रकट कर दी। उसके वाद लोगो ने उसे खूब पीटा और अत में अपने दुष्कर्म के फलस्वरूप वह भयकर अग्नि मे जल मरी।

महाप्रजापति—जब बुद्ध श्रावस्ती में ठहरे हुए थे, उन्ही दिनो शाक्यो और कोलियो में बडा कटु विवाद हो गया। इन दोनो जातियो में एक से पिता के नाते और दूसरी से माता के नाते बुद्ध का घनिष्ठ सबध था। विवाद रोहिणी नदी से पानी लेने के विषय में था। रोहिणी दोनो जातियो के राज्यो के बीच से बहती थी। कोलियो ने एक बाँध बनाकर नदी के प्रवाह को रोक दिया और उसे अपने खेतो को सीचने के लिए मोड लिया। अन्न पकने के पहले केवल एक बार उन खेतो को सीचना आवश्यक था। शाक्यो ने उनकी आवश्यकता और उनके कहने-सुनने पर कुछ भी ध्यान नही दिया और कहा कि हम अपने पडोसियो से अन्न क्रय करने के लिए अपने शोणरत्नो, नीलमणियो और कार्षापणो को नष्ट नही करेंगे। दोनो पक्ष एक-दूसरे को गालियाँ देने और प्रत्येक के वश में दोष दिखलाने लगे। झगडा यहाँ तक वढा कि दोनो पक्ष रोहिणी के दोनो तटो पर आमने-सामने युद्ध के लिए आ डटे। बुद्ध की इच्छा नही थी कि उनके सबधी आपस मे लडें और दोनो जातियो के लोग मारे जायँ। इसलिए वे उस स्थान पर गए और व्याख्यान और दृष्टातो के द्वारा उन्हें पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के कुपरिणामो से अवगत कराने का प्रयत्न किया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा वे न केवल उस विवाद को शात करने मे सफल हुए अपितु उन्होने उनमें से अनेक को भिक्षु वनकर अपने सघ मे सम्मिलित होने के लिए तैयार कर लिया, जिसके कारण अनेक स्त्रियो को पतिविहीन होना पडा। वे सब स्त्रियाँ एकत्र होकर महाप्रजापति गौतमी के पास गई और उससे एक भिक्षुणी-सघ स्थापित करने का आग्रह किया। जब बुद्ध प्रथम बार कपिलवस्तु गए थे तो महाप्रजापति ने उनमे स्त्रियो के धार्मिक जीवन के लिए कोई व्यवस्था करने की प्रार्थना की थी, परतु वह इस आधार पर अस्वीकृत हुई थी कि स्त्रियाँ गृहस्थ-जीवन के लिए अधिक योग्य हैं और उन्हे गृहस्थी मे ही उपासिका बनकर पुण्य-सचय करना चाहिए।

अपने बुद्धत्व के पाँचवें वर्ष, जब बुद्ध वैशाली मे ठहरे हुए थे तो उन्हें मृत्युशय्या पर पडे हुए राजा शुद्धोदन को देखने के लिए वहाँ से कपिलवस्तु जाना पडा था। राजा की मृत्यु के पश्चात् वे वैशाली लौट आए और वही शोक से व्यथित महाप्रजापति गौतमी भी उन शाक्य और कोलिय स्त्रियो को साथ लिए जा पहुँची जिनके पति पहले

ही भिक्षु हो चुके थे। उन सबने सिर मुडाकर पीले वस्त्र पहिन लिए। महाप्रजापति ने पुन बुद्ध से भिक्षुणी-सघ बनाने की अनुमति देने के लिए प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने अस्वीकार किया और कहा कि स्त्रियो को केवल साधारण भक्त बनकर रहना चाहिए, भिक्षुणी नही होना चाहिए। परतु अत में आनद के कहने से उन्होंने अपना विचार बदल दिया और इस शर्त पर भिक्षुणी-सघ बनाने का सम्मोदन किया कि भिक्षुणियाँ उनके द्वारा अपने ऊपर लगाए गए आठ प्रतिबधो को स्वीकार करें।[1] महाप्रजापति ने अनिच्छापूर्वक उन प्रतिबधो को स्वीकार किया और भिक्षुणी-सघ का निर्माण किया, जिसमें ऐसी बहुत सी स्त्रियाँ सम्मिलित हुई जो वियोग के कारण व्यथित थी या पारिवारिक जीवन से ऊब गई थी, अथवा जिनके पति भिक्षु हो गए थे।

कहा जाता है कि बुद्ध ने अपनी छठी वर्षा मकुल की पहाडी पर बिताई। इस पहाडी की पहचान अभी तक नही हुई है और न किन्हीं धर्म-व्याख्यानो में उनका उल्लेख हुआ है।[2] यह श्रावस्ती के निकट का कोई एकात स्थान हो सकता है जहाँ से बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को गए थे।

१. वे आठ प्रतिबध इस प्रकार हैं—
   (१) भिक्खुणी, चाहे वह कितनी भी ज्येष्ठ क्यो न हो, भिक्खु का सम्मान करे, किंतु भिक्खु कदापि भिक्खुणी का सम्मान न करे।
   (२) भिक्खुणी किसी ऐसे विहार में वस्सा (वर्षा) न बिताए जहाँ कोई भिक्खु न हो।
   (३) भिक्खुणी प्रति पक्ष में भिक्खुओ द्वारा भिक्खुणियो के उपदेश के लिए नियत दिन तथा उपोसथ की तिथि किसी भिक्खु से पूछ लिया करे।
   (४) भिक्खुणी पहले भिक्खु-सघ में, फिर भिक्खुणी-सघ में 'पवारणा' अवश्य करे।
   (५) भिक्खुणी पहले भिक्खु-सघ से, फिर भिक्खुणी-सघ से मनत्त-अनुशासन अवश्य ग्रहण करे।
   (६) भिक्खुणी भिक्खुणी-पतिमोक्ख के छ पचित्तिय नियमों (६३-६८) की शिक्षा के बाद क्रमश दोनों सघो से उपसपद प्राप्त करे।
   (७) भिक्खुणी भिक्खु की निंदा कदापि न करे।
   (८) भिक्खुणी कभी भिक्खु को उपदेश न दे, न भिक्खुओ के लिए उपोसथ या पवारणा की तिथि नियत करे।

२. यह सुनपरन्त का मकुलाराम नहीं है।

सातवें बुद्ध-सवत् में अपनी माता महामाया को उपदेश देने के लिए बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में गए थे, जहाँ वह उस समय एक देवी के रूप मे रहती थी। पाली ग्रथो में कहा गया है कि बुद्ध ने सातवी वर्षा वही व्यतीत की। 'धम्मसगनि' की टीका में सुरक्षित पिछली अनुश्रुतियो मे कहा गया है कि मर्त्य होने के कारण बुद्ध को प्रतिदिन पृथ्वी पर भोजन के समय भोजन करने के लिए आना पड़ता था, जिसे सारिपुत्त उनके लिए प्रस्तुत रखते थे। भोजन के अनतर वे प्रतिदिन सारिपुत्त को अपनी माता को दिए गए उपदेशो का सार बतला दिया करते थे। यह सार एक विषय-सूची (मातिका) के रूप में था, जिसे अभिधम्म पिटक के रूप में विस्तारित कर सारिपुत्त ने अपने शिष्यो को प्रदान किया।[1]

त्रयस्त्रिंश स्वर्ग मे अपने उपदेशो का व्याख्यान समाप्त करने के बाद बुद्ध जबू-द्वीप में साकाश्य (जिला फर्रुखाबाद) नामक स्थान पर आए। उनके अवतरण का दृश्य प्राचीन मूर्तिकारो का एक प्रिय विषय था, जिसे वे पृथ्वी को स्पर्श करती हुई एक सीढी बनाकर व्यक्त किया करते थे।

बुद्ध आठवी वर्षा भग्ग देश में (जहाँ कौशाबी के राजा उदेन के पुत्र बोधिराज-कुमार ने उनका सत्कार किया) सुसुमार गिरि पर व्यतीत करने के बाद कौशाबी गए और नवी वर्षा वही व्यतीत की। दसवी वर्षा उन्होंने वहाँ के निकटस्थ वन पारिलेय्यक मे बिताई। कौशाबी में मुख्य घटना यह हुई कि धम्मकथिको के गुरु की किसी छोटी-सी भूल पर वहाँ के धम्मकथिको और विनयधरो में झगडा हो गया। झगडा यहाँ तक बढा कि बुद्ध के हस्तक्षेप करने पर भी दोनो पक्षो मे समझौता न हो सका। कौशाबी के भिक्षुओं और श्रमणो का ऐसा झगडालू स्वभाव देख बुद्ध को उनमे विरक्ति हो गई

१. किन्तु एक ग्रथ, अभिधम्मपिटक का कथावत्थु, ऐसा है जो सारिपुत्त द्वारा निर्मित नहीं है। सर्वास्तिवादियो के अनुसार अभिधर्मपिटक के प्रत्येक ग्रंथ के कर्ता अलग-अलग हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) आर्य कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थान सूत्र, षट्पादो सहित,
(२) स्थविर वसुमित्र का प्रकरणपाद,
(३) स्थविर देवशर्मा का विज्ञानकाय,
(४) आर्य सारिपुत्त का धर्मस्कन्ध,
(५) आर्य मौद्गलायन का प्रज्ञप्ति शास्त्र,
(६) पूर्ण का धातुकाय,
(७) महाकौस्थिल का सगीति-पर्याय।

और वे पारिलेय्यक वन में चले गए, जहाँ एक हाथी और एक बदर उनकी सेवा करते थे। बुद्ध का यह भाव देख कौशावी के भिक्षुओ और श्रमणो को पश्चाताप हुआ और आपस मे मेल करके वे भगवान् के निकट क्षमा-प्रार्थना करने के लिए गए। इस अवसर पर बुद्ध ने भिक्षुओ के पारस्परिक कलह के कुपरिणामो के विषय में उपदेश दिया।

कौशावी से सबधित केवल एक कथा और प्रसिद्ध है। इसके अनुसार मागडिया के पिता ने अपनी सुदरी कन्या मागडिया का विवाह बुद्ध से करने का प्रयत्न किया था, यद्यपि उसकी माता ने, जो मनुष्य के लक्षणो का ज्ञान रखती थी, इस प्रयत्न का विरोध किया था। बुद्ध के उस विवाह-प्रस्ताव पर ध्यान न देने के कारण मागडिया ने उसे अपना अपमान समझा और उसने बुद्ध से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। अपने अतुल सौंदर्य के कारण वह कौशावी के राजा उदेन की रानी बनी और एक बार उसने षड्यत्र करके अपनी सपत्नी रानी सामावती को, बुद्ध के प्रति उसकी भक्ति होने के कारण, कलकित करने का प्रयत्न किया। परतु अत में राजा को उसके घृणित उद्देश्य का पता लग गया।

ग्यारहवी वर्षा में बुद्ध ने राजगृह के निकट ब्राह्मणो के एकनाला नामक ग्राम मे निवास किया। उस समय कृषि-भरद्वाज नामक एक सपन्न ब्राह्मण ने कृषि-पर्व मनाया। उसने इस अवसर पर बडी धूमधाम से तैयारियाँ कीं, बहुत से बैल और हल एकत्र किए, उन्हें भली भाँति सजाया और उत्सव में सम्मिलित होनेवाले सहस्रो मनुष्यो को भोजन कराया। कृषि-भरद्वाज ने बहुत पुण्य अर्जित किए थे, और बुद्ध ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित करने के लिए इस अवसर को उपयुक्त समझा। अत वे उस स्थान पर गये जहाँ उत्सव मनाया जा रहा था और वहाँ एक ऊँचे टीले पर बैठ गए। उनकी देह से तेज की किरणें निकल रही थी। उनके दिव्य तेज को देख लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ और वे जाकर उनके चारो ओर जुट गए और उन्हे प्रणाम किया। ब्राह्मण इससे अप्रसन्न हुआ और उसने यह कहकर बुद्ध का उपहास किया कि यह कोई निठल्लू है, अपने पसीने की कमाई खानेवाला कृषक नही। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं भी कृषक हूँ, यद्यपि भिन्न प्रकार का। मेरा खेत धर्म है। उसमे से कामनाओ का वन काटकर उसे ज्ञान के हल से जोतना पडता है। उसमें शुचिता का बीज बोया जाता है और धार्मिक नियमो के पालन द्वारा उसका सिंचन और पोषण किया जाता है। तब उसमें निर्वाण का शस्य उत्पन्न होता है। बुद्ध के इस उत्तर को सुनकर ब्राह्मण के मन में अकस्मात् परिवर्तन हो गया और वह तत्काल भगवान् का अनन्य भक्त हो गया।

बुद्ध एकनाला छोडकर श्रावस्ती गए, जहाँ वेरज के कुछ ब्राह्मणो ने उन्हें निमत्रित

किया था। यह स्थान (=वैरभ, दक्षिण पचाल में) मथुरा के निकट था। वुद्ध ने निमत्रण स्वीकार कर लिया और वे वहाँ बारहवी वर्षा में निवास करने के लिए गए। सर्वास्तिवाद की अनुश्रुति में कहा गया है कि वुद्ध वहाँ वैरभ के ब्राह्मण शासक राजा अग्निदत्त के निमत्रण पर गए। वहाँ ऐसा हुआ कि उस स्थान पर वृद्ध और उनके शिष्यो के निवास करते समय एक दुर्भिक्ष पडा और वहाँ के निवासी भिक्षुओ को भोजन नही दे सके। कहा जाता है कि अग्निदत्त के ब्राह्मण मत्री वहाँ वृद्ध का रहना पसद नही करते थे, और उन्ही की कुमत्रणा से राजा अग्निदत्त ने अपनी प्रजा द्वारा भिक्षुओ को भोजन दिए जाने का निपेध कर दिया। सौभाग्य से घोडो के व्यापारियो का एक सार्थ उस समय उसी स्थान से होकर जा रहा था और वे अपने पास घोडो के लिए जौ लिए हुए थे। व्यापारियो ने उस अन्न की एक नियत मात्रा भिक्षुओ को दी जिससे वे भूखो मरने से वच गए। मौद्गलायन और वुद्ध के कुछ अन्य शिष्यो की इच्छा थी कि दिव्य शक्ति द्वारा अन्न प्राप्त किया जाय, परतु वुद्ध ने इसका निपेध कर दिया। कहा जाता है कि वुद्ध की एक स्त्री भक्त घोडो के खाने योग्य उस अन्न को छाँट पीसकर उसे मनुष्यो के खाने योग्य वना दिया करती थी। विनय के इस नियम का पालन करने के लिए कि भिक्षुओ को वर्षा एक ही स्थान पर व्यतीत करनी चाहिए, भिक्षुओ ने उन अश्व-व्यापारियो द्वारा वर्षा-यापन के लिए दिए गए अन्न की परिमित मात्रा से किसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह किया। वर्षाकाल समाप्त होने पर राजा अग्निदत्त की बुद्धि ठिकाने आई। उसे अपनी भूल समझ में आ गई और पश्चात्ताप करते हुए उसने बुद्ध से उसके लिए क्षमा-प्रार्थना की। बुद्ध ने सहर्ष उसे क्षमा कर दिया और एक दिन उसका निमत्रण स्वीकार कर उसके यहाँ पधारे। उसके वाद वुद्ध और उनके शिष्य उस स्थान को छोडकर सोरेय्य, सकास्य, कनौज और इलाहावाद होते हुए वनारस पहुँचे।

महाकात्यायन—वनारस मे निवास करते समय वुद्ध की भेट महाकात्यायन से हुई, जो उनके अत्यत विशिष्ट शिष्यो में से अन्यतम थे। वे अवती के राजा चड प्रद्योत के राजपुरोहित के पुत्र थे। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे अपने पिता के पद के अधिकारी हुए। राजा ने वुद्ध को अपने देश में निमत्रित करने के लिए महा-कात्यायन को उनके पास भेजा। सात व्यक्तियो के साथ वे वुद्ध के पास गए और उनके उपदेशो को सुनकर अर्हत् हो गए। उन्होने वुद्ध से राजा का निमत्रण निवेदित किया, परतु वुद्ध ने अवती जाना स्वीकार नही किया और कहा कि कात्यायन जव स्वय राजा को व्याख्या-सहित धर्म का उपदेश कर सकते है। उज्जैनी मे महाकात्यायन मक्करकट

वन मे कुररघर पपात के निकट एक कुटी मे रहते थे। परतु उनका अधिक समय मगध और कोसल में बीता, जहाँ वे वृद्ध के उपदेशों के जटिल अशो की सरल व्याख्या करके लोगों को समझाया करते थे। उन्होने उज्जेनी में बुद्ध-धर्म का एक केंद्र स्थापित किया। वहाँ उन्होंने एक धनाढ्य सेट्ठि के पुत्र श्रोण कोटिकर्ण तथा उस स्थान के कुछ ब्राह्मणो को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। बौद्ध धर्म के इस केंद्र ने बुद्ध के निर्वाण के एक सौ वर्ष बाद द्वितीय सगीत के समय विशेष महत्त्व प्राप्त किया और अशोक तथा उसकी रानी (महिंद और सघमित्ता की माता) ने इसको बहुत उन्नत किया।

बुद्ध के शिष्य वेरज मे दुर्भिक्ष की विपत्ति से किसी प्रकार बच तो गए, परतु वे अत्यत कृशकाय और दुर्बल हो गए। बुद्ध के एक सपन्न शाक्य सबधी महानाम ने उन्हें अपने घर निमत्रित किया। बुद्ध ने उसका निमत्रण स्वीकार कर लिया और तेरहवी वर्षा कपिलवस्तु के निकट चालियगिरि पर बिताई, जहाँ महानाम ने बुद्ध और उनके शिष्यो की सुविधा का पूरा ध्यान रखा और उन्होने पुन अपना पूर्व स्वास्थ्य और बल प्राप्त कर लिया।

बुद्ध ने चौदहवी और पद्रहवी वर्षाएँ क्रमश श्रावस्ती और कपिलवस्तु में बिताई। इन दोनो चौमासो मे इन स्थानो में कोई उल्लेखनीय घटना नही हुई।

सोलहवी वर्षा बुद्ध ने श्रावस्ती के निकट आलवी नामक स्थान मे व्यतीत की। इस स्थान पर एक ही महत्त्वपूर्ण घटना हुई। वह थी आलवक यक्ष और आलवी के राजा के पुत्र का बौद्ध हो जाना। इस घटना की अनुश्रुति इस प्रकार है—

आलवक यक्ष—आलवी का राजा एक बार आखेट के लिए वन में गया और वहाँ आलवक यक्ष के हाथो में पड गया जो उसे खा जाने को उद्यत हुआ। राजा ने उस यक्ष को प्रतिदिन एक मनुष्य भोजन के लिए देने की प्रतिज्ञा करके उससे मुक्ति पाई। पहले उसने अपने राज्य के अपराधियो को उस यक्ष के हवाले किया और फिर आलवी के प्रत्येक कुटुब को आज्ञा दी कि वे अपने एक-एक पुत्र को उसकी भेंट करें। अत में राजा की पारी आई और उसने अपने पुत्र आलवक कुमार को यक्ष के पास भेजा। उस समय बुद्ध आलवी मे पहुँचे और जब यक्ष हिमवत में गया हुआ था उसी समय उसके निवास-स्थान पर जाकर वे उसके सिंहासन पर आसीन हुए। लौटकर जब यक्ष ने बुद्ध को अपने सिंहासन पर बैठा पाया तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ। परतु बुद्ध ने उसका क्रोध शात कर दिया और क्रमश अपने उपदेशों के द्वारा उसे अपने वश में कर लिया। आलवक यक्ष बुद्ध का भक्त हो गया और अपने कर्मो के लिए लज्जित हुआ। उसने राजा के पुत्र को

अपने भोजन के लिए स्वीकार नही किया और उसके बाद राजकुमार बुद्ध का शिष्य होकर अत में 'अनागामी' हो गया।

सत्रहवी और उन्नीसवी वर्षा बुद्ध ने राजगृह में व्यतीत की और अठारहवी चालियगिरि पर। शेष वर्षाएँ उन्होने श्रावस्ती में बिताई।

वर्षाओ की परपरा-प्राप्त सूची को बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्य का कालक्रमिक विवरण नही समझना चाहिए। वे वर्ष के नौ सूखे महीनो में विभिन्न स्थानो में धर्मोपदेश किया करते थे और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वर्षा किसी नियत स्थान पर बिताते थे। अनेक ऐसे शिष्य थे जो अग, अवती, गधार आदि दूर देशो से वर्ष भर उनके पास आते रहते थे। बुद्ध के अनुयायियो की सख्या बहुत बडी थी और उन सबका वर्णन ग्रथो में नही आया है। हमें ऐसे अनेक व्यक्तियो और स्थानो के नाम[1] मिलते है जिन्हें और जहाँ बुद्ध ने अपने धर्म का उपदेश दिया। बुद्धचरित के इक्कीसवें सर्ग (सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, पृ० २४१ तथा आगे) में अश्वघोष ने उन प्रमुख शिष्यो की एक सूची दी है जिन्हें बुद्ध ने त्रयस्त्रिश स्वर्ग से उतरने के बाद शिष्य बनाया था। वह सूची कालक्रमिक नही मानी जा सकती। परतु उससे हमें भगवान् बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्यों की सबसे पुरानी परपरा प्राप्त होती है। नागो और यक्षो के अतिरिक्त अन्य अनुयायियो के नाम निम्नलिखित क्रम से दिए गए हैं —

१ ज्योतिष्क—यह राजगृह के एक अत्यत वैभव-सपन्न सेट्ठि का पुत्र था। अपने पूर्व-जन्मो के सचित पुण्य के कारण इस जन्म में उसे असख्य बहुमूल्य रत्न प्राप्त थे, जिनसे राजा बिंबिसार के मन मे भी ईर्ष्या उत्पन्न होती थी। वह पाँच अतुल-सपत्तिशाली (अमितभोग) व्यक्तियो में अन्यतम था।[2] परतु उसने अपना सर्वस्व त्याग दिया और भिक्षु होकर उसने अर्हत् पद प्राप्त किया।

२ जीवक—जीवक निश्चय ही बुद्ध के समय का बहुत प्रसिद्ध वैद्य रहा होगा और इसी कारण उसके सबध में अनेक कथाएँ प्रचलित हो गई। पाली अनुश्रुतियो में कहा गया है कि मगध के राजा बिंबिसार ने अपनी राजधानी राजगृह की सबसे सुदरी कन्या सालावती को अपनी राजगणिका चुना, जो वैशाली की गणिका आम्रपाली से रूप-स्पर्धा कर सके। सालावती के एक पुत्र (जीवक) उत्पन्न हुआ। गणि-

१. उन स्थानो और व्याख्यानो के सक्षिप्त उल्लेख के लिए द्रष्टव्य दत्त, 'अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म', खड १।

२ अगुत्तर भाष्य, १, पृ० २२०।

काओ की रीति के अनुसार उसे एक वन में छोड दिया गया। अभय ने, जो एक गणिका के गर्भ से उत्पन्न राजा बिंबिसार का पुत्र था, उस शिशु को पाया और उसे अपना पुत्र बना लिया। इसी कारण जीवक 'कोमारभच्च' (=कुमारभृत्य, राजकुमार द्वारा पोषित) नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] जीवक जब बडा हुआ तब उसे अपने वेश्या के गर्भ से जन्म का वृत्तात ज्ञात हुआ और उसने वैद्य बनकर अपनी जीविका अर्जित करने का निश्चय किया। वह तक्षशिला गया, जहाँ उस देश के राजा पुष्करसारि ने उसका स्वागत किया। राजकुमार अभय के अनुरोध पर उस राजा ने जीवक का परिचय आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य आत्रेय से करा दिया। आत्रेय जीवक की असाधारण बुद्धि देखकर बहुत प्रभावित हुए। जब वे रोगियो को देखने जाते तो अपने सहायक के रूप में जीवक को साथ ले जाते। उन्होने अपने शिष्य को अपनी अपेक्षा भी अधिक बुद्धिमान् पाया और उसे बहुत मानने लगे, जिससे उसके सतीर्थों को ईर्ष्या होने लगी। जीवक के बिंबिसार, चडप्रद्योत तथा अन्य अनेक श्रीमत पुरुषो और स्त्रियो को चिकित्सा से नीरोग करने एव पारिश्रमिक के रूप में उनसे अपार धन और सपत्ति प्राप्त करने के सबध में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। केवल औषध में ही नही, शल्य-चिकित्सा में भी उसकी निपुणता के अनेक उल्लेख मिलते है। जब सभवत अपने यश तथा वैद्यकर्म द्वारा उपार्जित धन से जीवक का मन भर गया तब वह बुद्ध की कुछ सेवा करने के लिए व्याकुल हो उठा। कहा जाता है कि एक बार जब बुद्ध उदरामय से पीडित हुए, तब जीवक ने उन्हें औषधयुक्त फूल सुंघाकर नीरोग कर दिया था।

जीवक भिक्षुओं की नि शुल्क चिकित्सा करता था, इस कारण बहुत से रोगी उससे नि शुल्क चिकित्सा प्राप्त करने के उद्देश्य से भिक्षु-सघ में सम्मिलित हो गए और उन्होने सघ के लिए एक समस्या उत्पन्न कर दी। कहा जाता है कि बुद्ध की बोधि-प्राप्ति के बीसवें वर्ष जीवक उनका भक्त हो गया और अपना आम्र-वन भिक्षुओं

१. संस्कृत अनुश्रुति में जीवक एक व्यापारी की परित्यक्ता स्त्री के गर्भ से उत्पन्न बिंबिसार का अवैध पुत्र कहा गया है। बिंबिसार ने उसके पालन-पोषण के लिए उसे अभय राजकुमार को सौंप दिया था और उसी के द्वारा उसका पालन-पोषण हुआ था। सुकुमार होने के कारण उसके पैरो में घाव हो जाते थे और उनसे टपके हुए रक्त के चिह्न उन स्थानो पर पड़ जाया करते थे। एक दिन उन रक्त-चिह्नों को देखकर बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को जूते पहनने की अनुमति दे दी, क्योंकि श्रोण कोटिविंश ने केवल अपने प्रति विशेष कृपा के रूप में जूते पहनना अस्वीकार कर दिया था।

बांसुरी बजाकर बुद्ध और उनके उपदेशो की प्रशसा किया करता था। बुद्ध और देवो, विशेषत शक्र, के बीच वह मध्यस्थ का कार्य करता था। वह बुद्ध का बहुत बडा प्रशसक और अनुयायी था। भद्दा सुरिय वच्चसा उसकी पत्नी थी।

१० **नदमाता**—यह बुद्ध की एक विशिष्ट शिष्या थी। नदमाताएँ दो थी—एक उत्तर, दूसरी वेलुकटकी। हो सकता है ये दोनो नाम—उत्तर नदमाता और वेलुकटकी (वेलुकटक ग्राम की) नदमाता—एक ही स्त्री के रहे हो। नदमाता ने सारिपुत्त और अन्य भिक्षुओ का सत्कार करके बहुत पुण्य अर्जित किया था। वह सक्कदागामी[1] हो गई थी। वेलुकटकी नदमाता सभवत बोधिप्राप्ति के ग्यारहवें वर्ष में बौद्ध हुई थी। वह इस कारण भी प्रसिद्ध है कि उसने पिटक के कुछ ग्रथ—विशेषत. सुत्तनिपात का पारायणवग्ग—कठस्थ कर लिए थे।

११ **विशाखा**—अग देश के एक बहुत बडे धनी सेट्ठि मेंडक के पुत्र धनजय की पुत्री थी। उसका जन्म भद्दिय नगर में हुआ था, जहाँ बुद्ध एक बार सेल ब्राह्मण तथा अन्य व्यक्तियो को उपदेश देने गए थे। उस समय विशाखा केवल सात वर्ष की थी। उसने बुद्ध को देखा और उसे उनके प्रति बडी श्रद्धा हुई। उसके पितामह मेंडक बुद्ध और अन्य भिक्षुओ को प्रतिदिन अपने घर पूर्वाह्न का भोजन करने के लिए निमन्त्रित करते थे। राजा प्रसेनजित् की प्रार्थना पर धनजय को राजा बिंबिसार ने कोसल भेज दिया, जहाँ कोसल-नरेश ने साकेत मे उसके निवास के लिए स्थान नियत कर दिया, और वह वही बस गया। विशाखा की अवस्था जब विवाह के योग्य हुई तो श्रावस्ती के एक अन्य धनी श्रेष्ठि मिगार ने उससे अपने पुत्र पुण्णवड्ढन का विवाह करने का निश्चय किया। मिगार निगठ नाटपुत्त और उनके सघ का भक्त और समर्थक था और चाहता था कि उसकी पुत्रवधू विशाखा भी उनकी भक्त हो जाय। परन्तु उसने अपने श्वसुर के इस आदेश का पालन करना अस्वीकार कर दिया और कुछ कठिनाइयो के बाद वह उलटे अपने श्वसुर को बुद्ध का भक्त बनाने मे सफल हुई। विशाखा प्रतिदिन ५०० भिक्षुओ को भोजन कराती थी। बुद्ध ने उसे अनुमति दे दी थी कि वह वर्षाकाल में सावत्थी मे आनेवाले सभी भिक्षुओ और भिक्षुणियो को भोजन और वस्त्र, रोगियो को औषध तथा प्रत्येक भिक्षु और भिक्षुणी को खीर दान किया करे। उसने पुब्बाराम विहार का निर्माण कराया था, जो मिगारमातुपासाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। वह १२० वर्ष तक जीवित रही और उसके कितने ही

१. अगुत्तर० १, पृ० २६, ८८, २, पृ० १६४, ४, पृ० ३४७।

नाती-पोते हुए। बुद्ध ने उसे सघ को दान देनेवाली स्त्रियो मे प्रधान कहकर उसकी प्रशसा की थी।

१२ सोणदड (श्रोणदण्ड)—यह ब्राह्मण शास्त्रो का एक प्रसिद्ध आचार्य था। वह अग की राजधानी चपा में निवास करता था और बिंबिसार ने उसके जीवन-निर्वाह के लिए एक ग्राम दे दिया था। एक बार वह बुद्ध से मिला था और उनसे ब्राह्मणो की जाति-श्रेष्ठता के विषय में बातें की थी। परतु बुद्ध ने उसे विश्वास करा दिया कि मनुष्य की श्रेष्ठता और निकृष्टता का निश्चय उसके नैतिक गुणो के ही आधार पर किया जा सकता है, जन्म के आधार पर नही। सोणदड अवस्था मे बुद्ध से बहुत ज्येष्ठ था परतु उसने अपने को बुद्ध का अनुयायी घोषित किया।[1]

१३-१४ केनिय (कैनेय ऋषि) और सेल (शैल ऋषि)—ये दोनो ऋषि जटिल थे और बुद्ध के जीवन के अतिम समय में बौद्ध हुए थे (गिलगिट मैनु०, ३,१, पृ० २५९ और आगे)। कैनेय ऋषि चार सत्यो पर बुद्ध का उपदेश सुनकर बहुत प्रभावित हुए और उनका आध्यात्मिक उत्थान हुआ जिससे उन्हें अनागामी अवस्था प्राप्त हुई। उन्होने बुद्ध को आठ प्रकार के फलो के रस पीने को दिए, जिन्हे बुद्ध ने केवल अपने ही लिए स्वीकार नही किया अपितु कुछ प्रतिबधो के साथ भिक्षुओ को भी उन्हें ग्रहण करने की अनुमति दी। बुद्ध ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, इससे कैनेय को बडा हर्ष हुआ और उन्होने बुद्ध और उनके भिक्षुओ को अपने आश्रम मे भोजन के लिए निमन्त्रित किया। भोर से ही वे सघ के सत्कार के लिए बडी-बडी तैयारियाँ करने लगे जिससे उनके मित्र शैल ऋषि का ध्यान आकर्षित हुआ। शैल ऋषि बुद्ध और उनके सघ की कीर्ति सुनकर सघ में प्रविष्ट होने के लिए उत्कठित हुए। भोजन के समय के पहले ही वे अपने ५०० शिष्यो के साथ बुद्ध के पास गए और दीक्षा लेकर भिक्षु सघ में प्रविष्ट हो गए। जब कैनेय भिक्षुओ को भोजन परोस रहे थे तो उन्होने अपने मित्र शैल को अपने शिष्यो सहित भिक्षुओ की पक्ति में बैठे देखकर उन्हें बडा हर्ष और आश्चर्य हुआ। कैनेय ने भी तत्काल भिक्षु-सघ मे प्रविष्ट होने का निश्चय कर लिया और दूसरे दिन बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की।[2] इन दोनो ऋषियो के शिक्षण का भार महाकप्फिन, सारिपुत्त और मोग्गलायन को दिया गया।

१. दीघ० १।

२. पाली अनुश्रुति में केनिय और सेल के बौद्ध होने का वर्णन इस प्रकार मिलता है—केनिय और सेल अंग देश में आपण के निवासी थे। केनिय धनाढ्य ब्राह्मण था और सेल एक विशिष्ट ब्राह्मण आचार्य था, जिसके अनेक शिष्य थे। ये जटिलों के

१५ अगुलिमाल—कोसल के राजा प्रसेनजित् के गुरु का पुत्र था। उसके पिता का नाम भग्गव अथवा गग्ग था और माता का मतानी। वह तक्षशिला भेजा गया और वही उसने विद्याध्ययन किया। वह अपने अन्य सतीर्थों से विद्या में आगे बढ गया, जिसके कारण वे उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होने आचार्य और अगुलिमाल के बीच मतभेद उत्पन्न कर दिया, फलत उससे अपना पिंड छुडाने के लिए आचार्य ने सौ मनुष्यो की अगुलियाँ उससे गुरुदक्षिणा में माँगी। अगुलिमाल उन्हे यह गुरुदक्षिणा देना अपना धर्म समझ कोसल चला गया। वहाँ वह मार्ग के किनारे छिपकर बैठा रहता और उधर से जानेवाले यात्रियो का वध कर देता। इस प्रकार उसने ९९ मनुष्यो को मारकर उनकी अगुलियाँ एकत्र की। सयोग से सौवी वलि उसकी माता की ही होने-वाली थी। वुद्ध को ज्ञात हुआ कि अगुलिमाल के वहुत पुण्य सचित हैं, परतु यदि वह मातृहत्या का महापातक करेगा तो वे सव पुण्य नष्ट हो जायँगे। अत अविलव उस स्थान पर पहुँचे जहाँ अगुलिमाल छिपा वैठा था और सौवे व्यक्ति वे स्वय हो गए। अपनी असाधारण शक्ति के द्वारा उन्होने अगुलिमाल की वुद्धि को सन्मार्ग पर लगाया और उसे सघ में प्रविष्ट कर लिया। उसके पश्चात् शीघ्र ही अगुलिमाल को अर्हत् पद प्राप्त हुआ (मोनेस्टिक वुधिज्म, पृ० २४९)। उसकी दीक्षा वुद्ध की वोधिप्राप्ति के वीसवे वर्ष में हुई।

१६ व्रह्मायु—ये मिथिला के एक व्राह्मण आचार्य थे। वुद्ध जव विदेह गए थे, उस समय उनकी अवस्था १२० वर्ष की थी। उन्होने अपने शिष्य उत्तरमाणव को यह पता लगाने के लिए भेजा कि क्या वुद्ध में महापुरुषो के वत्तीसो लक्षण विद्यमान हैं। जव उत्तर के द्वारा इस वात का प्रमाण मिल गया तो मखादेव आम्रवन में वे वुद्ध से मिलने गए। व्रह्मायु ने एक विशाल जनसमूह (जो उनके प्रति श्रद्धावान् था) के समक्ष वुद्ध के चरण सहलाए और उनके व्याख्यान सुने। उन्होने वुद्ध और उनके भिक्षुओ को अपने घर निमत्रित किया और एक सप्ताह तक उनका सत्कार किया। वुद्ध से इस मिलन के कुछ ही समय वाद व्रह्मायु की मृत्यु हो गई और वे अनागामी हुए (मज्झिम०, २,१४६)।

अनुयायी थे। केनिय वुद्ध से मिला और उसने उनको तथा उनके भिक्षुओ को मधुर पेय पीने के लिए दिए तथा उनके उपदेशो को श्रवण किया। सेल पर इसका वड़ा प्रभाव पडा और वह केनिय के साथ वुद्ध का शिष्य हो गया (मोनेस्टिक वुधिज्म पृ० २७३-७५)।

१७ महालि—महालि लिच्छिवि था और सभवत पुराण कस्सप का अनुयायी था। वह देह और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता था। वह वृद्ध से वैशाली की कूटागारसाला में मिला था। उसने अष्टाग मार्ग तथा अन्य विपयो पर वृद्ध के व्याख्यान सुने और वह उनका भक्त हो गया।

१८ सीह—यह एक लिच्छवि सेनापति तथा निगठ नाटपुत्त का अनुयायी था। उसे वृद्ध के उपदेशो के विपय मे भ्रमपूर्ण सूचना मिली थी। एक वार अनेक लिच्छवियो के साथ जव वह वृद्ध से मिला तो उनके उपदेशो से वहुत प्रभावित हुआ। उसने वृद्ध और उनके शिष्यो को अपने घर निमत्रित किया और उन्हे सामिप भोजन कराया। इसपर निगठ नाटपुत्तो ने उनकी कटु आलोचना की। इसी अवसर पर वृद्ध ने भिक्षुओ के मास खाने के सवध में पाँच प्रतिवध लगा दिए (विनय०, १, २३३, ४, १७९)। सीह अनेक लिच्छवियो के साथ वृद्ध का अनुयायी हो गया। तथापि वृद्ध ने उसे निगठो को दान आदि देते रहने की अनुमति दी, इससे वृद्ध के प्रति उसकी भक्ति और वढ गई।

१९ सच्चक—यह लिच्छवियो का गुरु तथा निगठ नाटपुत्त का वडा भक्त था। वृद्ध से शास्त्रार्थ (चूल-सच्चकसुत्त) में पराजित होकर वह उनका अनुयायी हो गया। उसके चार पुत्रियाँ थी जो सारिपुत्त से शास्त्रार्थ करने के वाद भिक्षुणी-सघ में प्रविष्ट हो गई (मज्झिम० १, २३४ तथा आगे)।

२० जानुस्सोणि—ये एक धनाढ्य और प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य थे। ये प्राय: जेतवन विहार में वृद्ध से मिलने जाया करते थे। अनेक विपयो पर इन्होने उनसे शास्त्रार्थ भी किया था। ये कोसल के राजा के गुरु थे और सभवत वृद्ध के शिष्य हो गए थे।

२१ वक्कालि (स० वक्रपालि)—वक्कालि का जन्म श्रावस्ती के एक श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल में हुआ था। यह भिक्षु हो गया था और वृद्ध के शरीर से इसे वहुत मोह था। वृद्ध ने इससे कहा कि तुम्हें वृद्ध का वास्तविक दर्शन तभी मिल सकता है जव तुम उनके 'धम्म' का तत्त्व समझ लो। वह गृध्रकूट पर्वत पर से गिरकर प्राण देने जा रहा था, परतु वृद्ध ने उसे रोक लिया और उसे ध्यान और अन्य क्रियाओ का अभ्यास करने का आदेश दिया। तिसपर भी उसने छुरी से आत्महत्या कर ही डाली। जव उसे असह्य पीडा हो रही थी उसी समय वह अर्हत् हो गया और तत्काल उनकी मृत्यु हो गई।

२२. वावरी—ये कोसलपति के राजपुरोहित थे और सन्यास लेकर दक्षिणापथ

चले गए थे, जहाँ अस्सक में गोदावरी नदी के तीर एक आश्रम में रहते थे। इन्होने एक बहुत बडा यज्ञ किया था। उस अवसर पर एक ब्राह्मण को ५०० मुद्राएँ न देने के कारण उसने इन्हें शाप दे दिया जिससे ये बहुत चिढ गए। शाप के भय से इन्होने अपने शिष्यो को बुद्ध के पास उसके मोचन का उपाय पूछने के लिए भेजा। वे शिष्य पतिट्ठान, माहिस्सती, उज्जेनी, गोनद्ध, वेदिसा और कोसबी होते हुए साकेत पहुँचे, परतु वहाँ उन्हें विदित हुआ कि अभी-अभी बुद्ध ने नगर छोडा है। तब वे सेतव्या, कपिलवत्थु, कुसीनारा, पावा, भोगनगर और वेसाली होते हुए राजगृह आए। वहाँ वे बुद्ध के व्याख्यानो को सुनकर अर्हत् हो गए, परतु उनमें से एक, अर्थात् बावरी का भतीजा पिंगिय, अनागामी ही रहा। पिंगिय बावरी के पास लौट आया और बुद्ध से उसने जो कुछ सीखा था उसे कह सुनाया। पिंगिय के मुख से बुद्ध के उपदेशो की व्याख्या सुनकर बावरी भी अनागामी हो गए और पिंगिय को अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

२३ **सुनक्खत्त**—यह वैशाली का एक लिच्छवि राजपुत्र था। अपने जीवन के अतिम दिनो में वह बुद्ध का निजी सेवक हो गया। कुछ समय तक वह बुद्ध के साथ रहा, परतु अलौकिक शक्तियो का प्रदर्शन न करने तथा सृष्टि के प्रारभ के विषय में उसके प्रश्नो का उत्तर न देने के कारण वह उनसे असतुष्ट हो गया, और बौद्ध सघ को छोडकर क्रमश कोरखत्तिय, कदरमसक और पाटिकपुत्त का शिष्य हुआ। वह इन गुरुओ की योग और तप की उन कठिन क्रियाओ का प्रशसक था जिनका कि बुद्ध निषेध कर चुके थे।[1]

२४ **देवदत्त**—बुद्ध के जीवन के अतिम वर्षों में देवदत्त उनकी अनुदिन बढती हुई लोकप्रियता देखकर उनसे जलने लगा और किसी प्रकार उनकी कीर्ति नष्ट करने का उपाय सोचने लगा।

पाली अनुश्रुतियो में वर्णन है कि राजकुमार सिद्धार्थ का ममेरा भाई और साला देवदत्त बडा ही ईर्ष्यालु और कुटिल प्रकृति का मनुष्य था और अपने कई पूर्व जन्मो में वह सिद्धार्थ का शत्रु रह चुका था। वह उन व्यक्तियो में से था जिन्होने सबसे पहले बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और वह आनद, उपालि और अनिरुद्ध के साथ ही भिक्षु-सघ में प्रविष्ट हुआ था।[2] उसने कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर ली और कुछ ऋद्धियाँ

१. दीघ०, पातिक सुत्त।
२. देखिए पृ० ६७-८।

भी प्राप्त कर ली जिससे वह अजातशत्रु को अपने सिद्ध होने का विश्वास दिलाने में समर्थ हुआ। उसने कोकालिक और कोटमरक तिस्स आदि अपने ही-जैसे कुछ भिक्षुओ और थुल्लनदा आदि कुछ भिक्षुणियो को मिलाकर अपने दल में कर लिया। उसे दडपाणि एव सुप्पबुद्ध-सदृश कुछ बौद्धो का भी समर्थन प्राप्त हो गया। बुद्ध के जीवन के अतिम दिनो में देवदत्त चाहता था कि अन्य धर्माधिष्ठाताओ की भाँति बुद्ध उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दें। बुद्ध ने उससे स्पष्ट कह दिया कि मैं किसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत नही करूँगा, सारिपुत्त और मौद्गलायन-जैसे अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्यो को भी नही, फिर तुम-जैसे दुर्मन व्यक्तियो को मनोनीत करने का तो कोई प्रश्न ही नही है। बुद्ध की इस अस्वीकृति से देवदत्त बहुत क्रुद्ध हुआ और कुछ दुष्ट भिक्षुओ को मिलाकर एक नया सघ सघटित करके उसका नेता बन गया। उसे राजकुमार अजातशत्रु का समर्थन भी प्राप्त हो गया, जो अपने वृद्ध पिता राजा बिबिसार का वध करने का षड्यत्र रच रहा था। अजातशत्रु की सहायता से देवदत्त ने बुद्ध के प्राण लेने का कई बार प्रयत्न किया—पहले उनका वध करने के लिए गुडो को नियुक्त किया, फिर पर्वत से उनके ऊपर एक भारी शिला गिरवाई और अत में उनके ऊपर नालागिरि नामक एक मदमत्त हाथी छोडवाया। गुडे तो बुद्ध के निकट जाते ही उनके भक्त हो गए और शिला जब ढुलककर उनके ऊपर आ रही थी तो वह बीच मे दो छोटी शिलाओ पर अटक कर रह गई। उसका एक छोटा-सा खड आकर बुद्ध के पैर मे लगा, जिससे उनके रक्त निकलने लगा। नालागिरि हाथी के विषय में कहा जाता है कि नगर में सैकडो मनुष्यो को कुचलता हुआ वह भयकर वेग से दौडने लगा। जब वह उस पथ पर आया जिसपर बुद्ध और उनके भिक्षुगण जा रहे थे तो कुछ भिक्षु तो इधर-उधर भागे और अनेक शिष्यो और भक्तो ने बुद्ध से प्रार्थना की कि वे उस क्रुद्ध हाथी से अपनी रक्षा के लिए उसके मार्ग से हट जायँ। परतु आनद दृढता के साथ उनके पार्श्व में ही डटा रहा। बुद्ध तनिक भी इधर-उधर नही हटे और शात भाव से चलते रहे। नालागिरि उनके निकट पहुँचकर उनके ऊपर झपटा, परतु यह देखकर सब चकित रह गए कि वह क्रुद्ध और मदमत्त हाथी जाकर भगवान् बुद्ध के चरणो के निकट बैठ गया और चुपचाप उनकी झिडकियाँ सुनने लगा। उनके नालागिरि को इस प्रकार वश में कर लेने का समाचार वायुवेग से चारो ओर फैल गया और उसके साथ बुद्ध की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई, यहाँ तक कि अजातशत्रु को भी उनके सामने नत होना पडा। उसने बुद्ध के निकट जाकर उनसे क्षमा की याचना की और उनमे अपना दृढ विश्वास प्रकट किया। अपने दुष्ट उपायो से बुद्ध की कोई हानि

करने में असफल होकर देवदत्त ने कुछ ऐसे भिक्षुओ को एकत्र किया जो बुद्ध द्वारा शिष्यो और भिक्षुओ को दी गई सुविधाओ को उचित नही समझते थे। वह असतुष्ट व्यक्तियो का नेता बन गया और उसने भिक्षुओ के लिए ये नियम निश्चित किए—(१) प्रत्येक भिक्षु को अरण्यवासी होना चाहिए, (२) उसे केवल भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना चाहिए, गृहस्थो का निमत्रण कदापि स्वीकार न करना चाहिए। (३) उसे केवल घूर (कूडा) पर से इकट्ठे किए हुए चीथडो से बनाए गए चीवर का ही उपयोग करना चाहिए, किसी अन्य वस्त्र का उपयोग नही करना चाहिए, (४) उसे सदा वृक्षो की छाया मे ही शयन करना चाहिए, छत के नीचे कभी नही सोना चाहिए, और (५) उसे बुद्ध के द्वारा लगाए गए प्रतिबधो के साथ भी मत्स्य वा मास का सेवन नही करना चाहिए। कहा जाता है कि अपने दुष्कर्मों के कारण देवदत्त को चिरकाल तक नरक भोगना पडा।

अतिम यात्रा

अपने उपदेशो के प्रचार तथा भिक्षु-सघ के सघटन का कार्य समाप्त करके भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण में प्रवेश करने का निश्चय किया। अपना देहत्याग कुशीनगर मे करने के विचार से उन्होने राजगृह से प्रस्थान किया। पाटलिपुत्र का ग्रामपति ब्राह्मण वर्षकार बुद्ध के राजगृह से प्रस्थान करने का समाचार पाकर उनके पास गया और उसने अजातशत्रु की ओर से उनसे पूछा कि वज्जियो को किस उपाय से विजित किया जा सकता है। बुद्ध ने उत्तर में वज्जियो के कुछ विशिष्ट गुणो और कार्यों का उल्लेख करते हुए कहा कि उन्ही गुणो और कार्यो के कारण वज्जिगण अजेय हैं। राजगृह छोडने के बाद भगवान् अबलट्ठिका और नालदा (पावारिकवबन) होते हुए पाटलि-गाम पहुँचे, जो उस समय केवल एक छोटा सा ग्राम था, जिसकी देखरेख अजातशत्रु के दो ब्राह्मण अधिकारी, सुनीढ और वस्सकार, किया करते थे। राजा ने उन दोनो अधिकारियो को आज्ञा दे रखी थी कि पडोसी शत्रुओ, विशेषत वज्जियो, के आक्रमण मे राज्य की रक्षा के लिए उस ग्राम की दृढ मोरचेबदी कर दे। पाटलिगाम के निवासी भक्तो तथा अजातशत्रु के ब्राह्मण अधिकारियो ने बुद्ध और उनके सघ का बडा आदर-सत्कार किया। ब्राह्मण अधिकारियो ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए जिस द्वार तथा घाट से होकर बुद्ध पाटलिगाम मे गए उसका नाम क्रमश 'गोतमद्वार' तथा 'गोतमतित्थ' रख दिया।

पाटलिपुत्त छोडने के वाद बुद्ध कोटिगाम और नादिका (गिंजकावसथ) होते हुए वैशाली (अवपालिवन) गए। मार्ग में जहाँ वे ठहरते थे वहाँ लोगो को धर्म का उपदेश करते थे। अपने आम्रवन में बुद्ध के आगमन का समाचार पाकर गणिका अवपाली उनके पास, उन्हें तथा उनके सघ को अपने निवास्थान पर पूर्वाह्न का भोजन करने के लिए निमन्त्रण देने गई। बुद्ध ने उसके मोहक सौंदर्य तथा स्त्री-सुलभ हाव-भाव का उल्लेख करते हुए अपने भिक्षु-शिष्यो को सचेत कर दिया कि वे सावधान होकर अपनी इद्रियों पर सयम रखें। जब अवपाली निमत्रण देकर अपने घर लौटने लगी तब उसकी भेंट उन लिच्छवि सरदारो से हुई जो बुद्ध और उनके सघ को भोजन का निमन्त्रण देने का गौरव प्राप्त करने में अवपाली से पिछड गए थे। वे स्वय बुद्ध को पहले निमन्त्रण देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अवपाली से अपना निमत्रण वापस लेने का आग्रह किया और इसके लिए उसे धन भी देना चाहा, परतु उसने अस्वीकार कर दिया। उसने बुद्ध और उनके शिष्यो के स्वागत की पूरी तैयारी की और उन्होने तृप्त होकर भोजन किया। भोजन-दान के पश्चात् उसने भिक्षुओ के निवास के लिए अपना अववन दक्षिणा में दे डाला। भगवान् बुद्ध ने उसकी उदारता और उसके धर्मभाव की वडी प्रशसा की और उसे धन और रूप की चचलता को जानकर धर्म को ही सर्वोत्तम आभूषण समझने का उपदेश दिया। उन्होने लिच्छवियो को भी सबोधित कर उपदेश दिया कि वे सदाचार का पालन करें, सदा सन्मार्ग पर चलें और धन एव शक्ति के लोभ तथा अभिमान पर विजय प्राप्त करें। उन्होंने उन्हें उन मिथ्याचारी गुरुओ से सावधान रहने को कहा जो एक पशु का-सा जीवन व्यतीत करके, या तीन वार स्नान करके, या अग्नि में आहुतियाँ देकर, अथवा हृदय को मलिन रखते हुए भी कठोर तपस्या करके आध्यात्मिक शुद्धता प्राप्त करने का दावा करते थे।

कुछ समय तक अवपाली के वन मे रहने के पश्चात् बुद्ध अपने सघ के साथ वर्षा ऋतु व्यतीत करने के लिए वेलुवगाम गए। वहाँ वे वहुत बीमार पड गए, परतु अपनी अस्वस्थता को उन्होंने दवा रखा, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अपने अनन्य भक्तो को सूचना दिए विना ही परिनिर्वाण प्राप्त करना उचित न होगा। आनद भगवान् बुद्ध को पुन स्वस्थ देखकर वहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि "मैं जानता हूँ कि भगवान् अपने शिष्यों को अतिम वार उपदेश दिए विना परिनिर्वाण नही प्राप्त करेंगे"। परतु भगवान् ने उससे कहा कि "अब मैं अस्सी वर्ष का हो चुका हूँ और अपने शरीर को एक जर्जर रथ की भाँति किसी प्रकार चलाए चल रहा हूँ। मेरे शिष्यो को अब

मुझे अपना गुरु और नेता नहीं समझना चाहिए। मेरे सच्चे शिष्यो को उचित है कि वे आत्मनिर्भर हो, मेरे उपदेशो में विश्वास रखें (अत्तदीपो अत्तसरणो अनञ्ञसरणो, धम्मदीपो धम्मसरणो अनञ्ञसरणो) तथा चार स्मृत्युपस्थानो का अभ्यास करें।"

बुद्ध फिर वैशाली लौट आए और आनद से कहा कि "मुझे यहाँ के उदेन, गोतमक, सत्तवक, बहुपुत्त, सरदद और चापाल 'चेतिय' (चैत्य) बहुत अच्छे लगते हैं।" चापाल चेतिय में रहते हुए उन्होंने आनद से कहा कि जो चार ऋद्धिपादो (१ इच्छा, २ विचार, ३ सादृश्य और ४ अन्वीक्षा की प्रवृत्तियो को एकाग्र करने की शक्ति) पर अधिकार कर लेता है वह यदि चाहे तो एक कल्प जीवित रह सकता है। भगवान् के इस सकेत को आनद समझ नही सका अत उस समय उसने उनसे एक कल्प भर जीने की प्रार्थना नही की। उसी समय वहाँ मार भगवान् के समक्ष प्रकट हुआ और उसने उनसे निवेदन किया—"अब आपका लोक में धर्म की स्थापना करने तथा अनेक सच्चे शिष्य बनाने का शुभ सकल्प पूरा हो गया है, अत आपको अब परिनिर्वाण में प्रवेश करना चाहिए।" बुद्ध ने स्वीकार कर लिया और कहा कि "मैं तीन मास के पश्चात् देहत्याग करूँगा।" जब उन्होंने ऐसा निश्चय किया उस समय उनके कथन की सत्यता की पुष्टि करने के लिए पृथ्वी कॉपने लगी। आनद को जब यह विदित हुआ कि उसके प्रिय गुरु ने अपनी आयु की अतिम सीमा निश्चित कर दी तो वह शोक-विह्वल हो गया। भगवान् ने उसे यह कहकर समझाया कि प्रियजनो का वियोग ससार में एक अवश्यभावी घटना है, जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु भी ध्रुव है।

इसके पश्चात् बुद्ध ने वैशाली और उसके आसपास के सब भिक्षुओ को महावन कूटागारसाला में एकत्र होने की आज्ञा दी और उन्हे स्मरण कराया कि उनके सपूर्ण उपदेशो की समष्टि सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म है।[१] फिर अतिम बार वैशाली की ओर देखकर उन्होंने वहाँ से विदा ली। भडगाम, हत्थिगाम और जबुगाम पार करके वे भोगनगर पहुँचे और वहाँ अपने शिष्यो को उपदेश दिया कि वे सदाचार (शील), ध्यान (समाधि), ज्ञान-प्राप्ति (पञ्ञा) और मुक्ति (विमुत्ति) सबधी नियमो के पालन का विशेष ध्यान रखें। फिर उन्होंने उन्हें बुद्ध-वचनो की प्रामाणिकता की परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करने का आदेश दिया।

१ ये इस प्रकार हैं—४ स्मृत्युपस्थान, ४ सम्यक् प्रहाण, ४ ऋद्धिपाद, ५ इद्रियाँ, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ मार्ग।

भोगनगर मे वे पावा गए। वहाँ वे चुड नामक एक लोहकार-पुत्र के आम्रवन में ठहरे, जिसने उन्हे पूर्वाह्न का भोजन करने के लिए अपने यहाँ निमंत्रित किया। चुड ने 'सूकर-मद्दव' पकाकर भिक्षुओ को भोजन के लिए दिया। बुद्ध ने सूकर-मद्दव केवल अपने लिए ग्रहण किया और उसे भिक्षुओं को देने से चुड को यह कहकर मना कर दिया कि वे उसे पचा नही सकेंगे। उन्होंने स्वय उसे खा तो लिया, परन्तु वे बहुत बीमार पड गए और उन्हें असह्य वेदना होने लगी। तब वे कुशीनगर चले गए और एक वृक्ष के नीचे एक चौपरत किए हुए चीवर पर लेट गए। पुक्कुस मल्लपुत्त ने, जो उनका उपासक हो गया, उन्हें एक उत्तम चीवर दिया। तब उन्होंने ककुट्ठा नदी मे स्नान किया और फिर कुशीनगर के मल्लो के सालवन में गए। भगवान् की मृत्यु का समय निकट होने का समाचार पाकर संपूर्ण वैशाली व्यथित हो गई और ऐसी शोक-संतप्त दिखाई पडने लगी जैसे एक बालिका अपने पिता की मृत्यु पर अनाथ होकर बिलखती है। उसका शोक इतना गभीर और मर्मांतक था कि उसे रोना भी नहीं आ रहा था, एक शब्द भी मुख से नहीं निकल रहा था, वह मूक क्रन्दन कर रही थी। वीर लिच्छविगण अपना संपूर्ण बल और साहस खो बैठे और बडी कठिनाई से धीरज धरकर उन्होंने उस शोक को सहन किया। ससार ने एक महान् मनीषी को खो दिया और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर यह सत्य अंकित हो गया कि समस्त पार्थिव सत्ताओं का एक न एक दिन अंत होना अवश्यभावी है। विद्वान् भिक्षुगण, देवों और मनुष्यों के उन महान् गुरु के द्वारा उपदिष्ट सत्यो का ध्यान करते हुए, शांतिपूर्वक बैठे रहे। वे इस बात पर विचार कर रहे थे कि अब उनके सर्वज्ञ प्रभु सदा के लिए विश्राम लेने जा रहे हैं। देवो ने भगवान् की देह पर पुष्प-वर्षा करने के लिए सालवृक्षों को पुष्पमय कर दिया। वे देवो के भी देव का अंतिम दर्शन करने के लिए वहाँ आए और भगवान् ने उपावन को, जो उस समय उन्हें व्यजन कर रहा था, स्वय वहाँ से हट जाने की आज्ञा दी, जिससे उनका दर्शन करने में देवो को बाधा न पडे। बुद्ध की मृत्यु आसन्न जान देवों को भी बडा शोक हुआ।

इसके अनंतर बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को उन चार स्थानों की तीर्थयात्रा करके पुण्यार्जन करने का आदेश दिया जो (१) बुद्ध के जन्म, (२) उनकी बोधि-प्राप्ति, (३) धर्मचक्र-प्रवर्तन, तथा (४) उनके परिनिर्वाण से पवित्र हो चुके थे। उन्होंने अपनी अंत्यक्रिया करने के सबध में भी उन्हें अनुदेश दिए।

आनंद ने उनसे अपने परिनिर्वाण के लिए चंपा, राजगृह, सावत्थी, साकेत, कोसबी, और वाराणसी इन छ प्रसिद्ध नगरो में से किसी एक को चुनने की प्रार्थना की थी,

परतु बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया और उसे कुसीनारा का पूर्व माहात्म्य वतलाया। तव कुसीनारा के मल्ल दौडे हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ भगवान् अतिम विश्राम कर रहे थे और उन्होने उनकी पूजा की।

सुभद्द ने, जो एक पाखडी परिव्राजक था, अकस्मात् उसी समय स्वय भगवान् वुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु बनने का निश्चय किया और भगवान् ने अपनी शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर भी उसकी इच्छा पूर्ण की।

सुभद्द को दीक्षा देने के अनतर भगवान् ने आनद को अपने शिष्यो के लिए यह सदेश दिया—"मेरी मृत्यु के वाद मेरे उपदेश तथा विनय के नियम ही मेरे शिष्यो के गुरु और पथ-प्रदर्शक होगे। यदि वे आवश्यक समझें तो विनय के कुछ सावारण नियमो को त्याग भी दे सकते हैं।"

इसके पश्चात् वे अतिम ध्यान मे मग्न हो गए और ध्यान मे प्रथम से अष्टम भूमिका तक उत्थित हुए। तव वे फिर प्रथम भूमिका पर आए और फिर चतुर्थ भूमिका तक उत्थित होने के अनतर उन्होने सर्वदा के लिए अपने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया। पृथ्वी ने कपित होकर सवको इस महान् दु खद घटना की सूचना दी और ब्रह्मा तथा देवराज सक्क ने यह कहकर अपना शोक प्रकट किया कि समस्त उत्पन्न प्राणियो और पदार्थों का नाश निश्चित है। अभीष्ट है केवल महानाश, जिसके वाद फिर उत्पन्न न होना पडे। अनुरुद्ध (जो एक अर्हत् था) ने भगवान् की असाधारण योग-शक्ति की प्रशसा की और उनके इस मर्त्यलोक से महाप्रस्थान एव उनकी मुक्ति की उपमा एक निर्वाणासन्न दीपशिखा से दी। परतु आनद वेचारा, जो उतनी ऊँची आध्यात्मिक भूमिका तक नही पहुँचा था, प्रकृति की रहस्यमयी प्रेरणा के वशीभूत होकर शोकविह्वल हो गया और उसके नेत्रो से निरतर अश्रुधारा वहती रही। इस प्रकार एक महान् आत्मा का—मनुष्यो और देवो के भी देव का—अत हो गया, ऐसा निर्मम और अलव्य है प्रकृति का नियम—

"अनिच्चा वत सखारा उप्पादवयधम्मिनो ॥
ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतु तथागतो आह।
तेस च यो निरोधो एव वादी महासमणो ति ॥"

अध्याय ५

कोसल के ब्राह्मण

बौद्ध ग्रथो मे वर्णित कोसल मोटे तौर पर उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र, अर्थात् नीची पहाडियो को लिए हुए गोरखपुर, वस्ती, गोडा, और बहराइच जिलो के उत्तरी भाग से मेल खाता है।[1] उसमें कुछ ऐसे ग्राम थे जिनका वर्णन पाली ग्रथो में विशुद्ध ब्राह्मण-ग्रामो के रूप में किया गया है, यथा—एकसाला, इच्छानगल, नगरविद, मनसाकट, वेनागपुर, दडकप्पक और वेलुद्वार।

ब्राह्मण महासाल

इनके अतिरिक्त कुछ ग्राम ऐसे थे जिन्हें राजा प्रसेनजित् ने विशिष्ट ब्राह्मण गुरुओ तथा एक क्षत्रिय गुरु को दे दिया था। बहुत सभव है कि ये गाम उन्हें उनके गुरुकुलो तथा उनमें पढनेवाले विद्यार्थियो का व्यय वहन करने के लिए दिए गए हो। पाली ग्रथो में ये नाम पाए जाते है —

(१) उक्कट्ठ का पोक्खरसादि,
(२) सालवती का लोहिच्च,
(३) ओपसाद का चकी, और
(४) सेतव्या का पायासि राजञ्ञ[2]।

मनसाकट में विशिष्ट एव सपन्न (महासाल) ब्राह्मण निवास करते थे, जिनमे से तारुक्ख, जानुस्सोणि और तोदेय्य का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[3] ये ब्राह्मण यज्ञ करने में बहुत धन व्यय किया करते थे। जानुस्सोणि श्वेत मज्जा और रश्मियो-वाली चार श्वेत वामियो द्वारा खींचे जानेवाले श्वेत रथ पर बैठकर चला करता था, जिसके ऊपर श्वेत छत्र लगा रहता था। वह स्वय श्वेत पगडी, श्वेत वस्त्र और श्वेत

१. संयुत्त० १, पृ० ११६—कोसलेसु हिमवन्तपदेसे अरञ्ञ कुटिकायं।
२. उक्त अनुदानो का वर्णन इन शब्दो में किया गया है —सत्तुस्सद सतिणकट्ठो-दकं सधञ्ञं राजभोग्गं रञ्ञा पसेनदि कोसलेन दिन्नं राजदायं ब्रह्मदेय्यम्।
३ दीघ० १, पृ० २३५; तुल० सुत्तनिपात, पृ० ११५।

पदत्राण धारण करता था और उसे श्वेत चवँर (वालवीजम्) डुलाया जाता था। इस वेष मे वह श्वेत रथ (ब्रह्मयान) पर आसीन ब्रह्मा के सदृश दिखाई पडता था।[1] जिन सुत्तो में उपर्युक्त ब्राह्मण महासालो के बुद्ध से मिलने की चर्चा की गई है वे सभी प्राय एक ही प्रकार से प्रारभ किए गए है। उनमे से एक का उदाहरण यहाँ दिया जाता है। पोक्खरसादि से बुद्ध के मिलने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'बुद्ध ५०० भिक्षुओ के साथ कोसल के इच्छानगल ब्राह्मणग्राम में पहुँचे। उक्कट्ठ के महासाल ब्राह्मण पोक्खरसादि को समण गोतम के इच्छानगल में आने का समाचार मिला और उसने उनकी यह विशद कीर्ति भी सुनी कि वे बडे बुद्धिमान, पूर्ण ज्ञानी,ससार तत्त्व को जाननेवाले और मनुष्यो और देवो के श्रेष्ठ गुरु एव पथ-प्रदर्शक है, तथा वे ऐसे सिद्धातो का उपदेश करते है जिनका आदि, मध्य और अत सभी उत्तम और कल्याणमय है और जिनसे शुद्ध और पवित्र जीवन प्राप्त होता है। पोक्खरसादि का एक बडा विद्वान् और बुद्धिमान् शिष्य था जिसका नाम था अवट्ठ। पोक्खरसादि ने उसे यह पता लगाने के लिए भेजा कि क्या समण गोतम की जो कीर्ति सुनी गई है वह सब सत्य है और क्या उनमें वे बत्तीसो लक्षण विद्यमान है जो 'चक्कवत्ती' अथवा 'सम्मा सबुद्ध' में पाये जाने चाहिए? अवट्ठ बुद्ध से मिला और उसने उनके समक्ष यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ होता है। बुद्ध ने अपने सुविदित तर्कों द्वारा इसका खडन कर दिया। तब अवट्ठ ने लक्ष्य किया कि बुद्ध मे सभी बत्तीस लक्षण विद्यमान है। उसने लौटकर अपने गुरु पोक्खरसादि को इसकी सूचना दी और बुद्ध से जो शास्त्रार्थ किया था उसका भी वर्णन किया। पोक्खरसादि ने ऐसे महान् पुरुष से इस प्रकार का असगत वार्तालाप करने के लिए अवट्ठ को धिक्कारा। वह स्वय उस स्थान पर गया जहाँ बुद्ध ठहरे हुए थे, और उन्हें अपने निवासस्थान पर मध्याह्न के भोजन के लिए निमन्त्रित किया। बुद्ध ने उसका निमत्रण स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन उसके यहाँ भोजन करने के पश्चात् धर्म का उपदेश किया। पहले उन्होने दान और शील का महत्त्व बतलाया और स्वर्गप्रद कर्मो तथा विषय-भोग के कुपरिणामो के विषय पर व्याख्यान दिया। फिर जब देखा कि श्रोताओ का मन कोमल और नमनशील हो गया है तो उन्होंने उन्हें चार श्रेष्ठ सत्यो का उपदेश दिया। बुद्ध के व्याख्यानो का पोक्खरसादि पर इतना गहरा प्रभाव पडा कि वह अपनी पत्नी, सतान, परिजनो एव परिचरो सहित बुद्ध की शरण में आ गया। उसने उनसे प्रार्थना की कि वे उसे अपना भक्त समझे

१ मज्झिम० १, पृ० १७६, सयुत्त० ५, पृ० ४।

और जिस प्रकार अन्य उपासकों के यहाँ भिक्षा माँगने जाते हैं उसी प्रकार उसके घर भी भिक्षा ग्रहण किया करें।'

लोहिच्चसुत्त भी इसी प्रकार से प्रारंभ होता है—'लोहिच्च ब्राह्मण ने अपने नाई भेसिक को समण गोतम को निमंत्रण देने के लिए भेजा, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। लोहिच्च ब्राह्मण का यह मत था कि यह सर्वथा उचित है कि मनुष्य अपने सत्कर्मों द्वारा पुण्य का अर्जन करे, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों से भी कहता फिरे कि उसे किन उपायों से और क्या-क्या सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। बुद्ध ने तर्क और युक्ति के द्वारा उसे यह विश्वास करा दिया कि उसका यह मत ठीक नहीं है। उन्होंने उन गुरुओं की कथा सुनाई जिन्होंने पूर्णता नहीं प्राप्त की थी और जिनके शिष्य उनके उपदेशों का शुद्ध भाव से अनुसरण नहीं करते थे। परंतु बुद्ध तो स्वयं एक पूर्ण और आदर्श गुरु थे और उन्होंने कितनी ही आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। वे दूसरों को अपने धर्म का उपदेश देते थे, जो उनका अनुसरण कर उससे लाभ उठाते थे।'[1] एक बार लोहिच्च ब्राह्मण[2] की भेंट महाकच्चायन से हुई, जिससे उन्होंने बुद्ध का यह उपदेश सुना कि मनुष्य को आत्मसंयम रखना चाहिए, और आत्मसंयम तभी आ सकता है जब मनुष्य अपने को विषयासक्ति से मुक्त रखे'।

चंकीसुत्त[3] इनसे किंचित भिन्न शैली में आरंभ होता है। चंकी ब्राह्मण ने देखा कि ओपसाद के सभी गृहपति बुद्ध के पास उनका उपदेश सुनने जा रहे हैं। उसने उनके साथ जाने का निश्चय किया। परंतु दूसरे स्थानों से आए हुए कुछ ब्राह्मणों ने उसे मना कर दिया और कहा—"चंकी! तुम विद्वान् गुरु हो, बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हो, संपन्न भी हो और राजा पसेनदि ने तुम्हें अनुदान भी दे रखा है, अतः तुम्हें समण गोतम से मिलने जाना उचित नहीं है।" चंकी ने उन्हें समझाया कि "समण गोतम भी बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनके पास धन संपत्ति की कमी नहीं, परंतु उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर युवावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वे पूर्ण सदाचारी हैं और उन्होंने राग को जीत लिया है। वे अगणित मनुष्यों के ज्ञानदाता हैं। उनके अनुयायियों में बिंबिसार और पसेनदि जैसे नृपतिगण भी हैं, और पोक्खरसादि महामात्र

१. दीघ, १।

२. हो सकता है, यह लोहिच्च, लोहिच्च महासाल ब्राह्मण से भिन्न रहा हो। संयुत्त० ४, पृ० १२०।

३. मज्झिम० २, पृ० १६४।

ब्राह्मण भी उनका अनुयायी है। वे ओपसाद में पधारे है और मुझे उचित है कि उनका उचित सम्मान करूँ।"

चकी बुद्ध के पास गया और उसके साथ बहुत से ब्राह्मण गए। परतु उसने बुद्ध से बातचीत नही की। उसने केवल उनका कापथिक-माणवो के साथ सत्य की प्राप्ति और उसकी अनुरक्षा (सचानुपत्ति और सचानुरक्खना) पर शास्त्रार्थ सुना।

जानुस्सोणि ब्राह्मण महासाल बुद्ध से तीन बार मिला था। पहले उसने पिलोतिक परिव्राजक से सुना कि बुद्ध सम्यक् सबुद्ध हैं, उनका सिद्धात सर्वोत्तम है और उनका सघ श्रेष्ठ और पवित्र है। उनका ज्ञान इतना गभीर है कि कोई उसकी थाह नही पा सकता। जिस किसी विद्वान् ने उनसे शास्त्रार्थ में जूझना चाहा उसे उन्होने परास्त और निरुत्तर करके अपना अनुयायी बना लिया। उन्होने कितने ही ब्राह्मणो और गहपति-महासालो को भी अपने तर्क और युक्तियो से समझाकर अपने सिद्धातो की निर्दोपिता सिद्ध कर दी। पिलोतिक से बुद्ध की ऐसी प्रशसा सुनकर जानुस्सोणि के हृदय मे वडी श्रद्धा उत्पन्न हुई और दूर ही से उसने बुद्ध को प्रणाम किया। तदनतर वह उनके निकट गया और उनसे पिलोतिक के साथ हुई अपनी बातचीत की चर्चा की। बुद्ध ने सक्षेप में उसे अपने धर्म का रहस्य समझाया और इद्रिय-सयम के उपायो तथा स्मृति एव ध्यान के अभ्यास (सतिपट्ठान=स्मृत्युपस्थान और समाधि) के विपय मे उपदेश दिया।[1] जानुस्सोणि उनके व्याख्यानो से वहुत प्रभावित हुआ और उनका अनुयायी बन गया। एक बार जानुस्सोणि ने उन तापसो की चर्चा की जो ध्यान के अभ्यास के लिए वन में चले जाते थे। उसने कहा कि वन में एकात जीवन व्यतीत करने के कारण उन्हे वडा कष्ट होता होगा। बुद्ध ने उत्तर में उसे अपने सब अनुभव बतलाए जो उन्हें सबोधि-प्राप्ति के पूर्व हुए थे। वे भी वन में एकातवास मे रहकर तपस्या करते थे और कभी-कभी वहुत भयभीत हो जाते थे। परतु पीछे उन्हें पता चलता था कि उनके भय का कारण कभी तो कोई पशु होता था, जो उनके पास से होकर निकल जाता था, कभी कोई मोर, जो वृक्ष की एक टहनी नोच कर गिरा देता था और कभी केवल भूमि पर गिरे हुए पत्ते, जो हवा से खडखडा उठते थे। बुद्ध ने बतलाया कि भय का वास्तविक कारण अपने ही मन की विकारपूर्ण अवस्था है। जब उन्होंने अपने विकारो को दूर कर दिया तब वे अभय हो गए। भयकर वन में भी बैठ कर ध्यान करने से उन्हे किसी प्रकार का भय नही लगता था। उन्हें यह सब अनुभव हो चुका था और अत मे

१. मज्झिम० १, पृ० १७६।

उन्हें उच्च आध्यात्मिक शक्तियों तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो गई ।[1] एक अन्य अवसर पर जानुस्सोणि ने यह प्रश्न उठाया कि विश्व की सत्ता है या नहीं। बुद्ध ने अपने सर्वविदित तर्कों द्वारा इन दोनों विरुद्ध कोटि के मतों का खंडन कर दिया और अष्टांग मध्यम मार्ग का उपदेश दिया जिसे उन्होंने ब्रह्मयान की संज्ञा दी ।[2] उनके मत ने पदार्थों के अस्तित्व वा अनस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि वे केवल मृगमरीचिका के समान हैं। उनके सत् या असत् होने के विषय में कोई प्रश्न उठाना व्यर्थ है और वह प्रश्न अनुत्तरित (अव्याकृत) ही रहना चाहिए ।[3]

राजञ्ञमहासाल—पायासि सुत्तन्त की शैली[4] चकीसुत्त के ही समान है। इस सुत्तन्त में समण गोतम के स्थान पर अर्हत् कुमार कस्सप का नाम आता है। पायासि ब्राह्मण महासाल नहीं, प्रत्युत राजञ्ञ था। उसका मत था कि न परलोक है, न कोई स्वयं उत्पन्न जीव हैं, न सत् या असत् कर्मों का कोई फल होता है। कुमार कस्सप ने अनेक उपमाओं और दृष्टांतों द्वारा उसका मत परिवर्तित कर उसे अपना अनुयायी बना लिया।

ब्रह्मलोक की प्राप्ति—जिन ब्राह्मणों से बुद्ध का संपर्क हुआ वे अधिकतर ब्रह्मपद (ब्रह्मसहव्यता) प्राप्त करने के प्रयत्न में थे। तेविज्जसुत्त[5] से एक बातचीत यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जाती है—

दो युवा ब्राह्मण विद्यार्थी आपस में विवाद कर रहे थे कि ब्रह्मलोक प्राप्त करने (ब्रह्मसहव्यता) के लिए पोक्खरसाति द्वारा उपदिष्ट मार्ग उत्तम है अथवा तारुक्ख द्वारा। इस विवाद के निर्णय के लिए वे बुद्ध के पास गए। वे यह मानते थे कि ब्रह्मलोक प्राप्त करने के लिए विभिन्न शाखा के ब्राह्मणों द्वारा उपदिष्ट अनेक मार्ग हैं, यथा—अद्धरिय (अध्वर्यु), तित्तिरिय (तैत्तिरीय), छंदोक (छांदोग्य-सामवेदीय) और बव्हारिज (बहवृच-ऋग्वेदीय)। बुद्ध ने उनकी वाद-कोटियों को सुनकर उनसे प्रश्न किया कि क्या किसी ब्राह्मण ने अथवा तुम्हारे गुरु या गुरु के भी गुरु ने अथवा अट्ठक, वामक, वामदेव, वेस्सामित्त, यामतग्गि, अंगिरस, भरद्वाज, वासेट्ठ, कस्सप, भगु

१. वही १, पृ० १६।
२ संयुत्त० ५, पृ० ४।
३. वही १, पृ० ७६।
४. दीघ०, ३।
५. दीघ० १, पृ० २३५ तथा आगे।

आदि ऋषियो में से किसी ने ब्रह्म को देखा है ? छात्रो ने स्वीकार किया कि किसी गुरु या ऋषि ने यह नहीं कहा कि मैंने ब्रह्म को देखा है। तब वृद्ध ने कहा कि सूर्य और चद्र तो प्रत्येक व्यक्ति को नेत्रो से दिखाई पडते हैं, परतु फिर भी कोई उन तक पहुँचने का मार्ग हमें नही बता सकता। फिर ब्रह्म तो अदृश्य है, उस तक पहुँचने का मार्ग कोई कैसे बता सकता है ? क्या ब्रह्मलोक की खोज करना उस सुदरी कन्या को पाने का प्रयत्न करने के समान नही है जिसका कोई पता ठिकाना ज्ञात नही है ? अथवा क्या वह उस व्यक्ति के प्रयत्न के समान नही है जो बिना यह जाने कि चढकर किस स्थान पर जाना है, अधर मे सीढी लगाना चाहता है ? फिर उन्होने कहा कि ब्राह्मण लोग मत्र के द्वारा इद्र, सोम, वरुण, ईशान, प्रजापति, ब्रह्मा आदि देवो को बुलाते है।[1] यह तो उसी प्रकार हुआ, जैसे कोई व्यक्ति नदी पार करना चाहता हो और दूसरे तट को अपने पास बुला रहा हो।

इसके पश्चात् उन्होने उन छात्रो से प्रश्न किया कि क्या यह सत्य नही है कि ब्रह्म लोभ, मत्सर तथा अन्य विकारो से रहित है, और क्या ब्रह्मपद के अभिलाषी ब्राह्मण भी उन विकारो से रहित हैं ? यदि नही, तो दो भिन्न प्रकार की वस्तुओ (एक विकार रहित, दूसरी सविकार) का मेल (सा ह्वयता) किस प्रकार सभव है ? ब्राह्मण छात्रो से इसका कोई उत्तर देते न बन पड़ा और तब उन्होने बुद्ध से पूछा कि क्या आप ब्रह्मलोक का मार्ग जानते है ? बुद्ध ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया और कहा— "मेरे मन मे वह मार्ग यह है कि पहले मनुष्य आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—इन पचेन्द्रियो से प्राप्त होनेवाले पाँच प्रकार के सुखो (कामगुणा) से अपना सबध विच्छिन्न कर पचबाधाओ (नीवरणो) को नष्ट करे[2], फिर चार विशुद्ध प्रकार के जीवन (ब्रह्मविहार) का अभ्यास करे, अर्थात् सब जीवो के प्रति मैत्री (मेत्ता) और करुणा का भाव रखे, शत्रु-मित्र सभी के सुख मे वास्तविक सुख का अनुभव करे (मुदिता) और सुख और दुःख दोनो मे

१. संयुत्त० १, पृ० २१९।
२ पाँच नीवरण इस प्रकार हैं—
(क) कामच्छन्द = उत्कट सासारिक विषय-वासना।
(ख) व्यापाद = ईर्ष्या, द्वेष।
(ग) थीनमिद्ध = आलस्य।
(घ) उद्धच्च-कुकुच्च = औद्धत्य, सशय।
(ङ) विचिकिच्छा = त्रिरत्न में अनास्था।

समान भाव से रहे (उपेक्खा)। इन चार मानसिक अवस्थाओं की प्राप्ति दीर्घकाल के कठिन अभ्यास से प्राप्त होती है, किंतु केवल इन्ही चारो (जिन्हे ब्रह्मविहार कहते है) के द्वारा मनुष्य ब्रह्मलोक के निवास का अधिकारी हो सकता है। इन चारो का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर मनुष्य राग, द्वेष तथा मोह से मुक्त हो जाता है और वह ब्रह्म का साक्षात्कार (ब्रह्मसाहृयता) कर सकता है"।[1]

जन्मना ब्राह्मण की श्रेष्ठता--दूसरा विषय जिसपर ब्राह्मण आचार्यों का बुद्ध से प्राय शास्त्रार्थ हो जाया करता था, ब्राह्मणो का यह दावा था कि ब्राह्मण जन्म से ही सब जातियों से श्रेष्ठ होता है। उनकी इस श्रेष्ठता को स्वीकार न करने तथा उनके प्रति विशेष आदर भाव न रखने के कारण बुद्ध से वे रुष्ट रहते थे और कई अवसरो पर उन्होंने उनसे उद्धत व्यवहार किया। कहा जाता है कि जब सावत्थी मे अग्गिक भरद्वाज यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करके उसमे आहुतियाँ दे रहा था, उसी समय बुद्ध भिक्षाटन करते हुए उसके यज्ञस्थल के निकट पहुँचे। अग्गिक भरद्वाज दूर से ही उन्हें देखकर चिल्लाया—'अरे मुँडिए, भिक्षु, वृषल, वही खड़ा रह' (तत्र एव मुण्डक, तत्र एव समणक, तत्र एव वसलक तिट्ठहीति)। बुद्ध ने शान्त भाव से उसके शब्द सुने और उस ब्राह्मण से पूछा कि क्या तुम 'वसलक' का ठीक अर्थ जानते हो? उन्होंने स्वय उसे बतलाया कि 'वसलक' वस्तुत वह दुष्ट मनुष्य है जो धर्म और सदाचार के नियमों का पालन नही करता, मेरे जैसा साधु वसलक नही होता।[1]

सुदरिक भरद्वाज ब्राह्मण यज्ञ में आहुतियाँ (अग्निहुत्त) देने के बाद आहुति का अवशिष्ट घृत (हव्यशेष) देने के लिए किसी व्यक्ति को ढूंढ रहा था। उस समय बुद्ध अपने सिर को ढके हुए एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। पैरो की आहट सुनकर उन्होंने सिर पर से वस्त्र हटा लिया और ब्राह्मण को आते देखा। ब्राह्मण उनका मुडित सिर देखते

१. मज्झिम० २, पृ० १९५, २०७।
२. पचशील ये है—
   (क) पाणातिपाता पटिविरतो होति--जीवहिंसा से विरत होना,
   (ख) अदिन्नादाना पटिविरतो होति--चोरी से विरत होना,
   (ग) मुसावादा पटिविरतो होति--असत्य-भाषण से विरत होना,
   (घ) अब्रह्मचरिया पटिविरतो होति--स्त्री-सभोग से विरत होना,
   (ङ) सुरमेरयमज्जपमादट्ठाना पटि विरतो होति--मदिरापान तथा प्रमोद के स्थानों में जाने से विरत होना।
३. सुत्तनिपात, पृ० २१।

ही अति क्रुद्ध हुआ और चिल्ला पडा—'अरे तू मुंडिया है !' वह लौटने ही वाला था, पर फिर यह सोचकर कि कभी-कभी ब्राह्मण भी सिर मुडा लेते है, बुद्ध की ओर मुडा और उनकी जाति पूछी। बुद्ध ने उत्तर दिया–'मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य, मैं एक सन्यासी हूँ, जो कुछ नही चाहता। मुझे दान देने का महान् फल होगा।"[१]

एक बार जब शाक्यो के देश में ब्राह्मणो की एक सभा हो रही थी उस समय बुद्ध सभागृह की ओर जाने लगे। ब्राह्मणो ने कहा—'कौन हैं ये मुंडिए समण ? ये क्या जानें सभा के नियम' ! (के च मुण्डका समणका, के च सभाधम्म जानिस्सन्ति)।[२] परतु बुद्ध चुपचाप सभाभवन में चले गए। ब्राह्मणो में कुछ ऐसे थे जिन्हें जन्म से ब्राह्मणो की श्रेष्ठता में सदेह था। इच्छानगल में, जहाँ बुद्ध ठहरे हुए थे, वासेट्ठे और भरद्वाज नाम के दो विद्यार्थियो में, जो क्रमश पोक्खरसाति और तारुक्ख के शिष्य थे, उक्त विपय पर मतभेद हो गया। एक कहता था कि ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ है, दूसरे का कथन था कि ब्राह्मण अपने कर्मों से, अर्थात् धार्मिक क्रियाओ और सदाचार के नियमो के पालन द्वारा श्रेष्ठ होता है (जातिया बम्हण होति उदाहु भवति कम्मणा)। इस विवाद का निर्णय करने के लिए उन्होने यह समस्या बुद्ध के समक्ष उपस्थित की, जिन्होने उन्हें समझाया कि यदि वृक्षो, झाडियो, सर्पों और पक्षियो में जन्म से ही भेद नही होता तो मनुष्यो मे भी जन्मना भेद क्यो माना जाय ? अपने कर्म से ही कोई कृषक (कस्सक) शिल्पी (सिप्पिक), वनिया (वाणिज), सेवक (पेस्सिको), चोर, युद्धजीवी (योधाजीव), याजक अयवा राजा कहलाता है। अत ब्राह्मण को जन्म से ही श्रेष्ठ होने का दावा नही करना चाहिए। बुद्ध ने यह भी कहा कि ब्राह्मण उसी व्यक्ति को कहना चाहिए जो पूर्ण रूप से पवित्र और सदाचारमय जीवन व्यनीत करे। उनके विचार निम्नलिखित शब्दो में व्यक्त किए गए—

"न जच्चा ब्राह्मणो होति न जच्चा होति अब्राह्मण।
कम्मणा ब्राह्मणो होति कम्मणा होति अब्राह्मणो॥
तपेन ब्रह्मचरियेन सयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति एत ब्राह्मण उत्तमम्॥"[३]

(जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न अब्राह्मण। केवल अपने कर्म से ही कोई ब्राह्मण

१. सुत्तनिपात पृ० ७९, सयुत्त १, पृ० १६७।
२ सयुत्त० १, पृ० १८४।
३. सुत्तनिपात, पृ० ११५।

या अब्राह्मण होता है। तप, ब्रह्मचर्य, सयम और दम के द्वारा ही मनुष्य उत्तम ब्राह्मण बन सकता है।)

जब बुद्ध सावत्थी मे ठहरे थे उस समय अस्सलायन ने इसी प्रश्न को कुछ भिन्न रूप में बुद्ध के सामने उपस्थित किया था। उसका कथन था कि ब्राह्मण ही सब वर्णों मे उत्तम है, अन्य वर्ण नीच और अशुद्ध है। ब्राह्मण ब्रह्मा की सतान है। बुद्ध ने इसके उत्तर में ये तर्क दिए—(क) ब्राह्मण अपनी माता के गर्भ से ठीक उसी प्रकार जन्म लेता है जिस प्रकार अन्य जातियाँ, (ख) योन-कबोज तथा अन्य प्रत्यत देशो में केवल दो ही जातियाँ होती है—स्वामी और दास, परतु वहाँ कभी-कभी स्वामी दास हो जाते है और दास स्वामी, (ग) ब्राह्मण अपने सत् वा असत् कर्मो के फलस्वरूप स्वर्ग या नरक में जाता है और अन्य जातियो के मनुष्यो के विषय में भी यही सत्य है, (घ) ब्राह्मण हो या किसी अन्य जाति का मनुष्य, दोनो समान रूप से मैत्री और करुणा धर्म का पालन कर सकते है, नदी में स्नान करके अपनी देह शुद्ध कर सकते है, और लकडी से आग जला सकते है—ब्राह्मण और अन्य जाति के मनुष्य द्वारा जलाई गई आग मे कोई अतर नही होगा, (ङ) मूर्ख ब्राह्मण की अपेक्षा विद्वान् ब्राह्मण अधिक आदर पाता है, और इस प्रकार ब्राह्मण-ब्राह्मण में भी भेद माना ही जाता है। अत जन्ममात्र से नही, प्रत्युत अपने कर्म से ही मनुष्य श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट माना जा सकता है।[1]

सुभ तोदेय्यपुत्त सावत्थी मे बुद्ध के पास यह पूछने के लिए गया था कि मनुष्यो में स्वास्थ्य, वर्ण, धन, कुटुब, ज्ञान आदि के आधार पर ऊँच-नीच का भेद माने जाने का क्या कारण है (मनुस्सान दिस्सति हीनप्पणीतता)। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मनुष्य की उच्चता वा निकृष्टता उसके पूर्व जन्म के कर्मो का फल है। वस्तुत कर्म ही सब जीवो का जनक, दायाद और बधु है (कम्मस्सका सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनि कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा)।[2] उन्होने अपने इस व्याख्यान का उपसहार निम्नलिखित श्लोक से किया—

"कम्मणा वत्तति लोको कम्मणा वत्तति पजा।
कम्मणि बन्धना सत्ता रथस्साणीव यायतो" ॥[3]

१. मज्झिम० २, पृ० १४७।
२. वही ३, पृ० २०३।
३. सुत्तनिपात, पृ० १२३।

(कर्म ही से लोको की सत्ता है, कर्म ही से लोको के मनुष्यो की सत्ता है। सभी जीव अपने पूर्व कर्मों से उसी प्रकार बँधे हुए हैं जैसे चलता हुआ रथ अपने धुरे से।)

ब्राह्मण आचार्यों ने बुद्ध के समक्ष अनेक शकाएँ समाधान के लिये उपस्थित की, विशेषत ऐसे विपयो पर शकाएँ, जिनकी उस समय लोगो मे चर्चा हुआ करती थी। यथा, विश्व की सत्ता है या नही, आत्मा की सत्ता है या नही मृत्यु के बाद तथागत (पूर्ण मुक्त जीव) की सत्ता रहती है या नही, बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित धर्म के अभ्यास का क्या क्रम है, इत्यादि।

ब्राह्मण गृहस्थ––ब्राह्मण आचार्यो और तार्किको के अतिरिक्त बहुत से ब्राह्मण गृहस्थ भी बुद्ध के व्याख्यानो को ध्यानपूर्वक सुनते थे। उनमें से कुछ तो उपासक हो गए और कुछ भिक्षु-सघ मे सम्मिलित हो गए।

सयुत्तनिकाय[1] में कोसल और शाक्य प्रदेश के अनेक ब्राह्मणो के नाम आए है, जो बुद्ध के पास अपनी शकाएँ लेकर गए और उनके विचारोत्तेजक उत्तरो को सुनकर या तो भिक्षु हो गए अथवा उन्होने अपने को बौद्धधर्मी उपासक घोषित कर दिया। जिन्हे अर्हत् पद प्राप्त हुआ उनके नाम इस प्रकार हैं––(१) अहिसक, (२) जटा भरद्वाज, (३) सुधिक भरद्वाज, (४) अग्गिक भरद्वाज, (५) सुदरीक भरद्वाज, (६) वहुधीति भरद्वाज। जो ब्राह्मण-ब्राह्मणी उपासक हुए उनके नाम ये हैं––(१) उदय, (२) देवहित, (३) लुखयापूरण, (४) मानत्यद्ध, (५) पच्चनीकसात, (६) नवकम्मिक भरद्वाज, (७) कट्ठहार, (८) मातुपोसक, (९) भिक्खक, (१०) सगरव, (११) वेरहच्चानि ब्राह्मणी, (१२) खोमदुस्सक ब्राह्मण गहपतिका। कोसल के बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले ब्राह्मणो की यह सूची पूर्ण नही समझी जानी चाहिए, इसमें केवल मुख्य-मुख्य ब्राह्मणो के ही नाम आए हैं।

साधारणत बुद्ध अपने गभीर विचारो का उपदेश उन लोगो को नही दिया करते थे जो केवल उपासक थे, अर्थात् बौद्ध धर्म स्वीकार करके भी भिक्षु नही हुए थे। उदाहरणार्थ, उपासक मानत्यद्ध ब्राह्मण को उन्होने अपने माता-पिता, ज्येष्ठ भ्राता और गुरु का आदर करने तथा अपने अहकार को वश मे करने का उपदेश दिया। मातुपोसक ब्राह्मण की उन्होंने इसलिए प्रशसा की कि वह अपने माता-पिता की सेवा करता था। उससे उन्होने कहा कि अपने इस पुण्य-कर्म के फलस्वरूप उसका भावी जन्म स्वर्ग में होगा। भिक्खक ब्राह्मण से उन्होने कहा कि केवल भिक्षा माँगना कोई गुण नही

१ सयुत्त० १, पृ० १६५।

है। भिक्षाजीवी को पवित्र जीवन व्यतीत करना तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। नवकम्मिक और कट्ठहारिक ब्राह्मण बुद्ध को अकेले वन में बैठकर ध्यान करते हुए देखकर बहुत प्रभावित हुए और उनके भक्त हो गए। सगरव ब्राह्मण पवित्र नदियों में स्नान के द्वारा शुद्ध होने में विश्वास करता था, परन्तु बुद्ध ने उसका भ्रम दूर किया और कहा कि शुद्धि के लिए सत्य की गंभीर नदी में स्नान करना चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य भवसागर को पार कर जाता है (फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता)।[1] इसके पहले सगरव ब्राह्मण धनजनी ब्राह्मणी से इसलिए रुष्ट हो गया था कि उसने वृद्ध ब्राह्मणों की उपस्थिति में त्रिरत्न की प्रशंसा की थी। परन्तु ब्राह्मणी ने सगरव को बुद्ध से मिलने का परामर्श दिया, जो उस समय तोदेय्य ब्राह्मण के आम्रवन चंडालकप्प में पहुँच गए थे। सगरव बुद्ध के पास गया और उसने पूछा कि 'क्या आप को इस जीवन में अभिज्ञाएँ (अभिञ्ञा)[2] प्राप्त हो गई हैं'? बुद्ध ने उत्तर दिया कि तेविज्ज[3] अर्थात् अभिज्ञाप्राप्त व्यक्तियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं। एक में वे अर्हत् लोग हैं जो दूसरों के उपदेश सुनकर अभिज्ञा प्राप्त करते हैं, दूसरी में वे तार्किक (तक्की-विमंसी) हैं जो श्रद्धा के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं और तीसरी में सम्मा सम्बुद्ध हैं जो बिना किसी की सहायता के अभिज्ञा प्राप्त करते हैं। परन्तु इसके लिए उन्हें गृहस्थजीवन के सुखों का त्याग कर दीर्घ काल तक कठिन अभ्यास करना पड़ता है। सगरव बुद्ध के वचनों को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और उनका भक्त हो गया।[4] एक अन्य अवसर पर सगरव ने यह स्थापना करनी चाही कि यज्ञ करने से अनेक मनुष्यों का लाभ होता है, यज्ञ करनेवालों का भी और करानेवालों का भी, परन्तु बौद्धधर्मी भिक्षु केवल अपने

१. वही, पृ० १८३।

२. छ अभिज्ञाएँ हैं—दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र, दूसरों के विचारों का ज्ञान, अपने पूर्व जन्म की स्मृति तथा अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति।

३. अंगुत्तर १, पृ० १६६—जानुस्सोणि ब्राह्मण के अनुसार तेविज्ज वह है जो अभिजात-कुलोत्पन्न तथा वेदांगों सहित तीनों वेदों का पंडित है। बुद्ध के मत के अनुसार तेविज्ज वह भिक्षु है जो इतनी ऊँची आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँच चुका हो कि (१) अपने पूर्वजन्मों का वृत्त जान सके, (२) अन्य मनुष्यों के भावी जन्म की बात जान सके, और (३) चार सत्यों को समझकर यह अनुभव करे कि 'मैंने अपने तीन दोषों (आसवों) को नष्ट कर दिया है, मैं मुक्त हो गया हूँ और अब फिर मेरा जन्म नहीं होगा।'

४. मज्झिम० २, पृ० २०९।

ही कल्याण के लिए सब कुछ करता है। बुद्ध ने उत्तर दिया कि भिक्षु भी अनेक व्यक्तियो का कल्याण करते है, क्योकि वे भिक्षु होने के बाद दूसरो को भी सासारिक जीवन से निवृत्त होकर परिव्राजक का धर्ममय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करते हैं।[1]

एक ब्राह्मणी उपाध्याया थी, जिसका नाम था वेरहच्चानी। उसने अपने एक शिष्य को उदायि को निमन्त्रित करने के लिए भेजा जो तोदेय्य के आम्रवन मे ठहरे हुए थे। उदायि उसका निमन्त्रण स्वीकार कर उसके घर गये। भोजन के पश्चात् ब्राह्मणी खडाऊँ पहनकर ऊँचे आसन पर बैठ गई और मुख को अवगुठित कर उसने उदायि से धर्म का व्याख्यान करने को कहा। परतु उदायि यह कहकर वहाँ से चले गए कि उपयुक्त समय पर मै व्याख्यान करूँगा। दूसरी बार ब्राह्मणी ने फिर वैसा ही किया और उदायि फिर बिना प्रवचन किए चले गए। तीसरी बार ब्राह्मणी नगे पैर, नीचे आसन पर, अवगुठन हटाकर बैठी और उसने उदायि से दु ख और सुख का कारण पूछा। उदायि ने उत्तर दिया कि सुख-दु ख का कारण मनुष्य की इद्रियाँ है जिन्हे वश में करके वह सुख और दु ख दोनो के परे पहुँच सकता है। ब्राह्मणी इस उत्तर से बहुत सतुष्ट हुई और उपासिका हो गई।[2]

---

१. अगुत्तर० १, पृ० १६८-६९।
२. सयुत्त०, ४, पृ० १२१ तथा आगे।

अध्याय ६

बुद्ध तथा राजा प्रसेनजित् और उदयन

बौद्ध धर्म के इतिहास में राजा बिंबिसार के साथ भगवान् बुद्ध का संपर्क अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। उसके बाद कोसल के राजा (प्रसेनजित्) पसेनदि का स्थान है। पसेनदि बुद्ध का केवल समकालीन ही नहीं, उनका समवयस्क भी था।[1] शाक्य लोग तथा संभवत केसपुत्त के कालाम भी उसके अधीन थे।[2] अनाथपिंडिक के जेतवन विहार का निर्माण पूरा हो जाने पर जब बुद्ध प्रथम बार श्रावस्ती गए तो राजा पसेनदि ने उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए अपनी राजधानी में उनका स्वागत किया और इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि उसके राज्य की भूमि बुद्ध-जैसे महात्मा के चरणों से पवित्र हुई। उसने बुद्ध के उपदेशों को भी सुना, जिनका कदाचित् उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पसेनदि ने उनसे प्रश्न भी किया कि अवस्था में कम होने तथा बहुत तपोवृद्ध न होने पर भी आप क्यों अपने को सम्यक् संबुद्ध घोषित करते हैं, जब कि पूरण कस्सप तथा मक्खलि गोसाल जैसे ज्येष्ठ एवं ज्ञान-विशिष्ट आचार्य वैसा नहीं करते। बुद्ध ने उत्तर दिया कि क्षत्रिय, सर्प, अग्नि और भिक्खु—इनके छोटे होने पर भी इनकी शक्ति को कम नहीं समझना चाहिए।[3] एक अन्य अवसर पर, जब राजा पसेनदि मिगार-मातु-पासाद में बुद्ध के सम्मुख बैठा हुआ था, बड़े-बड़े नखों और लंबी जटाओं-वाले सात जटिल, सात निगंठ, सात अचेल, सात एकसाटक, और सात परिव्राजक उसके निकट से होकर गए।[4] उन्हें देखकर राजा ने खड़े होकर बड़ी भक्ति के साथ अपना नाम निवेदन कर उन्हें प्रणाम किया और जब वे चले गए तो उसने बुद्ध से उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक सिद्धियों की बड़ी प्रशंसा की। परन्तु बुद्ध ने उसकी बात का खंडन किया और कहा कि किसी महात्मा का महात्मापन कोई दूसरा महात्मा ही जान सकता है, गृहस्थ नहीं और महात्मा के महात्मापन की परीक्षा उसके नेम-धर्म, उसके आचरण विपत्ति में उसके धैर्य तथा उसके दार्शनिक एवं धार्मिक विचार-विमर्श से होती है।

१. मज्झिम० २, पृ० १२४—'भगवापि असीतिको अहं पि असीतिको।'
२. अंगुत्तर० १, पृ० १८८ केसपुत्त कोसल के अंतर्गत ही माना गया है।
३. संयुत्त० १, पृ० ६८-६९।
४. वही० १, पृ० ७८।

जब बुद्ध श्रावस्ती में निवास कर रहे थे उस समय पसेनदि ने एक यज्ञ किया और उसमे अनेक पशुओ की बलि दी। कुछ भिक्षुओ ने इसकी सूचना बुद्ध को दी तब उन्होने कहा कि अस्समेध, पुरिसमेध, सम्मापास और वाजपेय यज्ञो से, जिनमे पशुओ की बलि दी जाती है, मनोवाछित फलो की प्राप्ति नही हो सकती। केवल उन्ही धार्मिक कर्मो मे इष्ट फल की प्राप्ति होती है, देवता प्रसन्न होते है और यजमान को पुण्य होता है जिनमे पशुओ की बलि नही दी जाती।[1]

राजा पसेनदि ब्राह्मणो के कर्मकाड और शास्त्रो का प्रबल समर्थक था, यह उसके उन ग्रामो के दानो से भी प्रमाणित होता है जिन्हें उसने विशिष्ट ब्राह्मण आचार्यों को उनके गुरुकुलो और छात्रो के अनुरक्षण के लिए दिया था (द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ९५)। वह किस प्रकार शनै शनै बुद्ध और उनके उपदेशो की ओर आकृष्ट हुआ, इसका वर्णन कुछ कथाओ में मिलता है।

यद्यपि त्रिरत्न मे पसेनदि का पक्का विश्वास नही था तथापि वह सघ को दान और सहायता देने लगा। उसने ५०० भिक्षुओ को नित्य भोजन देने के लिए एक सत्र खोल दिया। वह वहाँ उत्तम और स्वादिष्ट पक्वान्न भेजा करता था, परतु भिक्षु लोग उसे न ग्रहण कर साधारण गृहस्थो के ही यहाँ भिक्षा माँगने जाया करते थे। राजा ने बुद्ध से इसकी शिकायत की कि भिक्षु लोग उसके सत्र में भोजन नही ग्रहण करते, और उनसे इसका कारण जानना चाहा। बुद्ध ने उत्तर दिया कि इसका कारण पसेनदि तथा राज-परिवार के व्यक्तियो के हृदय मे सघ के प्रति श्रद्धा एव भिक्षुओ के प्रति उचित आदर का अभाव है। इसके पश्चात् पसेनदि ने एक शाक्य कुमारी को अपनी रानी बनाकर शाक्यो से अपना नाता जोडने का निश्चय किया। परतु शाक्यो को अपनी वश-शुद्धता का बडा अभिमान था, अत उन्होने पसेनदि से छल करके, उसे शाक्य राजकुमारी न देकर, उसके साथ वासभखत्तिया नाम की एक कन्या का विवाह कर दिया जो शुद्धोदन के उत्तराधिकारी महानाम की दासी के गर्भ से उत्पन्न पुत्री थी।

उस विवाह के कुछ दिनो बाद राजा प्रसेनजित् राजा अजातशत्रु के द्वारा आक्रात और पराजित हुआ। अपनी रक्षा के लिए भागते हुए उसने कोसल के प्रधान माली के उपवन मे शरण ली। उस माली के मल्लिका नाम की एक बडी धर्मात्मा और रूपवती कन्या थी, जिसे पसेनदि ने अपनी पटरानी बना लिया। रानी मल्लिका बुद्ध की बडी भक्त थी।

१ सयुत्त० १, पृ० ७५-६, अगुत्तर० २, पृ० ४२।

इसके पश्चात् उप्पलगव के एक धनकुबेर श्रेष्ठि के भिक्षु हो जाने पर पसेनदि ने उसकी पत्नी को अपनी रानी बना लिया। यह रानी भी बुद्ध की भक्त थी। पसेनदि के राजप्रासाद में ५०० रानियां थी और सभी जेतवन में होनेवाले धार्मिक प्रवचनों को सुनना चाहती थी, परंतु पसेनदि ने उन्हे वहां जाने की अनुमति नही दी। हां, उसने बुद्ध से यह प्रार्थना अवश्य की कि वे एक भिक्षु को प्रतिदिन धार्मिक प्रवचन करने के लिए प्रासाद में भेज दिया करें। बुद्ध ने इस कार्य के लिए आनंद को नियुक्त कर दिया। परंतु बुद्ध-द्वेषी अश्रद्धालु पंडितों को यह व्यवस्था अच्छी न लगी और उन्होंने आनंद तथा प्रासाद की स्त्रियो के चरित्र पर लाछन लगाने का प्रयत्न किया, यद्यपि इसमें वे सफल नहीं हुए।

मल्लिका पसेनदि की सबसे प्रिय रानी थी। जब उसने एक कन्या को जन्म दिया तो राजा प्रसन्न नहीं हुआ। वह बुद्ध के पास गया, परंतु बुद्ध ने उसमें स्त्री के गुणो की बडी प्रशंसा की। मल्लिका बुद्ध की इतनी भक्त थी कि उनके प्रत्येक शब्द का वह वेद-वाक्य मानती थी। एक बार उसने बुद्ध के इस वचन मे अपना पूरा विश्वास प्रकट किया कि 'प्रियजन दु ख के कारण होते है,' परंतु राजा को यह बुरा लगा। मल्लिका ने नालिजंघ ब्राह्मण के द्वारा बुद्ध से उक्त वचन की पुष्टि कराने के बाद राजा को उसका रहस्य समझाकर उसे यह विश्वास करा दिया कि बुद्ध का वचन सत्य है। उसने राजा से कहा कि 'वजिरा (मल्लिका की कन्या और अजातशत्रु की रानी), वासभखत्तिया, उसका पुत्र विडूडभ, मैं और कासिकोसल के निवासी प्रजाजन निस्सदेह आपको परम प्रिय है, परंतु क्या यह सत्य नही है कि हम सभी जरा और मृत्यु के अधीन है और इस कारण अंत में दु ख के कारण होंगे ?'[1] एक अन्य अवसर पर बातचीत मे पसेनदि ने मल्लिका से स्वीकार किया कि मनुष्य को अपने आपसे बढकर कोई भी प्रिय नहीं होता, और बुद्ध के वचन द्वारा इसकी भी पुष्टि हुई।[2] रानी मल्लिका की मृत्यु के पश्चात् राजा सात्वना के लिए बुद्ध के पास गया। अपनी दादी की मृत्यु के पश्चात् भी वह सात्वना के लिए बुद्ध के पास गया था।[3] राजा के सोमा और सुकुला नाम की दो बहनें थीं, वे भी बुद्ध की बडी भक्त थीं।[4]

१. मज्झिम० २, पृ० १०९ तथा आगे।
२. संयुत्त० १, पृ० ७५।
३. अंगुत्तर० ३, पृ० ५७, ९७।
४. मज्झिम० २, पृ० १२५।

ब्राह्मणो के प्रति राजा का पक्षपात होते हुए भी, निकायो मे इस बात के प्रमाण मिलते है कि धीरे-धीरे वह अपनी वृद्धावस्था तक बुद्ध का सच्चा उपासक बन गया। कोसल सयुत्त[1] मे अनेक ऐसे प्रवचन है जो विशेष रूप से पसेनदि के ही लिए किए गए थे। उनमें निम्नलिखित उपदेश दिए गए हैं—

(क) लोभ, द्वेष और मोह दु ख के प्रधान कारण है।

(ख) सभी ब्राह्मण और सभी क्षत्रिय, चाहे वे कितने ही धनी क्यो न हो, जरा और मृत्यु के अधीन है, इसलिए उन्हें धर्म और सदाचार का पालन करना चाहिए।

(ग) मन, वचन, अथवा कर्म से जो मनुष्य कोई पाप करता है वह अपने आत्मा का भी प्रिय नही करता, क्योकि उसके पापो के कारण उसकी आत्मा को अगले जन्मो में दु ख भोगना पडता है।

(घ) कोई भी सेना मनसा, वाचा अथवा कर्मणा पाप करनेवाले की दु ख से रक्षा नहीं कर सकती।[2]

(ङ) ऐसे विरले ही लोग होगे जो सासारिक भोग-विलास में डूबे रहने पर भी अपने ऊपर सयम रख सकें।

(च) कितने ही सपन्न लोग भी अपने सासारिक लाभो के लिए जान-बूझकर असत्य भाषण करते है।

(छ) मिताहारी होना मनुष्य के लिए कल्याणकर है (पसेनदि ने एक ब्राह्मण युवा को इसलिए नियुक्त किया था कि वह भोजन के समय उसे इस वचन का स्मरण दिलाया करे)।

(ज) अपने राजपुरुषो और परिचरो को परिश्रमी बनाने के लिए राजा को स्वय परिश्रमी बनना चाहिए।

(झ) बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टाग मार्ग मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र और गुरु है।

(ञ) कृपणता मनुष्य को कही का नही रखती।

(ट) दान ऐसे सतो को देना चाहिए जो उसके पात्र हो, जिनके विकार नष्ट हो गए हो और जो उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच चुके हो।

एक बार सावत्थी और साकेत के मार्ग के मध्य में स्थित तोरणवत्थु मे राजा पसेनदि

१. संयुत्त० १, पृ० ६८ और आगे।

२. मज्झिम०। २, पृ० ११४। आनंद राजा को समझाता है कि कायसमाचार, वाचिसमाचार और मनोसमाचार क्या है।

की भेंट खेमा भिक्खुणी से हुई जो पहले राजा बिंबिसार की रानी थी और अपनी सुंदरता के के लिए प्रसिद्ध थी। अब एक सत भिक्खुणी के रूप में उसकी ख्याति सुनकर राजा उनके पास गया और उससे प्रश्न किया कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं? खेमा भिक्खुणी ने कहा कि इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह तो वैसा ही प्रश्न है जैसे कोई राजा से प्रश्न करे कि क्या तुम अपने गणक की सहायता से यह बता सकते हो कि गंगा में कितने सिकता-कण हैं अथवा समुद्र में कितना जल है? खेमा ने राजा को समझाया कि मूर्ख मनुष्य तथागत को मन तथा पंचभूतों अर्थात् पंचस्कंधों का बना हुआ एक मनुष्य समझते हैं, परंतु तथागत तो पंचस्कंधों (खंध) से सर्वथा रहित हैं, अतः उनका रूप समुद्र के समान ही अमेय और अज्ञेय है।[1]

राजा पसेनदि जब अस्सी वर्ष का हुआ तब वह बुद्ध का परम भक्त हो गया। यह घटना उस समय घटी जब बुद्ध शाक्यों के राज्य के अंतर्गत मेदलुप में ठहरे हुए थे। राजा वहाँ नगरक से अपने प्रधानमंत्री दीघकारायण के साथ गया। बुद्ध के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट होने के पहले राजा ने अपना मुकुट और खड्ग दीघकारायण को सौंप दिया। कहते हैं कि उस समय दीघकारायण राजा से अप्रसन्न था, अतः अनायास अवसर हाथ आया देख वह असि और मुकुट लेकर वहाँ से भाग आया। ये दोनों वस्तुएँ उसने राजा के पुत्र और सेनापति विडूडभ को सौंप दीं और उसे कोसल का राजा बना दिया। राजा पसेनदि बुद्ध से खुलकर बातें करता रहा और बौद्ध संघ के भिक्षुओं की उसने बड़ी प्रशंसा की। उसने कहा कि मैं 'अनेक सन्यासियों को जानता हूँ जो १० से ४० वर्ष तक गृहत्यागी रहकर पुनः गृहस्थ जीवन में लौट आए और विषयभोग में पड़ गए'। परंतु किसी बौद्ध भिक्षु को ऐसा करते मैंने नहीं देखा। मैंने पिता, माता और पुत्र को तथा राजाओं और उनके सामंतों को परस्पर लड़ते देखा है, परंतु बौद्ध भिक्षुओं को सदा शांति और मेल में रहते पाया है। मैंने ऐसे सन्यासियों को देखा है जो रुग्ण होकर पीले पड़ गए हैं, परंतु बौद्ध भिक्षुओं में किसी को ऐसा नहीं पाया। मैंने न्यायालयों में लोगों को गप्पें मारते हुए सुना है परंतु जिस सभा में बुद्ध का प्रवचन होता है उसमें मैंने गप्पें मारने की बात कहे, कभी किसी को खाँसते हुए भी नहीं सुना। वहाँ कोई प्रश्न भी नहीं करता, जैसा कि मैंने अन्य धर्माचार्यों की सभाओं में लोगों को करते देखा

१. संयुत्त० ४, पृ० ३७७ 'तथागतो गम्भीरो अप्पमेय्यो दुप्परियोगाहो सेय्यथापि महासमुद्दो', अंगुत्तर १, पृ० २२७।

है। अत मे राजा ने अपने इसिदत्त और पूरण नामक दो अधिकारियो की चर्चा की, जो अपने स्वामी और अन्नदाता से अधिक बुद्ध का आदर करते थे। इस प्रकार राजा पसेनदि ने बुद्ध के प्रति अपना विशेष आदरभाव प्रकट किया।[1] अगुत्तर निकाय[2] के अनुसार राजा पसेनदि जेतवन मे बुद्ध के पास उस समय गया था जब वह एक युद्ध मे विजय प्राप्त करके लौटा था। वह बडे आदरभाव के साथ बुद्ध के निकट गया और निम्नलिखित कारणो से उसने उनकी प्रशसा की—

(१) बुद्ध ने अपना जीवन मनुष्य के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया था, (२) वे पूर्ण सदाचारी थे, (३) उन्हें अरण्य-वास में आनद मिलता था, (४) वे अपने भोजन, वस्त्र और अन्य आवश्यक वस्तुओ के सबध में यथालाभ सतोष करते थे, (५) वे सचमुच दान और प्रशसा के पात्र थे, (६) एकातवास, सदाचार, ध्यान आदि विषयो की चर्चा करने मे उन्हें आनद मिलता था, और (७) उन्हें षडभिज्ञाएँ प्राप्त थी।

राजा पसेनदि के कार्याधिकारी

राजा पसेनदि के इसिदत्त और पूरण नाम के दो कार्याधिकारी थे। उनकी त्रिरत्न में बडी श्रद्धा थी। सावत्थी मे वर्षा-निवास के बाद जब बुद्ध वहाँ से जाने लगे तो वे दोनो बडे दुखी हुए। वे इसलिए बडे चिंतित रहते थे कि जब राजा पसेनदि अपनी दो सुकुमार और सुदरी रानियो के साथ, एक को अपने आगे और एक को पीछे बैठाकर, हाथी पर सवार होता था तो उसकी रक्षा का भारी उत्तरदायित्व उन्ही दोनो अधिकारियो को वहन करना पडता था। एक ओर उन्हें हाथी को देखना पडता था, दूसरी ओर दोनो रानियो को, और सबसे बढकर उन्हें उन दोनो मोहिनी नारियो से अपने को बचाकर रखना पडता था। बुद्ध ने उन्हें त्रिरत्न मे दृढ विश्वास रखने तथा कृपणता छोडकर उदारतापूर्वक दान देने का (जिसके लिए वे पहले ही से प्रसिद्ध थे) उपदेश दिया।

पूरण की मिगसाला नाम की एक कन्या थी, जो उपासिका हो गई थी। उसने एक बार आनद से पूछा कि उसका पिता, जो ब्रह्मचारी था, और इसिदत्त, जो अपनी स्त्री के साथ रहता था, दोनो ही क्यों मृत्यु के पश्चात् 'सकदागामी' पद के अधिकारी हुए? आनद ने यह प्रश्न बुद्ध के सामने उपस्थित किया, तब बुद्ध ने समझाया कि

१. मज्झिम० २, पृ० ११८ तथा आगे।
२ अगुत्तर० ५ पृ० ६५।

विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो के लिए आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न मार्ग होते है।[1]

राजा पसेनदि के राजगुरु गग्ग के पुत्र अहिंसक का चरित्र बड़ा ही विचित्र और उदात्त था। उसका 'अहिंसक' नाम तो लोग प्राय भूल गए और पूर्वोल्लिखित कारणो[2] से वह अगुलिमाल के नाम से दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया। एक दिन जब पसेनदि ५०० अश्वारोही योद्धाओ के साथ साहसिक (डाकू) अगुलिमाल को बदी करने के लिए जा रहा था, तो उसने बुद्ध से मिलकर उन्हे अपना उद्देश्य बतलाया। बुद्ध ने उससे पूछा कि यदि तुम अगुलिमाल को सिर मुंडाए और पीला वस्त्र पहने हुए भिक्षु के रूप मे पाओ तो क्या करोगे ? तब पसेनदि ने उत्तर दिया कि मैं उसका उचित सम्मान करूँगा। तब बुद्ध ने उसका ध्यान अपने दाहिने पार्श्व में बैठे हुए एक भिक्षु की ओर आकर्षित किया और कहा कि अब इससे भय का कोई कारण नही है। जब अगुलिमाल पुरवासियो के पास भिक्षा मांगने के लिए जाता था तो लोग उससे घृणा करते थे और कभी-कभी उसे मारते-पीटते भी थे। एक दिन जब अगुलिमाल भिक्षा मांगने के लिए गया हुआ था तो एक स्त्री को असह्य प्रसव-वेदना मे छटपटाते हुए देखा। लौटकर उसने बुद्ध को यह समाचार सुनाया, तब उन्होने उसे फिर लौटकर उस स्त्री के पास जाने की आज्ञा दी और कहा कि तुम जाकर उससे इस प्रकार कहो—"यतो अह भगिनी जातो नाभिजानामि सचिच्चा पाण जीविता वोरोपेता, तेन सच्चेन सोत्थिते होतु सोत्थि गब्भस्सति" (अर्थात् मेरे इस सत्य वचन के प्रभाव से कि मैंने अपने जन्म से लेकर आज तक कभी जान-बूझकर किसी जीव की हत्या नहीं की, तुम स्वस्थ हो जाओ और सुख से प्रसव करो)। इस पर अगुलिमाल ने बुद्ध की ओर सदेह की दृष्टि से देखा, तब उन्होने बतलाया कि 'जातो' से मेरा तात्पर्य एक दीक्षा-प्राप्त भिक्षु के रूप में तुम्हारे पुनर्जन्म से है। अगुलिमाल के उस सत्य कर्म का अभीष्ट फल हुआ और कोसल भर में उसका यश फैल गया।[3]

कोशाबी का राजा उदयन (उदेन)

कौशाबी के राजा उदेन के पास सभवत हाथियो की एक शक्तिशाली सेना थी,

१ अगुत्तर० ३, पृ० ३४८।
२ द्रष्टव्य अध्याय ४, पृ० ८६।
३ मज्झिम० २, पृ० ९७ तथा आगे।

इस कारण वह एक बहुत बड़े हस्तिपालक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और उसके विषय मे कहानियाँ प्रचलित हो गई। कहा जाता है कि हाथी पालने की कला में अपनी इस विशेष निपुणता के द्वारा ही वह अवती के राजा चड पज्जोत की कन्या वासवदत्ता का हरण करने में समर्थ हुआ। घोपक सेट्ठि उसका कोषाध्यक्ष था, जिसने अपने एक मित्र की पुत्री सामावती को अपनी कन्या के रूप में गोद ले लिया था। सामावती अत्यत सुदरी थी। राजा उदेन उसपर मोहित हो गया और घोपक की इच्छा के विरुद्ध उसने उसे अपनी रानी बना लिया। उसने मागदिया नाम की एक और सुदरी से विवाह किया जो कुरु देश के एक ब्राह्मण की कन्या थी। जब बुद्ध कौशाबी के तीन सेट्ठियो की प्रार्थना पर वहाँ गए थे तो सामावती की परिचारिका खुज्जुत्तरा बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए जाया करती थी। वह त्रिपिटक के ज्ञान मे प्रवीण हो गई और बुद्ध से सुने हुए उपदेशो का वह अनुवचन कर सकती थी। रानी सामावती और उसकी सखियो ने खुज्जुत्तरा से बुद्ध के उपदेशो का अनुवचन सुना और उन्हे त्रिरत्न मे श्रद्धा हो गई। जब कभी बुद्ध राजप्रासाद के निकट से होकर जाते तो वे गवाक्षो में से उन्हें देखती और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया करती थी। रानी मागदिया ने इसे देख लिया और इसकी सूचना राजा को दे दी। बुद्ध और उनके शिष्यो के प्रति राजा के भाव बहुत अच्छे न थे। मागदिया ने भिक्षुओ को, जिनमें आनद भी था, अपशब्द कहने और अपमानित करने के लिए कुछ मनुष्यो को नियुक्त किया और आनद ने बुद्ध से इसकी शिकायत की। बुद्ध ने आनद को अपशब्दो और अपमान की परवाह न करके सहनशीलता धारण करने का उपदेश दिया। मागदिया ने ऐसा प्रपच रचा कि राजा सामावती से बहुत अप्रसन्न हो गया। वह उसका वध करा देना चाहता था, परतु किसी अदृष्ट शक्ति के प्रभाव के कारण वह इसमे असफल रहा और रानी बच गई। पीछे राजा ने पश्चात्ताप किया और प्रतिदिन राजप्रासाद में भिक्षुओ को भोजन कराने की सामावती की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वह राजप्रासाद की स्त्रियो द्वारा भिक्षुओ को वस्त्रो का प्रचुर दान दिए जाने पर आपत्ति करता था, परन्तु जब आनद ने उसे बतलाया कि भिक्षु लोग उन वस्त्रो का किस प्रकार उपयोग करते हैं, तब उसके विचार बदल गए। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि बुद्ध से कभी उसकी भेंट हुई। केवल एक प्रवचन सयुत्त निकाय (४, पृ० ११०) में है जिसमे पिंडोल भरद्वाज ने राजा उदेन को इसका कारण बतलाया है कि क्यो युवकगण भिक्षु बनकर बुद्ध के सघ मे सम्मिलित हो जाते थे। इस प्रवचन के अनतर राजा ने त्रिरत्न मे अपनी आस्था प्रकट की।

किन्तु राजा उदेन के पुत्र बोधि राजकुमार की बुद्ध के प्रति अपने पिता की अपेक्षा

कहीं अधिक श्रद्धा थी। उसने भग्ग देश मे सुसुमार गिरि पर बने हुए अपने कोकनद नामक राजप्रासाद मे गृहप्रवेश के निमित्त बुद्ध को निमन्त्रित किया। उसने बुद्ध के लिए सीढियो पर बहुमूल्य कालीन बिछाए, यद्यपि उन्होने उसपर से चलना अस्वीकार कर दिया, क्योकि वे अपने शिष्यो के सामने विलासिता का बुरा उदाहरण नही रखना चाहते थे। बुद्ध ने उसके प्रासाद मे भोजन करने के उपरात राजकुमार को धर्म का उपदेश दिया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि कठोर तपो से सदैव सुख की प्राप्ति नहीं होती। उन्होने स्वय तप करके इसका अनुभव प्राप्त किया था। इसके अनतर उन्होंने उसे समझाया कि जिस प्रकार ससार में किसी भी कला या शिल्प आदि को सीखने के लिए श्रद्धा, शक्ति, शुद्ध व्यवहार तथा उत्तम स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है उसी प्रकार भिक्षुओ के लिए भी ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करने के लिए ये गुण आवश्यक है। इस उपदेश से राजकुमार के ज्ञाननेत्र खुल गए और वह बुद्ध का श्रद्धालु उपासक हो गया। उस समय राजकुमार ने कहा कि जब मैं बालक था तभी मेरी माता की इच्छा थी कि मैं बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करूँ, अत मेरा बुद्ध का उपासक बन जाना मेरी माता की उस इच्छा के अनुरूप ही है।

अध्याय ७

उपासकों की साधना

कोसल के कुछ ब्राह्मण आचार्यों और गृहस्थों को यह जिज्ञासा हुई कि क्या ब्राह्मण आचार्यों की भाँति बुद्ध ने भी अपने शिष्यों के लिए साधना का कोई क्रम निर्धारित किया है? सुभ तोदेय्यपुत्त का कथन था कि ब्राह्मणों ने श्रेय-साधन के लिए पाँच नियम बतलाए हैं—(१) सत्य (सच्च), (२) तप (तप), (३) शुद्ध और पवित्र जीवन (ब्रह्मचरिय), (४) अध्ययन (अज्झेसन) और (५) दान या त्याग (चाग)।[1] बुद्ध ने सुभ-माणव से प्रश्न किया कि 'क्या तुम किसी ऐसे ऋषि या आचार्य को जानते हो जिसे इन नियमों के अनुसार आचरण करने का फल प्राप्त हुआ हो? सुभ ने इसका नकारात्मक उत्तर दिया। बुद्ध ने पूछा कि क्या इन नियमों के अनुसार आचरण करने का अभ्यास गृहस्थ या सन्यासी लोग करते हैं? सुभ ने उत्तर दिया कि इनका अभ्यास गृहस्थ लोग करते हैं, परंतु गृहत्यागी लोग इनका पालन अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। बुद्ध उसके इस उत्तर से सहमत हुए और उन्होंने उससे कहा कि इन साधनाओं में से प्रत्येक के द्वारा द्वेष, वैर आदि विकारों से मन को मुक्त करके उसे ध्यान के योग्य बनाने में सहायता मिलती है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और त्याग से मनुष्य को आंतरिक शांति और आनंद प्राप्त होता है और ध्यान में एकाग्रता आती है। गृहस्थ लोग इनकी साधना के द्वारा अपना कल्याण-साधन कर सकते हैं, यद्यपि उन्हें इनसे उच्च आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँचने में प्रत्यक्ष रूप से सहायता नहीं मिल सकती।[2]

उपासक—सुभ तोदेय्य द्वारा व्याख्यात ब्राह्मणों का उपर्युक्त साधना-क्रम मुख्यत गृहस्थों के लिए था, गृहत्यागियों के लिए नहीं, जिनको विशेष रूप से लक्ष्य करके बुद्ध ने साधना का मार्ग निर्दिष्ट किया था। अत बुद्ध ने सुभ से कहा कि मैंने अपने उपासकों के लिए कुछ नियम और कर्तव्य निर्धारित कर दिए हैं जो ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित साधनाक्रम के समान ही फलप्रद हैं। वस्तुत बुद्ध ने उपासकों के लिए कोई

१. मज्झिम० २, पृ० १९९।
२ वही २, पृ० २०६।

साधना-पद्धति निश्चित नहीं की।[1] परन्तु उनके पथ-प्रदर्शन के लिए दिए गए उनके कुछ उपदेश बिखरे हुए मिलते हैं। उन उपदेशों को एकत्र संकलित कर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे बौद्ध धर्म के अंतर्गत उपासकों के स्थान की कल्पना की जा सकती है। कपिलवस्तु के शाक्य राजपुत्र महानाम ने बुद्ध से यह प्रश्न किया था कि बौद्ध उपासक की परिभाषा क्या है। बुद्ध ने उत्तर दिया कि जो कोई व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति या वर्ग का हो, निम्नलिखित नियमों का पालन करता है उसे मैं उपासक मानता हूँ—

(१) त्रिशरण—उपासक के लिए बुद्ध, धम्म और संघ—इन तीनों की शरण लेना आवश्यक है।

(२) पंचशील—उसे पंचशील का पालन करना चाहिए, अर्थात् जीव-हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य-भाषण तथा मदिरापान कभी न करना चाहिए।

(३) सद्धा (श्रद्धा)—उसे बुद्ध को सृष्टि-तत्त्व के ज्ञाता, मनुष्यों और देवों के सर्वश्रेष्ठ गुरु और पथ-प्रदर्शक एवं सम्यक् संबुद्ध मानकर उनमें दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए।

(४) चाग (त्याग)—उसे कृपणता त्याग कर उदारतापूर्वक धर्म के कार्यों में धन व्यय करना चाहिए और याचकों को दान देने के लिए सदा समुत्सुक रहना चाहिए।

(५) पञ्ञा (प्रज्ञा)—उसे अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिए और पदार्थों की उत्पत्ति एवं नाश के रहस्य तथा दुःख से मुक्त होने के उपाय को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।[2] उसे लोभ (अभिज्झा), द्वेष (व्यापाद), आलस्य (थीनमिद्ध), औद्धत्य (उद्धच्च-कुकुच्च) एवं त्रिरत्न में संशय-भाव (विचिकिच्छा) का सर्वथा त्याग करना चाहिए।[3]

१. सुत्तनिपात (सावत्थी में प्रोक्त धम्मिक सुत्त), पृ० ६९-७०—

"गहट्ठवत्तं पन वो वदामि
यथकारो सावको साधु होति
नो हेस लब्भा सपरिग्गहेन
फस्सेतुं यो केवलो भिक्खु धम्मो।"

(मैं तुम्हें गृहस्थों का धर्म बतलाता हूँ जिसके द्वारा मनुष्य अच्छा उपासक बन सकता है, परन्तु सांसारिक बंधनों में फंसे हुए मनुष्य के लिए भिक्षु-धर्म सुलभ नहीं है।)

२. संयुत्त० ५, पृ० ३९५।

३. अंगुत्तर० २, पृ० ६७।

(६) सुत्त (स० श्रुत)—उसे धार्मिक प्रवचनो को ध्यानपूर्वक सुनना और उपदेशो पर मनन करना चाहिए।

कुछ उपासको को बुद्ध के प्रवचनो का अध्ययन करने का भी उपदेश किया गया था। धम्मिकसुत्त[1] मे तथा अन्यत्र बुद्ध ने उपासको का यह धर्म बतलाया है कि वे दस शीलो मे से प्रथम पाँच का, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है, पालन करे और जो अपनी साधना में और अधिक गहराई तक पैठना चाहे उन्हे तीन और शीलो का पालन करना चाहिए, जो निम्नलिखित है—

(१) रात्रि में भोजन न करना।

(२) माला और सुगधित पदार्थों का सेवन न करना।

(३) धरती पर साधारण शय्या बिछाकर सोना।

बुद्ध ने इन आठ शीलो का पालन करनेवालो की बडी प्रशसा की है। उनके मत मे उन्हे भारत के सोलह महाजनपदो की प्रभुता से भी बढकर महान् फल की प्राप्ति होती है (महप्फलो महानिससो महाजुतिको महाविप्पहारो) और वे दिव्य लोको मे जन्म लेकर दीर्घ जीवन और दिव्य सुखो के अधिकारी होते है।

उपासक साधारणत उपोसथ के दिन अर्थात् मास की आठवी, चौदहवी और पद्रहवी तिथियो को उक्त अष्टशीलो का पालन करने की प्रतिज्ञा करता था और ऐसा करने के लिए वह प्राय विहार मे रहता था। उपोसथ के बाद भिक्षुओ को भोजन कराना उसका कर्तव्य था।

एक दूसरे अवसर पर महानाम के साथ धर्म-चर्चा के प्रसग मे बुद्ध ने कहा था कि उपासक को केवल स्वय ही उपर्युक्त छ नियमो का पालन नही करना चाहिए, अपितु दूसरो को भी उसके लिए प्रेरित करना चाहिए। सच्चे उपासक को मागलिक विधि-कर्मों (कोतूहल-मगलिको) की अपेक्षा अपने ही सत्कर्मों पर अधिक निर्भर रहना चाहिए। दान भी उसे केवल सद्धर्मियो को ही देना चाहिए, सद्धर्म के बाहर के लोगो को नही (नो इतो वहिद्धा दक्खिणेय्यम्)।[2]

कई अवसरो पर बुद्ध ने आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत स्तर पर पहुँचे हुए उपासको को और अधिक कठिन साधनाएँ करने की आज्ञा दी थी। एक बार जब बुद्ध भग्ग देश में सुसुमार गिरि पर भेसकलावन मिगदाय में ठहरे हुए थे तो एक ऐसा ही उपासक

१ सुत्तनिपात, अगुत्तर० १, पृ० २१४, ४, पृ० २५४, २५७-८, २६२।
२ अगुत्तर० ३, पृ० २०६; ४, पृ० २८१।

नकुलपिता गहपति उनके पास गया और उनसे पूछा कि 'अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, अत इस वृद्धावस्था में मुझे क्या करना चाहिए।' बुद्ध ने उसे अपने मन को अनातुर (स्वस्थ) रखने की सलाह दी। तब बुद्ध से इसके विषय में और कुछ न कहकर उसने सारिपुत्त से बुद्ध के इस उपदेश का आशय पूछा। सारिपुत्त ने कहा कि अनातुर से भगवान् का तात्पर्य यह है कि तुम्हें अपने शरीर के पचस्कधो मे किसी प्रकार का सबध नही रखना चाहिए।[1] अर्थात् तुम्हें यह जानना चाहिए कि तुम्हारा स्वरूप रूप, वेदना आदि से भिन्न है। तुम रूप, वेदना आदि नही हो—न रूप, वेदना आदि तुम्हारे गुण या धर्म हैं, न तुम रूप, वेदना आदि मे प्रतिष्ठित हो और न रूप, वेदना आदि तुममें प्रतिष्ठित हैं। जब बुद्ध वाराणसी मे इसिपत्तन में ठहरे हुए थे उस समय धम्मदिण्ण उपासक उनके पास गया और उनसे कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की। तब बुद्ध ने उसे अपने प्रवचनो (सुत्तन्तो) का अध्ययन करने का आदेश दिया, विशेषत उन प्रवचनो का जिनमें लोकोत्तर (लोकुत्तर) विषयो की तथा सासारिक पदार्थों के अनस्तित्व की चर्चा है। उपासक ने निवेदन किया कि 'भगवन्! मैं तो गृहस्थ हूँ, मेरे पुत्र हैं, सुवर्ण और रजत का व्यापार करता हूँ और बडे सुख से जीवन व्यतीत करता हूँ, अत अधिक गभीर सुत्तो का अध्ययन करना मेरे लिए सभव नही है।' तब बुद्ध ने उसे बुद्ध, धम्म और सघ में दृढ श्रद्धा रखने का उपदेश किया और कहा कि इससे तुम्हें सोतापत्ति अवस्था प्राप्त होगी। बुद्ध, धम्म और सघ मे श्रद्धा रखने से मनुष्य स्वर्ग में जन्म पाने का भी अधिकारी हो जाता है।[2] बुद्ध ने यह भी कहा कि कुछ गृहस्थो को अष्टाग मार्ग का आचरण करने मे उतना ही फल हो सकता है जितना गृहत्यागी भिक्षुओ को।[3]

गृहस्थो के लिए विहित जो सब से बडा धर्म हो सकता है उसे अनुरुद्ध ने पचकग ठपति को उस समय बतलाया था जब बुद्ध सावत्थी में ठहरे हुए थे। पचकग ठपति ने अनुरुद्ध से पूछा कि गृहस्थों के आचरण के लिए विहित 'अप्पमाण चेतो विमुत्ति' और 'महग्गत चेतो विमुत्ति' के अर्थो मे अतर क्या है? अनुरुद्ध ने उत्तर दिया कि प्रथम का अर्थ है अपरिमित क्षेत्र में मैत्री (मेत्ता), करुणा, मुदिता और समभाव (उपेक्खा) का अभ्यास करके मानसिक मुक्ति प्राप्त करना और द्वितीय का अर्थ है

१ पंच स्कंध हैं—रूप, वेदना, सज्ञा (सञ्ञा), सस्कार (सखारा) और विज्ञान (विञ्ञाण)।

२. संयुत्त० ४, पृ० २७४; ५, पृ० ४०७।

३ वही ५, पृ० १९।

इनका अभ्यास परिमित क्षेत्र मे करना, यद्यपि यह क्षेत्र एक ग्राम से सपूर्ण पृथ्वी तक विस्तृत हो सकता है। भाव यह है कि गृहस्थ को अपने पुत्र के प्रति उसका जो प्रेम है उसे क्रमश पहले अपने ग्राम के निवासियो तक, फिर नगर के लोगो तक, फिर देशवासियो तक और अत में विश्व भर के मनुष्यो तक विस्तृत करने का उपदेश दिया गया है। अर्थात् उसे सबसे अपने पुत्र के समान ही प्रेम करना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थ को क्रमश अपनी 'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता' और 'उपेक्खा' का विस्तार करना पडता है। उक्त दोनो प्रकार का सफल अभ्यास करनेवाले मनुष्य देवयोनि में जन्म पाते है, परतु प्रथम श्रेणी के लोग (अपरिमित क्षेत्र में अभ्यास करनेवाले) द्वितीय श्रेणी के (परिमित क्षेत्रवाले) लोगो की अपेक्षा अधिक तेजस्वी और दीप्तिमान् होते है।[1] बुद्ध के सर्वोत्तम उपासक चित्त-गहपति और हत्थक-आलवक थे और उपासिकाओ मे सर्वश्रेष्ठ थी खुज्जुत्तरा और वेलुकटकीया नदमाता।[2]

दान—दान देने के सबध में उपासक को कई प्रकार के आदेश दिए गए है। बुद्ध की आज्ञा के अनुसार दान ऐसे ही व्यक्तियो को देना चाहिए जो दान के पात्र हो, जैसे उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचे हुए भिक्षु या परिव्राजक, जो अनन्य भाव से अपनी साधना मे लीन रहते हो। जैसे राजा अपने शिल्पियो और योद्धाओ में से सर्वोत्तम को चुनकर उन्ही को पुरस्कृत करता है, अयोग्य लोगो को नही, उसी प्रकार गृहस्थ को दान देने में विवेक से काम लेना चाहिए।[3] बुद्ध का कथन था कि दान वही सात्विक है जिसमे दाता और गृहीता दोनो के भाव पवित्र हो और दोनो शील का पालन करनेवाले हो।[4] उन्होने यह भी बतलाया कि दान देकर दाता को यह नही समझना चाहिए कि मैने कोई बडा पुण्य किया जिसके फलस्वरूप मुझे धन, सतान, ऐहिक सुख तथा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मिलेगा।[5] बौद्ध भिक्षुओ को आदेश था कि वे ऐसे लोगो का दान ग्रहण न करें जो भिक्षुओ के प्रति आदर का व्यवहार न करते हो और त्रिरत्न की निंदा करते हो।[6] भिक्षु-सघ को भोजन, वस्त्र, शय्या तथा औषध का दान करने का यह फल

१. मज्झिम० ३, पृ० १४४ तथा आगे।

२ सयुत्त० २, पृ० २३६। चित्त गहपति के सबध में विशेष विवरण के लिए सयुत्त० ४ भी द्रष्टव्य है।

३. सुत्तनिपात, पृ० ८८, सयुत्त० १, पृ० ९९।

४ अगुत्तर० २, पृ० ८१।

५ वही ४, पृ०२३९।

६ वही ५, पृ० ३४५।

बतलाया गया है कि दाता इस लोक में पुण्य और यश का भागी होता है और मृत्यु के पश्चात् उसे स्वर्ग मिलता है।

अनाथपिडिक—बुद्ध अनाथपिंडिक को सघ के दाताओ में सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशसा करते थे, अत उन्होंने दान के विषय में उसे कई अनुदेश दिए। उन्होने उससे कहा कि 'तुम्हें केवल भिक्षुओ को भोजन, वस्त्र और औषध का दान करके ही सतोष नही करना चाहिए, अपितु प्रीति (पीति) का अर्थात् मन को प्रसन्न रखने का भी अभ्यास करना चाहिए, जिससे सत्कर्म वा दुष्कर्म जनित सुख वा दु ख का तुम्हारे मन पर कोई प्रभाव नही पडेगा।'[1] भिक्षुओ को तुम छोटी या वडी जिस किसी भी वस्तु का दान दो वह दान पूर्ण श्रद्धा के साथ दिया जाना चाहिए।'[2] बौद्ध धर्म में बतलाया गया है कि किसी भी प्रकार का दान देने से मनुष्य को यश प्राप्त होता है और वह सतो तथा अन्य लोगो का प्रिय हो जाता है। परतु उत्तम वस्तु का दान करने से उत्तम जीवन, उत्तम वर्ग, सुख और यश तथा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त होता है। सबसे उचित दान वह है जो किसी सत को उस अवसर पर दिया जाय जब वह किसी रोगी को देखने वा दुर्भिक्ष-पीडित लोगो की सहायता करने जा रहा हो।[3] एक वार कोसल की राजकुमारी सुमना ने प्रश्न किया कि यदि दो समान श्रद्धा, शील और ज्ञानवाले मनुष्यो में एक दाता (दायक) हो और दूसरा अ-दाता (अदायक), तो उन दोनो के भावी जीवन में कोई अतर होगा या नही ? तब बुद्ध ने उत्तर दिया कि दोनो का जन्म देव अथवा मनुष्य योनि में होगा और दोनो को समान आयु, वर्ण, सुख और यश प्राप्त होगा, परतु अ-दाता की अपेक्षा दाता के सुख आदि अधिक उत्तम प्रकार के होगे।[4]

बुद्ध ने यह कहकर अनाथपिंडिक की प्रशसा की थी कि 'उसका धन-सपत्ति अर्जन करना सार्थक है, क्योकि एक तो वह उपासको के लिए विहित नियमो का पालन करता है, दूसरे इसलिए भी कि वह धर्मपूर्वक तथा कठिन परिश्रम करके धनोपार्जन करता है। इस प्रकार अर्जित धन-सपत्ति मे वह अपने को तथा अपनी स्त्री, पुत्रो, भृत्यो और मित्रो को सुखी कर सकता है, अग्नि, चोरी तथा अन्य प्रकार के सकटो से अपने गृहादि की रक्षा कर सकता है और अपने नवधियो, अतिथियो, पितरो, शासको, देवताओ

१. अगुत्तर० ३, पृ० २०६–७।
२ वही ४, पृ० ३९२।
३. वही २, पृ० ६३; ३, पृ० ४१, ४२।
४. वही ३, पृ० ३२–३३।

और धर्मप्राण सतो को उनका उचित भाग दे सकता है। इसके अतिरिक्त उसको इस बात का सतोप है कि उसके पास धन है जिससे वह धर्म कर सकता है, अपने को ऋण से मुक्त रख सकता है और मन, वचन और कर्म से पवित्र रह सकता है।'[1] उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट है कि बुद्ध अनाथपिंडिक के गृहस्थ एव अतुल-वैभव-सपन्न होने पर भी उसकी प्रशसा करते थे।

कुछ ऐसे सामान्य आदेश भी हैं जो सभी गृहस्थो को लक्ष्य करके दिए गए थे।[2] जैसे (१) गृहस्थो के लिए शस्त्रो और जीवित प्राणियो का तथा मास, मदिरा एव विप का व्यापार करना वर्जित है। (२) परिवार में पुत्रो का कर्तव्य है कि वे अपने माता-पिता की सेवा देवता के समान करें और अपने वृद्ध गुरुओ को भोजन, वस्त्र, शय्या आदि दें तथा सव प्रकार से उनकी सुविधाओ का ध्यान रखें। बुद्ध कहते थे कि उपोसथ के दिन चातुम्महाराजिक देवगण अपने मन्त्रियो को यह पता लगाने के लिए भेजते हैं कि मर्त्यलोक के मनुष्य अपने माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन करते हैं या नही, और इस प्रकार वे इसका निश्चय करते हैं कि कितने मनुष्य स्वर्ग जायँगे और कितने असुरलोक में। सक्क (इद्र) के कथनानुसार उसे देवराज का पद पूर्व जन्मो में अपने माता-पिता की सेवा करने के कारण प्राप्त हुआ था। (३) उपासको को अप्रिय-भापण नही करना चाहिए, सत्य और प्रिय वचन वोलना चाहिए और कृपणता छोडकर दोनो को मुक्तहस्त होकर दान देना चाहिए। (४) उन्हें क्रोध आए तो तुरत उसे दवाना चाहिए।[3]

स्त्रियों के गुण और दोष—सघ को दान देनेवाली स्त्रियो में विशाखा का स्थान सर्वप्रथम था। उसने पुब्बाराम विहार का निर्माण कराया था जो उसी के नाम पर मिगारमातुपासाद के नाम से भी प्रसिद्ध था, क्योकि अपने श्वसुर मिगार की पुत्र की भाँति सेवा करने के कारण विशाखा को लोग प्यार से मिगार की माता कहा करते थे। विशाखा उपोसथ के तीन दिनो में पहले वताए गए आठ शीलो का पालन करती थी। वुद्ध ने एक दिन उसे यह उपदेश दिया[4] कि वह उपोसथ का पालन उनके सच्चे शिष्य की भाँति किया करे, उस ग्वाले की भाँति नही जिसका ध्यान उसकी गायो में लगा

१. अगुत्तर० २, पृ० ६३–७०।
२ वही १, पृ० २०८।
३. वही १, पृ० १३२, १४१, १५१।
४ सयुत्त० १, पृ० २२८; २, पृ० २३५।

रहता है, और जो यही सोचता रहता है कि उपोसथ के बाद क्या-क्या भोजन करेंगे, न निगंठ नाटपुत्त के शिष्यो की भाँति, जो इस भय से वस्त्र तक नही पहिनते कि मन में कभी किसी वस्तु के लिए कोई इच्छा न उत्पन्न हो। बौद्ध धर्म का सच्चा उपासक त्रिरत्न के उत्तम गुणो पर मनन करता है, विकारो को नष्ट कर अपने मन को निर्मल करता है और दिव्य जीवन प्रदान करनेवाले अष्टशीलो का पालन करता है।[1]

बुद्ध ने विशाखा को एक उत्तम स्त्री के साधारण कर्तव्यो तथा उत्तरदायित्व के सबध में कुछ सामान्य उपदेश दिये, जो इस प्रकार है—(१) स्त्री को सहानुभूति के साथ अपने सास-ससुर के सुख का ध्यान रखना चाहिए, उनसे सदा मधुर वचन बोलना चाहिए, उनसे पहले जागना और पीछे सोना और दासी की भाँति उनकी सेवा करना चाहिए; (२) उसे अपने सास-ससुर के अतिरिक्त अपने पति द्वारा आदृत साधु-सतो का भी उचित आदर करना चाहिए, (३) घर में रखे हुए कपास और ऊन का यथोचित उपयोग करने में उसे निपुण होना चाहिए, घर के सेवको और मजूरो को जो काम दिया जाय उसे वे सुचारु रूप से करते है या नही, इसका सावधानी से निरीक्षण करना तथा उनके भोजन का उचित ध्यान रखना चाहिए, (५) पति घर में जो अन्न या धन ले आये उसे यत्नपूर्वक सँभाल कर रखना और उनमें से अपने लिए खर्च नही करना चाहिए, (६) त्रिशरण (बुद्ध, धर्म और सघ की शरण) लेकर उसे उपासिका बन जाना चाहिए, (७) पचशील का पालन करना तथा (८) कृपणता त्याग कर मुक्तहस्त होकर दान करना चाहिए।[2]

नकुलमाता नाम की एक दूसरी उपासिका थी जिसे बुद्ध आदर्श उपासिका कहा करते थे। जब उसका पति बीमार होकर मृत्यु-शय्या पर पडा हुआ था उस समय उसने उनके समक्ष स्वय अपने गुणो का विवरण दिया था। उसने उसे शाति और आश्वासन देते हुए कहा था कि 'हे स्वामी, आप मेरे भविष्य की कोई चिंता न कर शातिपूर्वक प्राण-त्याग करें जिससे परलोक में आपका जीवन सुखमय हो। मुझे कोई कष्ट नही होगा और मैं अपने धर्म पर अटल रहूँगी। मैं रूई का व्यापार और केश-प्रसाधन की कला जानती हूँ और इन कार्यो के द्वारा मैं जीविकोपार्जन कर अपना और बच्चो का जीवन-निर्वाह कर लूँगी। मैं आपके ज्ञान में सोलह वर्ष तक ब्रह्मचारिणी का जीवन बिता चुकी हूँ, अत मेरे दूसरा विवाह करने की कोई सभावना नही है। मैं भगवान् बुद्ध तथा

१. अगुत्तर० १, पृ० २०५-१५; ४, पृ० २५५।
२ वही ४, पृ० २६७।

भिक्षुओ के सत्सग में और अधिक समय दूंगी। मै सदा शील का पालन करती रहूँगी, मन को शात रखने (चेतो समथ) का अभ्यास करूँगी और बुद्ध में और अधिक श्रद्धा रखूँगी। भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ है, आप मेरे कथन की सत्यता का निश्चय उनसे पूछकर कर सकते है।' अपनी पत्नी से इस वार्तालाप के वाद नकुलपिता शीघ्र नीरोग हो गया और बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ, तव वुद्ध ने उसकी पत्नी को उपासिकाओ में सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशसा की।[1]

वुद्ध ने एक वार अनाथपिंडिक के घर में बडा कोलाहल सुना। पूछने पर उन्हे पता चला कि उस अशाति का कारण अनाथपिडिक की पुत्रवधू सुजाता है। उसे शिक्षा देने के लिए वुद्ध ने उससे सात प्रकार की पत्नियो का वर्णन किया, जो इस प्रकार है—(१) हत्यारिनी, (२) चोर, (३) कर्कशा, (४) माता, (५) भगिनी, (६) मित्र, (७) दासी। प्रथम प्रकार की पत्नी अत्यत दुष्ट और व्यभिचारिणी होती है और धन के लिए अपने पति की हत्या तक कर डालती है। द्वितीय प्रकार की पत्नी अपने पति के अन्न, धन, आदि की चोरी किया करती है। तृतीय प्रकार की पत्नी आलस्य में समय विताती है, काम नही करना चाहती, अत्यधिक भोजन करती है, स्वभाव की चिडचिडी और कठोरभाषिणी होती है और परिवार के सव लोगो पर अपना आतक जमाये रहती है। चतुर्थ प्रकार की पत्नी उसी प्रकार अपने पति की हितकामना और रक्षा करती है जैसे माता अपने पुत्र की। वह अपने पति के धन को भी वचाने का प्रयत्न करती है। पचम प्रकार की पत्नी सकोचशीला भगिनी के सदृश होती है और सदा अपने पति का आदर तथा उसके सुख एव हित का उपाय करती है। षष्ठ प्रकार की पत्नी, चिर-वियोग के वाद मिलनेवाले मित्र की भाँति, सदा अपने पति की प्रिया वनी रहने का प्रयत्न करती है, वह मितव्ययी, शील का पालन करनेवाली और पतिव्रता होती है। सप्तम प्रकार की पत्नी डडो से पीटी जाने पर भी कभी क्रोध नही करती, सर्वथा द्वेषरहित एव सहनशील तथा अपने पति की आज्ञाकारिणी होती है।[2] वुद्ध द्वारा स्त्रियो का यह सामान्य गुण-वर्णन वहुत कुछ परपरागत है और सभवत अपनी उपासिकाओ को शिक्षा देने के लिए उन्होने इसका उपयोग किया था।

---

१ अगुत्तर० ३, पृ० २९५-८।
२ वही ४, पृ० ९२-९३।

अध्याय ८

भिक्षुओं की क्रमिक साधना-पद्धति

उपासकों के आध्यात्मिक उत्थान की ओर बुद्ध की बहुत रुचि नहीं थी। उनका दृढ विश्वास था कि भिक्षु बने बिना कोई उनके उपदेशों का पूरा लाभ नहीं उठा सकता। उन्होंने स्वय बहुत लोगों को घरबार छोडकर भिक्षु बनने के लिए प्रेरित किया। परतु अपने सभी शिष्यों के लिए उन्होंने कोई एक सामान्य साधना-क्रम निर्धारित नहीं किया। वस्तुत वे प्रत्येक शिष्य की मानसिक वृत्तियों का अध्ययन करके उनके अनुकूल कोई विशेष साधना-क्रम निश्चित कर देते थे। परतु कुछ ऐसे सामान्य नियम भी थे जिनका पालन प्राय उनके सभी शिष्य कर सकते और उनसे लाभ उठा सकते थे।

जब बुद्ध सावत्थी के मिगारमातुपासाद में ठहरे हुए थे, उस समय गणक-मोग्गलान ब्राह्मण एक वार उनसे मिला। उसने उनसे प्रश्न किया कि सभी विषयों की शिक्षा के लिए—चाहे वह भवन-निर्माण की शिक्षा हो, अथवा गणित या अन्य किसी शास्त्र की—एक क्रमोच्च शिक्षा-पद्धति हुआ करती है, क्या बौद्ध धर्म में भिक्षुओं की साधना के लिए भी कोई ऐसी क्रमोच्च शिक्षण-पद्धति निर्धारित है ? बुद्ध ने इनका स्वीकारात्मक उत्तर देकर अपने द्वारा निर्धारित भिक्षुओं के साधना-क्रम का वर्णन किया, जो इस प्रकार है—

(१) सबसे पहले भिक्षु को सदाचार के नियमों[1] तथा पातिमोक्ख में दिए गए विनय के २२७ नियमों का पालन करने एव अपने आचरण के विषय में तथा भिक्षाटन

१. छब्बिसोधन सुत्त (मज्झिम ३, पृ० ३३ तथा आगे)—
(१) पाणातिपात पटिविरतो, (२) अदिन्ना दाना पटिविरतो, (३) विरतो मेथुना गामधम्मा, (४) मुसावादा पटिविरतो, (५) पिसुणाय वाचाय पटिविरतो, (६) फरुसाय वाचाय पटिविरतो, (७) सम्फपलापा पटिविरतो, (८) बीजगाम भूतगाम समारभा पटिविरतो, (९) एकभत्तिको, पटिविरतो विकाल भोजना, (१०) उच्चासयना महासयना पटिविरतो, (११) जातरूप रजत-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१२) आमकधञ्ञ-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१३) इत्थि-कुमारिका-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१४) दासिदास-पटिग्गणा पटिविरतो, (१५) अजेलक-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१६) कुक्कुट-सूकर पटिग्गहणा पटिविरतो, (१७) हत्थि-

आदि सभी कार्यों और व्यवहारो में अत्यत सावधान रहने की शिक्षा दी जाती है, जिससे उसके द्वारा छोटे से छोटा पाप भी न हो सके।

(२) इसके पश्चात् उसे अपनी इद्रियो पर सयम रखने का अभ्यास करने का उपदेश दिया जाता है, जिससे किसी वस्तु को देखकर उसका मन उस वस्तु के गुणो के प्रति आकर्षित न हो, क्योंकि उस आकर्षण से मन में लोभ, निराशा और अन्य प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। यही बात श्रवण (=सुनना), घ्राण (=सूँघना) रसन (=स्वाद लेना), स्पर्श और मनन के विषयो के सबध में भी सत्य है।[1]

(३) फिर उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह अपने शरीर के निर्वाह मात्र के लिए, उसे केवल पवित्र और धर्माचरण के योग्य बनाए रखने के लिए भोजन ग्रहण करे, उसे हृष्ट-पुष्ट बनाकर अलकारो से भूषित करने के लिए नही। अपने भोजन के लिए किसी जीव की हिंसा भी न करे। साथ ही वह शुद्ध और सदाचारमय जीवन व्यतीत करे और इस बात का ध्यान रखे कि जहाँ उसे अपनी पुरानी वासनाओ को नष्ट कर देना है, वहाँ उसके मन में नई वासनाएँ न उत्पन्न होने पाएँ।

(४) फिर उसे बतलाया जाता है कि वह परिभ्रमण करते-करते किसी एक स्थान पर बैठ जाय और अपने मन के विकारो को दूर करने का प्रयत्न करे,[2] क्योंकि उनके कारण आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पडती है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि रात्रि के प्रथम तथा तृतीय प्रहरो में भी इसका अभ्यास करे। द्वितीय प्रहर में उसे दाहिनी करवट, एक के ऊपर दूसरा पैर रखकर, सोने की अनुमति दी जाती है, परतु नीद ऐसी हल्की हो कि आवश्यकता होने पर वह तुरत जाग सके।

(५) तत्पश्चात् उसे उपदेश दिया जाता है कि वह प्रथम सतिपट्ठान (स्मृत्युपस्थान) का अभ्यास करे, अर्थात् हाथो को फैलाना या सिकोडना, किसी वस्तु को

गवस्सवलव पटिग्गहणा पटिविरतो, (१८) खेत्तवत्थु पटिग्गहणा पटिविरतो, (१९) दुतेय्यपहीन गमनानुयोग पटिविरतो, (२०) कयविक्कय पटिविरतो, (२१) तुलाकूट-कसकूट-मानकूटा पटिविरतो, (२२) उक्कोटनवचन निकति साचियोग पटिविरतो, (२३) छेदन-वध-बन्धन-विपरामोस-आलोपसहसाकार पटिविरतो, (२४) सन्तुट्ठो कायपरिहारिकेन चीवरेन कुच्छि-परिहारिकेन पिण्डपतेन।

१ सयुत्त० ४, पृ० १०४।

२ आवरण=नीवरण=उपक्किलेस, तु० सयुत्त० ५, पृ० ९४। पांचो नीवरण ये है—कामच्छन्द (अभिज्झा), व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्चकुक्कुच्च और विचिकिच्छा।

देखना, खाना, पीना, शौचादि करना, वस्त्र धारण करना, भिक्षा-पात्र उठाना, खडे होना, बैठना, सोना, जागना, चुप रहना—आदि जो भी क्रियाएँ वह अपने शरीर से करे उनमें पूर्ण रूप से सावधान रहे, शून्य मन से अज्ञानपूर्वक उन्हें न करे।

(६) फिर उसे किसी वन वा वन-मार्ग में अथवा वृक्ष के नीचे या पर्वत पर, या किसी गुफा में, या श्मशान या सुनसान मैदान में रहकर अभ्यास करने के लिए कहा जाता है। वहाँ वह मध्याह्न-भोजन के पश्चात् सावधान-चित्त होकर, पद्मासन लगाकर, शरीर को सीधा करके बैठ जाता है और उसी अवस्था में बैठे-बैठे अपने मन को लोभ, द्वेष, आलस्य, अभिमान और सद्धर्म के प्रति संशय-भाव—इन विकारो से मुक्त करने का प्रयत्न करता है।

(७) अत मे, जब प्राय उसके सपूर्ण मनोविकार नष्ट हो जाते है तब उसे ध्यान का अभ्यास करना पडता है, जिसकी निम्नलिखित चार भूमिकाएँ है—

(क) प्रथम भूमिका में वह इच्छाओ और विकारो से अपने मन को मुक्त कर किसी एक वस्तु पर, जैसे मिट्टी के ढेले या चक्र पर या छिद्र से आते हुए प्रकाश-विंदु पर, अपने ध्यान को एकाग्र करने का अभ्यास करता है। पहले तो उसका मन ध्यान के विषय के चारो ओर चक्कर काटता है (सवित्तक्क सविचार—विचार और निर्णय), परतु ध्याता को यह सोचकर सतोष होता है कि 'मेरा मन इच्छाओ और विकारो से मुक्त हो गया है और मैं एकात स्थान में बैठा हुआ हूँ।'

(ख) द्वितीय भूमिका में ध्याता का चित्त भ्रमित नही होता (अवितक्क अविचार), प्रत्युत ध्यान के विषय पर एकाग्र हो जाता है (चेतसो एकोदीभावम्) और चित्त की पूर्ण एकाग्रता होने पर उसे आतरिक शाति और आनद का अनुभव होता है।

(ग) तृतीय भूमिका में ध्याता का मन किन्ही उत्तम गुणो की प्राप्ति से होनेवाले आनद और जीवन की क्षणभगुरता, मृत्यु आदि के चितन से होनेवाले दु ख—दोनो से ऊपर उठ जाता है और उसे मानसिक साम्यावस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में भी उसे आतरिक शाति और आनद का अनुभव होता है और उसके शरीर और मन में जो भी क्रियाएँ होती है उनके प्रति वह सजग और सावधान रहता है। उसके शरीर को ऐसा विश्राम मिलता है जैसे वह गाढ निद्रा में सोकर उठा हो।

(घ) चतुर्थ भूमिका में ध्याता का मन किसी भी प्रकार के बुरे या भले अनुभव से विक्षुब्ध नही होता। चूंकि उसके सपूर्ण मानसिक दोष नष्ट हो गए रहते है, अतएव उसका मन पूर्ण रूप से शात और सम हो जाता है, और शरीर या मन की सूक्ष्म से

सूक्ष्म क्रियाएँ भी उसे अवगत होती रहती हैं। इस भूमिका में वस्तुत प्रथम तीन भूमिकाओ की ही परिणति होती है और उनके अतिरिक्त इसका कोई विशिष्ट फल नही है।[१]

(ड) ध्यान सिद्ध हो जाने पर उसे चार सत्यो (दु ख, दु ख-समुदय, दु:ख-नाश, दु ख-नाश का उपाय) को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और चार दोषो (आसवो) तथा उनकी उत्पत्ति, नाश एव नाश के उपाय पर मनन करते हुए पूर्ण 'खीणासव' वा अर्हत् होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

सक्षेप में नए सावको के लिए यही क्रमोच्च साधना-पद्धति निर्धारित की गई है। परतु नव-दीक्षित भिक्षुओ में ऐसे भी होते थे जिनका पर्याप्त आध्यात्मिक विकास हो चुका रहता था और उन्हें उक्त अभ्यास की आवश्यकता नही पडती थी।

बुद्ध अपने शिष्यो को स्वय शिक्षा देते थे और सघ में नए-नए दीक्षित होकर आने-वाले भिक्षुओ पर बडी सतर्क दृष्टि रखते थे। कपिलवस्तु में एक दिन जब वे मध्याह्न-भोजन के अनतर विश्राम कर रहे थे, तो उनके ध्यान में आया कि मेरे सघ मे भिक्षुओ की सख्या निरतर बढती जा रही है, अत मुझे स्वय नवदीक्षित भिक्षुओ की देखरेख करनी चाहिए, अन्यथा उनके अभ्यास में त्रुटियाँ होगी। उनका रक्षण उसी प्रकार सावधानी से होना चाहिए जैसे एक छोटे पौधे का माली के द्वारा किया जाता है।[२] आनद ने बुद्ध के एक विशिष्ट शिष्य पुण्ण मतानीपुत्र की इसलिए प्रशसा की थी कि नवदीक्षितो के लिए उसकी सहायता बडी लाभकर होती थी।[३] बुद्ध ने अपने फुफेरे भाई (पैतृष्वसेय) तिस्स में त्रुटियाँ देखकर एक बार उसे बुलाया और आवश्यक अनु-देश दिए।[४] इसी प्रकार उनका ममेरा भाई (मातृष्वसेय) नद अपने शरीर और वस्त्रो की ओर बहुत ध्यान दिया करता था, उसे भी उन्होंने इस विषय में उपदेश दिया।[५] उन्होंने अन्य कितने ही भिक्षुओ को, जो उद्धत, कलहप्रिय और प्रमादी थे, शिक्षा देकर ठीक मार्ग पर लगाया।[६]

१. तुल० सयुत्त० ३, पृ० २६८, ४, पृ० २६५।
२ सयुत्त० ३, पृ० ९१।
३ वही ३, पृ० १०५।
४. वही, पृ० १०६।
५ वही २, पृ० २८१।
६ वही ५, पृ० २६९।

गणक-मोग्गलान ने बुद्ध से पुन प्रश्न किया कि क्या दीक्षित होकर संघ में प्रविष्ट होनेवाले सभी भिक्षुओं को उपर्युक्त प्रकार से साधना करने से 'निव्वाण' प्राप्त होता है? इसपर उन्होंने उत्तर दिया कि 'ऐसी बात नहीं है, किंतु मैं केवल मार्ग का प्रतिपादक और प्रदर्शक हूँ, अत उन सबको उस मार्ग पर चलने की अनुमति देता हूँ। परंतु उनमें से कुछ ही 'निव्वाण' की अवस्था तक पहुँच पाते हैं'।[1]

बुद्ध के उक्त उत्तर से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा निर्धारित साधना का उपर्युक्त क्रम अनिवार्य रूप से निर्वाण (निब्बान) पद प्रदान करनेवाला नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जो साधक उपर्युक्त साधना-क्रम को सफलतापूर्वक पूरा कर लेते हैं वे बौद्ध धर्म के मूल सत्यों की दीक्षा प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं। चूल-राहुलोवाद सुत्त[2] से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। बुद्ध जब सावत्थी में ठहरे हुए थे तो उन्होंने देखा कि राहुल अब विमुक्ति प्राप्त करने योग्य परिपक्व अवस्था में पहुँच गया है (परिपक्को खो राहुलस्स विमुत्ति परिपाचनीया धम्मा) और उसे अब सूक्ष्मतर विकारों को नष्ट करने के लिए उपयुक्त शिक्षा देना आवश्यक है (उत्तरिं आसवानं खये विनेय्य ति)। तब वे राहुल को अपने साथ अंधवन नामक वन में ले गए और उन दोनों में निम्नलिखित वार्तालाप हुआ—

बुद्ध—आँखें (चक्खु) नित्य हैं या अनित्य?

राहुल—अनित्य है।

बुद्ध—अनित्य पदार्थ दु ख देनेवाले होते हैं या सुख?

राहुल—अनित्य पदार्थ दु खमय होते हैं।

बुद्ध—क्या परिवर्तनशील अनित्य पदार्थ को अपना समझना या उसे अपना आत्मा मानना उचित है?

राहुल—नहीं।

बुद्ध—क्या आँखों से देखी गई वस्तु (रूप) या उस वस्तु से आँखों का संपर्क (चक्खु-सम्फस्स) या उस संपर्क से होनेवाला अनुभव (वेदना) या बोध (सञ्ञा) या संस्कार (सखार) या ज्ञान (विञ्ञाण) नित्य है?

राहुल—नहीं।

तब बुद्ध ने बतलाया कि एक सच्चे शिष्य को इंद्रियों और उनके विषयों, अर्थात्

१. मज्झिम० ३, पृ० १ तथा आगे।

२ मज्झिम० ३, पृ० ३२७ तथा आगे; संयुत्त० ४, पृ० १०६।

ससार के समस्त पदार्थों, के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नही होनी चाहिए। इस अनासक्ति से विराग उत्पन्न होता है जो मन को मुक्त कर देता है और साधक यह अनुभव करन लगता है कि उसका मन सासारिक विषयो के राग से पूर्णत मुक्त हो गया है। तव हम यह कह सकते हैं कि उसकी साधना पूरी हो गई, अव उसका कोई कर्तव्य कर्म शेप नही है, अव उसका पुन जन्म नही होगा। राहुल भी पूर्णमुक्त अर्हत् हो गया।

एक दूसरे वार्तालाप[1] में वुद्ध ने उपर्युक्त रीति से ही राहुल को समझाया कि जीव के पचस्कध अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान नामक तत्त्व, चाहे वे अतीत के हो अथवा वर्तमान वा भविष्य के, आतरिक हो वा वाह्य, स्थूल हो वा सूक्ष्म, उत्तम हो वा निकृष्ट, दूर हो वा निकट, उन्हें अपना समझना वा अपना आत्मा मानना उचित नही है। भौतिक तत्त्वो (रूप) का अस्तित्व गगा के जल पर तैरते हुए फेन (फेनपिंड) से अधिक नही है। उसकी सत्ता है, इसमें तो कोई सदेह नही, परतु उसमे कोई तत्त्व नही है (रित्तक, तुच्छक)।[2] 'वेदना' का अस्तित्व जल में उठनेवाले वुद्वुद के सदृश है और 'सज्ञा' ज्येष्ठ मास की दुपहरी में दिखाई पडनेवाली मृग-मरीचिका के समान है। 'सस्कारो' में केले के खभे से अधिक कोई तत्त्व नही है और विज्ञान केवल जादूगर के खेल के समान है।

उक्त वार्तालाप का उपसहार इस कथन के साथ होता है—मनुष्य की आयु, उष्णता (उष्मा) और चेतना (विञ्ञाण) समाप्त हो जाने पर उसका निर्जीव शरीर गिद्धो के भोजन के लिए फेंक दिया जाता है। जीव के स्कधो की नित्यता की चर्चा मूर्ख लोग किया करते हैं, उनमें कोई तत्त्व नही है। जो समर्थ भिक्षुगण स्कधो (खधो) को रातदिन इस प्रकार निस्तत्त्व और नाशवान् समझते है उनके सारे वधन कट जाते है और वे अमृत पद प्राप्त करते है।[3] जो लोग उक्त स्कधो में से किसी एक को अपना आत्मा मान वैठते हैं वे मूर्ख है। वे उसके चारो ओर इस प्रकार चक्कर काटते हैं जैसे खभे में वँधा हुआ पशु उसी खभे के चारो ओर घूमता है। इस चक्कर का न कहीं

१. सयुत्त० ३, पृ० १३६।
२. संयुत्त० ३, पृ० १४२—

"फेनपिण्डुपम रूप वेदना वुब्बुलूपमा।
मरीचिकुपमा सञ्ञा सखारा कदलूपमा।
मायुपम च विञ्ञाण दिपितादिच्च वन्धुना॥"

३. वही।

आदि है न अंत।[1] बुद्धिमान् मनुष्य कभी स्कंधो को आत्मा समझने की भूल नहीं करता, परंतु ऐसी बुद्धि आने के पहले उसे राग, द्वेष और मोह से सर्वथा मुक्त होना पड़ता है। इन मानसिक विकारो से मुक्ति पाने का केवल यही उपाय है कि मनुष्य यह भली भांति समझ ले कि संसार के सभी पुरुष और स्त्रियां चित्र में लिखे हुए मनुष्यो के समान हैं। यह समझने के लिए कि मनुष्य का अस्तित्व चित्र-लिखित मनुष्यो की अपेक्षा अधिक सारवान् नहीं है, पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि स्कंध उत्पत्ति-विनाश-शील हैं।

---

१. वही, पृ० १५१।

अध्याय ९

निर्वाण-प्राप्ति के साधन

निर्वाण का मार्ग अथवा धम्मचक्क पवत्तन सुत्त—जब विश्व के परम वा अतिम तत्त्वो के विषय में बुद्ध के समक्ष कोई प्रश्न उपस्थित किया जाता था तो वे सदैव लोगो को ऐसे प्रश्नो की उपेक्षा करने और उनका निश्चित उत्तर पाने की अपेक्षा न करने तथा अपने बताए हुए मार्ग पर चलने का उपदेश दिया करते थे, क्योकि उनके मतानुसार ऐसे प्रश्नो के उत्तर से कोई लाभ होनेवाला नही। न तो उससे जीवन शुद्ध और पवित्र बन सकता है, न मन विकारो से मुक्त हो सकता और न ज्ञान एव निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। अत ऐसे प्रश्नो के उत्तर के फेर में न पडकर लोगो को उनके उन उपदेशो के अनुसार आचरण करना चाहिए जो उनके धर्म-प्रवर्तन काल के आदि और अत में उनके द्वारा इसिपत्तन तथा कुसीनारा में दिए गए थे।

बुद्ध के द्वारा दिया गया सर्वप्रथम व्याख्यान प्रसिद्ध 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' है। इस सुत्त के प्रारभ ही में कहा गया है कि मनुष्य को दोनो प्रकार की अति से बचना चाहिए। एक ओर तो ऐसे लोग है जो गृहस्थ-जीवन में रहकर धार्मिक कर्मो का अनुष्ठान करते है, परतु साथ ही दिन-रात सासारिक भोग-विलास में डूबे रहते है, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो घर-बार छोडकर एकात में रहते और कठोर तपस्या के द्वारा शरीर को सुखा डालते हैं। ये दोनो अतिम कोटि के जीवन बुरे है। साधक को उन दोनो के बीच का मार्ग (मध्यम मार्ग) अपनाना चाहिए, जिसपर चलने से ज्ञान-चक्षु खुल जाते है, मन को शाति प्राप्त होती है और अत मे ज्ञान और निर्वाण (पूर्ण मोक्ष) प्राप्त होता है। प्रथम कोटि के अतर्गत बुद्ध के ध्यान में निश्चय ही वे धनी ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग थे जो अत्यत विलासमय जीवन व्यतीत करते थे और ऐहिक तथा पारलौकिक सुखो को प्राप्त करने की आशा से अपार धन व्यय करके बडे-बडे यज्ञ करते थे, जिनमें पशु-पक्षियो की बलि दी जाती थी। द्वितीय कोटि के लोगो मे उनका अभिप्राय उन अ-ब्राह्मण तापसो मे था जो अपने शरीर और मन को वश मे रखने के लिए अत्यत घोर कर्म किया करते थे, जैसे निर्जन वन में निवास करना, अत्यल्प भोजन अथवा उपवास करना, इत्यादि। यो बुद्ध ने भी कुछ साधारण प्रकार की तपस्या का अनुमोदन किया, परतु उसे सब शिष्यो के लिए अनिवार्य नही बनाया।

उन्होंने दोनों अंतिम कोटियों को अस्वीकार कर अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि वे अपनी शारीरिक शक्ति की रक्षा के लिए निर्वाह भर को भोजन करें, वस्त्र पहने और आवास में रहें, क्योंकि उनके द्वारा बताए गए कर्तव्यों के पालन के लिए शरीर को स्वस्थ और शक्त रखना आवश्यक था। वे यह चाहते थे कि उनके शिष्य भोजन और वस्त्र के विषय में कोई चिंता न करें और किसी विशेष प्रकार के भोजन अथवा किसी विशेष आवश्यक वस्तु की इच्छा प्रकट किए बिना उन्हें भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी पर वे संतोष करें। उनके पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने विस्तृत नियम बनाए, जो पातिमोक्ख सुत्त नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं। अपने भिक्षु शिष्यों के लिए उन्होंने जो मध्यम मार्ग निर्धारित किया वह इस प्रकार है—

सील = { सम्मा वाचा = सम्यक् अर्थात् सत्य वचन
सम्मा कम्मन्तो = सम्यक् कर्म
सम्मा आजीवो = सम्यक् आजीव अर्थात् जीविका }

चित्त = { सम्मा वायाम = सम्यक् व्यायाम
सम्मा सति = सम्यक् चिंतन
सम्मा समाधि = सम्यक् समाधि }

पञ्ञा = { सम्मा संकप्प = सम्यक् संकल्प
सम्मा दिट्ठि[1] = सम्यक् दृष्टि }

इसके अनंतर उन्होंने चारों सत्यों का निरूपण किया है जो ये हैं—दुःख (दुक्खम्), दुःख का कारण (दुक्ख-समुदयम्), दुःख-नाश (दुक्ख निरोधम्) और दुःख-नाश का उपाय (दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा)। संक्षेप में यही धम्मचक्कपवत्तन सुत्त का विषय है।

उपर्युक्त शब्दों की व्याख्या पाली ग्रंथों में इस प्रकार की गई है—
सम्मा वाचा = असत्य, द्वेषयुक्त, कठोर और निरर्थक वचन न बोलना।
सम्मा कम्मन्त = हिंसा, चोरी और व्यभिचार से दूर रहना।

१. ये आठों ही तीन वर्गों में विभाजित हैं—सदाचार (शील), मानसिक विकास (चित्त) और ज्ञान (पञ्ञा)। तुल० संयुत्त० १, पृ० १६५।—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञं च भावयम्।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटम्॥"

सम्मा आजीव = अनुचित उपायो से अर्थात् सद्धर्म-वर्जित कला-शिल्पो के द्वारा जीविकोपार्जन न करना। ऐसे कला-शिल्पो में से कुछ ये हैं—ज्योतिष द्वारा मनुष्यो का भाग्य-कथन, स्वप्न और शकुन का विचार, मत्र-प्रयोग, सामुद्रिक विद्या अर्थात् शरीर के लक्षणो को देखकर मनुष्यो और पशुओ की प्रकृति का निरूपण, राजाओ के बीच मध्यस्थ का कार्य करना, विवाह-सस्कार कराना, औपध वितरण करना, इत्यादि।

सम्मा वायाम = वर्तमान कुविचारो को मन से निकाल देने, नवीन कुविचारो को पास न आने देने तथा सत्-विचारो को अधिकाधिक प्रश्रय देने का अभ्यास करना।

सम्मा सति = शरीर और मन के भीतर जो कुछ क्रिया हो रही हो उसके प्रति सजग रहना, ससार के पदार्थों का निरीक्षण करना, साथ ही लोभ (अभिज्झा) को दवाना और दुर्मनता (दोमनस्स) को पास न आने देना।

सम्मा समाधि = चार प्रकार के ध्यान (झान), जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है।

सम्मा दिट्ठि = सासारिक सत्ता का इन चार सत्यो के रूप मे ज्ञान होना—दु ख, दु ख-समुदय, दु ख-नाश, दु ख-नाश का उपाय।

ऊपर जिस अष्टाग मार्ग का वर्णन किया गया है उसमें आध्यात्मिक जीवन के सभी पक्षो (कर्तव्यपक्ष, मन पक्ष, ज्ञानपक्ष) का समावेश है। आठ अगो में से प्रथम तीन का सबंध वचन, कर्म तथा आहार (जीविका) से है, और इनके विषय मे बहुत से नियम निकायो तथा विनय ग्रथो में सकलित हैं, जिनमें भिक्षुओ के उचित आचरण और व्यवहार के विषय में विस्तृत निर्देश दिए गए हैं। इसके वाद के तीन अगो में वह विधि वतलाई गई है जिसके अनुसार साधक यौगिक साधना के द्वारा अपनी वृत्तियो को सयत कर लेता है और उसका मन इस प्रकार शात और निश्चल हो जाता है कि सुख वा दु ख में वह तनिक भी विचलित नही होता। शारीरिक और मानसिक अभ्यास सिद्ध हो जाने के पश्चात् साधक इस योग्य हो जाता है कि वह अपने मन को सासारिक रागो से पूर्णतया मुक्त करके उसे चार आर्य सत्यो का ज्ञान प्राप्त करने की ओर लगाए और उसके द्वारा 'सम्मा दिट्ठि' (सम्यक दृष्टि) प्राप्त करे।

मग्ग सयुत्त[1] में अष्टाग मार्ग को आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक (कल्याणमित्त) कहा गया है और वताया गया है कि वौद्ध साधक जो भी आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने की कामना करे वे सभी उसे इसके द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। इसके द्वारा उसके निम्नलिखित दु खो, दोषो वा वाधाओ का निवारण वा नाश हो जाता है—

१. संयुत्त० ५, पृ० ६४-६५।

(१) जन्म, जरा एव मरण जनित दुःख, दुःख तीन प्रकार के होते हैं—एक तो वह दुःख (दुक्ख) जो साधारणतः ससार में देखा जाता है, दूसरा पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण होनेवाला दुःख (सस्कार-दुक्खता), तीसरा परिवर्तन-जनित दुःख (विपरिणाम-दुक्खता),

(२) राग, द्वेष तथा मोह,

(३) उत्कट इच्छा (छद), चिंतन (वितक्क) तथा सज्ञान (सञ्ञा),

(४) सासारिक विषयों की तृष्णा (काम-तण्हा), पुनर्जन्म की तृष्णा (भव-तण्हा), स्व-नाश की तृष्णा (विभव-तण्हा),

(५) इच्छा-दोष (कामासव), पुनर्जन्म-दोष [भवासव, अर्थात् कामभव, रूपभव, अरूपभव (मर्त्यलोक, स-रूप देव-लोक तथा अ-रूप देवलोक में से किसी एक में जन्म लेने) का दोष], अविद्या-दोष (अविज्जासव) एव दृष्टि-दोष (दिट्ठासव),

(६) ससारिक विषयों, मिथ्या विचारों, व्रतादि कर्मों तथा आत्मवाद के प्रति तीव्र राग (कामुपादान, दिट्ठुपादान, सीलब्बतुपादान, अत्तवादुपादान),

(७) सात वृत्तियाँ (अनुसय), यथा सासारिक विषयों में राग (कामराग), वैर (पटिघ), भ्रात दृष्टि (दिट्ठि), त्रिरत्न में अनास्था (विचिकिच्छा), अभिमान (मान), पुनर्जन्म की इच्छा (भवराग) तथा अविद्या (अविज्जा),

(८) पांच ज्ञानेंद्रियाँ तथा उनके तत्तत् विषयों के सपर्क से होनेवाले पाँच प्रकार के सुख,

(९) निर्वाण-मार्ग की पांच बाधाएँ (नीवरण), अर्थात् तीव्र इच्छा (कामच्छद), द्वेष (व्यापाद), आलस्य (थीनमिद्ध), औद्धत्य एव सशय (उद्धच्च कुकुच्च), तथा त्रिरत्न के प्रति सदेहभाव (विचिकिच्छा)। 'कामच्छद' इद्रियार्थों के आकर्षक गुणों (सुभ निमित्त) के कारण उत्पन्न एव प्रवृद्ध होता है, 'व्यापाद' द्वेष-भाव (पटिघ) के कारण, 'थीनमिद्ध' निद्रा, अति भोजन एव मानसिक दौर्बल्य के कारण, 'उद्धच्च-कुकुच्च' अशाति (अनुपशम) के कारण तथा 'विचिकिच्छा' सदेहोत्पादक वस्तुओं के कारण,

(१०) पांच निम्न शृखलाएँ (ओरभागियानि सयोजनानि) अर्थात् आत्मा में विश्वास (सक्काय दिट्ठि), त्रिरत्न में सदेह (विचिकिच्छा), व्रतादि कर्मों में विश्वास (सीलब्बत), तीव्र काम (कामच्छद) तथा वैर (व्यापाद),

(११) पांच ऊर्ध्व शृखलाएँ (उद्धम्भागियानी), अर्थात् रूपलोक में देहधारी

देव के रूप में जन्म लेने की कामना, अभिमान (मान), औद्धत्य (उद्धच्च), अविद्या (अविज्जा),

मानव-दोषो की उपर्युक्त गणना में कई शब्द ऐसे है जो विभिन्न दोप-वर्गों में समान रूप में आए है।

यदि अष्टाग मार्ग की साधना एकात-सेवन (विवेक), विराग, वृत्ति-निरोध तथा त्याग (वोसग्ग) के साथ की जाय तो उससे निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) मन शुद्धि के चार फलो (सामञ्ञ फल) की प्राप्ति,
(२) उच्च शक्तियो (अभिञ्ञा) की प्राप्ति,
(३) सैंतीस वोधिपक्खीय धम्मो में पूर्णता, जिससे वोधि प्राप्त होती है,
(४) अमृत निर्वाण (अमत निब्बान) की प्राप्ति।

चार आर्य सत्य

धम्मचक्कपवत्तन सुत्त के दूसरे भाग मे चार सत्यो की सामान्य व्याख्या की गई है, जो इस प्रकार है—

प्रथम सत्य है दु ख (दुक्ख), जो जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अप्रिय जनों के मिलन, प्रिय जनो के वियोग तथा इच्छित वस्तुओ की अ-प्राप्ति आदि के कारण होता है। सक्षेप में, जिन पचस्कधो से जीवधारियो का निर्माण हुआ है वे सभी दु खमय है।

द्वितीय सत्य है दु ख का मूल (दुक्ख समुदय)। दु ख का मूल कारण है तृष्णा (तण्हा)—सासारिक वस्तुओ की तृष्णा, पुनर्जन्म की तृष्णा (जो सर्वास्तिवादियो को होती है), स्व-नाश की तृष्णा (जो उच्छेदवादियो को होती है)। इन तीनो मे ने प्रत्येक प्रकार की तृष्णा सुख और राग से सवद्ध है और उसी के कारण जीव का पुनर्जन्म होता है।

तृतीय सत्य है दु ख का नाश वा अत (दुक्खनिरोध)। यह तृष्णा के पूर्ण त्याग वा समूल नाश के द्वारा ही सभव है।

चतुर्थ सत्य है दु ख के नाश का उपाय वा मार्ग (दुक्ख-निरोध-गामिनी पटिपदा)। यह वही अष्टाग मार्ग है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

चार सत्यो की उपर्युक्त व्याख्या, जो यहाँ महावग्ग (पृ० १०) के अनुसार दी गई है, जनसामान्य के लिए है। वस्तुत दु ख का अर्थ यहाँ सासारिक दु ख नहीं है, जैसा कि साधारणत समझा जाता और कहीं-कहीं ग्रथो में भी पाया जाता है। दु ख का

वास्तविक अर्थ है इस ससार मे किसी भी रूप में जन्म लेना वा जीवन धारण करना, चाहे वह पशु के रूप में हो अथवा मनुष्य, देव वा ब्रह्मा के रूप में। तात्पर्य यह है कि मनुष्य इस ससार में जो कुछ भी प्राप्त करता है—स्वास्थ्य, धन-सपत्ति, सतान, पृथ्वी वा स्वर्ग का राज्य, यहाँ तक कि उच्चतर दिव्य शक्तियाँ भी—वह अत में नाश को प्राप्त होता है। इस ससार मे कुछ भी शाश्वत वा नित्य नही है, अतएव मनुष्य को सभी अनित्य वस्तुओ की कामना त्याग कर नित्य सत्य की खोज करनी चाहिए। अत 'दुक्ख' का अर्थ है 'यह सुख-दु खमय सासारिक जीवन,' जो वस्तुत सारहीन (अनत्त) एव अनित्य (अनिच्च) है। और 'सम्मा दिट्ठि' का अर्थ है दु ख के उपर्युक्त अर्थ को ठीक-ठीक समझ लेना। इसी प्रकार द्वितीय सत्य अर्थात् 'दुक्ख समुदय' का अर्थ है सासारिक जीवन तथा उसके सुखो एव दु खो का कारण। तृतीय सत्य 'दुक्खनिरोध' का अर्थ है 'निब्बान', जहाँ सासारिक जीवन का प्रवाह पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाता है। चतुर्थ सत्य अर्थात् 'दुक्ख निरोध-गामिनी पटिपदा' से तात्पर्य उस अष्टाग मार्ग से है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, जिसके विषय में विश्वास किया जाता है कि उससे न केवल अनित्य सासारिक जीवन के प्रवाह तथा उससे होने-वाले दु खो का नाश हो जाता है। अपितु उसके द्वारा पूर्ण मोक्ष अर्थात् 'निब्बान' भी प्राप्त हो जाता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त चारो सत्य, उपर्युक्त तात्त्विक अर्थ में, साधारण जनो के लिए नही हैं। इसी कारण उन्हें सदा 'अरियसच्च' (आर्य सत्य) कहा जाता है। इसमें 'अरिय' विशेषण से यह यह सूचित किया गया है कि ये सत्य केवल उन लोगो के लिए हैं जिनका पर्याप्त आध्यात्मिक उत्थान हो चुका है और जो अपनी साधना के फलस्वरूप 'सोतापत्ति', 'सकदागामी', 'अनागामी' और 'अर्हत्त'—इन चारो में से कोई अवस्था प्राप्त कर चुके हैं। यह कोई नियम नही है कि सभी भिक्षु 'अरिय' ही होते हैं, उनमें से अनेक 'पुथुज्जन' अर्थात् दोषो से युक्त साधारण मनुष्य होते हैं। 'अरिय' केवल वही भिक्षु कहला सकता है जो कम से कम सोतापत्ति की अवस्था तक पहुँच चुका हो। जब तक 'अरिय' न हो जाय तब तक इस सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता कि ससार में धन-सपत्ति और सतान आदि की प्राप्ति दु ख है।

अनत्तलक्खण सुत्त

बुद्ध द्वारा पचब्राह्मणो को दिया गया दूसरा उपदेश 'अनत्त-लक्खण सुत्त' है। बुद्ध किसी नित्य आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नही करते थे। उनका तर्क था कि यदि

आत्मा (अत्त) शरीर के भौतिक तत्त्वो (रूप) से भिन्न है, तो उसे यह आदेश देने में समर्थ होना चाहिए कि 'रूप' कभी अस्वस्थ न हो, अथवा 'रूप' इस प्रकार का हो, इस प्रकार का न हो। परतु ऐसा सभव नही है। रूप अनित्य (अनिच्च) है और इस कारण वह दु ख का मूल है। परतु यदि आत्मा (अत्त), जैसा कि बौद्धेतर लोग मानते है, सत्य, नित्य एव सुखरूप है तथा दु ख का सबध 'रूप' से है, तो फिर 'रूप' का सबध आत्मा से किस प्रकार हो सकता है? आत्मा का गुण-स्वभाव रूप के गुण-स्वभाव से तत्त्वत भिन्न होने के कारण इन दोनो का सबध किसी प्रकार सभव नही है। उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि आभ्यतर हो वा बाह्य, अतीत हो अथवा वर्तमान वा भविष्य, स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, 'रूप' का यह पिंड 'मैं' वा 'मेरा' से भिन्न है। इस तर्क को 'रूप' के अतिरिक्त अन्य स्कधो अर्थात् 'वेदना', सज्ञा (सञ्ञा), सस्कार (सखारा) और विज्ञान (विञ्ञाण) पर भी इसी प्रकार घटाया जा सकता है। इस सत्य का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को इन अनित्य एव दु खमय स्कधो के प्रति 'विराग' हो जाता है और 'विराग' के द्वारा उसे मानसिक मुक्ति (विमुत्ति) प्राप्त हो जाती है। तब उसे यह अनुभव होता है कि मैं मुक्त हो गया हूँ, मेरे दोष (आस्रव) नष्ट हो गए है और मेरा पुनर्जन्म नही होगा। इस उपदेश को सुनकर पाँचो ब्राह्मण विमुक्त हो गए और उन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

सैंतीस बोधिपक्खीय धम्म

अपने जीवन के अतिम दिनो में तथा अन्य अनेक अवसरो पर भी जब कभी बुद्ध को अपने शिष्यो के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने की आशका होती थी तब वे कहा करते थे कि मेरे शिष्य अन्य विषयो में भले ही एकमत न हो, किंतु उन्हें सात वर्गों मे विभाजित सैंतीस बोधिपक्खीय धम्मो को अवश्य मानना चाहिए, जिनमे कि उनके समस्त उपदेश आ जाते हैं। वैसे धर्म का रहस्य जाननेवालो के लिए सैंतीस धम्मो के सातो वर्गों का पालन करना आवश्यक नही है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए केवल एक या दो वर्गों के अनुसार पूर्ण रूप मे आचरण करना पर्याप्त है, क्योकि वस्तुत उन सात वर्गों में से प्रत्येक में निर्वाण के लिए आवश्यक सभी धर्मों का समावेश है और इस कारण ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सैंतीस मे से अनेक धम्म ऐसे है जिनमें परस्पर कोई भेद नही है, यद्यपि उनके अर्थ जिन वर्गों या अगो के अतर्गत उनका समावेश है उनके शीर्षनामो के अनुरूप ही हैं, जैसे, 'इन्द्रियो' और 'बलो' की सूचियाँ एक-सी हैं, परतु उनके अर्थों में थोड़ा सा अतर है।

१—धर्मों के प्रथम वर्ग का नाम 'सतिपट्ठान' (स० स्मृत्युपस्थान) है, जिनका अर्थ है जागरूकता, सजगता अथवा इस बात का ज्ञान कि हमारे शरीर (काय), अनुभव (वेदना) और मन (चित्त) में क्या हो रहा है और हमारे धर्म (धम्म) क्या है। इस वर्ग के धर्मों को बुद्ध ने निर्वाण का एकमात्र उत्तम मार्ग (एकायन) कहकर उनकी प्रशसा की है और दीर्घ[1] तथा मज्झिम[2] निकायो के दो सुत्तो एव अन्य स्थलो[3] में उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। सतिपट्ठान चार है जो इस प्रकार हैं—

(१) काय सतिपटठान—इसका अभ्यास करने के लिए साधक को चाहिए कि वह बराबर यह लक्ष्य करता रहे कि उसके श्वास-नि श्वास में, उठने-बैठने-सोने मे, अपने अगो को फैलाने और सिकोडने में तथा ऐसे ही अन्य कार्यों को करते समय उसके शरीर के भीतर क्या हो रहा है। उसे इसपर भी विचार करना चाहिए कि उसके शरीर में कौन-से पदार्थ है और मृत शरीर को श्मशान में छोड देने पर उनकी क्या अवस्थाएँ होती हैं। यह सब विचार करते समय उसे बराबर स्मरण रखना चाहिए कि उसका शरीर उत्पत्ति-विनाश-शील है।

(२) वेदना सतिपट्ठान—इसके अभ्यास मे साधक को चाहिए कि वह इस बात को ध्यानपूर्वक लक्ष्य करता रहे कि उसकी 'वेदना' अर्थात् उसे होनेवाले अनुभव सुखात्मक है वा दु खात्मक, अथवा वे दोनो में से कोई नही है, अथवा वे शुद्ध है वा अशुद्ध, इत्यादि। साथ ही उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसके अनुभव उत्पत्ति-विनाश-शील है।

(३) चित्त सतिपट्ठान—इसके अभ्यास में साधक को इस बात की अवधारणा करनी चाहिए कि उसका मन राग, द्वेष और मोह से मुक्त है वा नही, तथा वह सक्षिप्त (सखित्त) अर्थात् सकुचित है वा विक्षिप्त (विक्खित्त), उसका उत्थान हुआ है वा पतन, इत्यादि। उपर्युक्त स्मृत्युपस्थानो की भाँति यहाँ भी उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसका मन उत्पत्ति-विनाश-शील है।

(४) धम्म सतिपट्ठान—इसके अभ्यास मे साधक को इन बातो का पता लगाना चाहिए कि वह विघ्नो (नीवरणो, इनकी सूची के लिए देखिए पृ० १००) से मुक्त हो गया है वा नहीं, शरीर के स्कधो की उत्पत्ति और विनाश किस प्रकार होता

१. दीघ० २, महासतिपट्ठान सुत्त।
२. मज्झिम० १, पृ० ५५, सतिपट्ठान सुत्त।
३. सयुत्त० ५, पृ० १४१ तथा आगे।

है, उसे सबोज्झगो (देखिए आगे पृ० १४३), चार सत्यो तथा ऐसे अन्य उच्च धम्मो की प्राप्ति हो गई है वा नही।

२—धम्मो के द्वितीय वर्ग को 'सम्मप्पधान' (=सम्यक् प्रहाण) अथवा समुचित अभ्यास वा प्रयत्न कहते है। इसके अतर्गत वताए गए कर्तव्य वे ही है जो अष्टाग मार्ग के 'सम्मावायाम' में वताए गए है, अर्थात् पापो को नष्ट करना तथा पुण्यो का सग्रह एव उनकी रक्षा और वृद्धि करना (दे० पृ० १३३-१३४)।

३—धम्मो का तृतीय वर्ग 'इद्धिपाद' (स० ऋद्धिपाद) कहलाता है, जिसका अर्थ है निम्नलिखित उपायो से असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त करना—

(क) छद-समाधि-पधान-सखार (स० छद-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानो मे सिद्धि प्राप्त करने की प्रवल इच्छा,

(ख) विरिय-समाधि-पधान-सखार (स० वीर्य-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानो में सिद्धि प्राप्त करने में अपनी शक्ति का विनियोग,

(ग) चित्त-समाधि-पधान-सखार (स० चित्त-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानो की सिद्धि में अपने मन को लगाना, तथा

(घ) विमस-समाधि-पधान-सखार (मीमासा-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् ध्यान की अवस्थाओ में काम करनेवाले मनस्तत्त्वो की परीक्षा और उनका विवेक।

साधक को सदा सचेत रहना चाहिए कि उसका उक्त चारो सतिपट्ठानो का अभ्यास क्षीण अथवा आलस्य और अभिमान के कारण अवरुद्ध न हो जाय। साथ ही उसे ध्यान रखना चाहिए कि सासारिक सुखो के आकर्षण मे पडकर कही वह अपनी भावना खडित न कर दे। इन अभ्यासो को करते-करते साधक देश और काल अथवा दिन और रात्रि के भेदो से ऊपर उठ जाता है और साथ ही उसे अपने शरीर के तत्त्वो का ज्ञान रहता है।

कहा गया है कि इन अभ्यासो के फलस्वरूप अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती है जिनकी एक लबी सूची निकायो में दी हुई है, जैसे—इनके द्वारा साधक ऊपर उठकर आकाश में उसी प्रकार चल सकता है जैसे धरती पर, वह एक दीवार या ऐसी अन्य किसी ठोस वस्तु के घेरे मे से उस पार निकल जा सकता है, इत्यादि।

४—धम्म का चतुर्थ वर्ग इद्रियाँ अर्थात् शरीर की प्रधान शक्तियाँ है, जो इस प्रकार है—

(क) 'सद्धिन्द्रिय' (स० श्रद्धेन्द्रिय) अर्थात् श्रद्धा-शक्ति। साधक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह बुद्ध को सम्यक् ज्ञानी, ससार-तत्त्व का ज्ञाता तथा मनुष्यो एव देवो

का उत्तम गुरु मानकर उनमें श्रद्धा रखे। फिर वह धम्म और संघ में भी श्रद्धा करे। इस प्रकार त्रिरत्न में श्रद्धा रखना साधक के सिद्धि की प्रथम भूमिका अर्थात् 'सोतापत्ति' अवस्था तक पहुँचने के लिए न्यूनतम शर्त है (सोतापन्न=वह व्यक्ति जो निर्वाण की प्राप्ति के लिए स्रोत में प्रविष्ट होता है)। इस अभ्यास के द्वारा त्रिरत्न के विषय में साधक का संशय-भाव (विचिकिच्छा) दूर हो जाता है।

(ख) 'विरियिन्द्रिय' (स० वीर्येन्द्रिय), अर्थात् वीर्य या शक्ति का तत्त्व। साधक में पर्याप्त शक्ति और सामर्थ्य होना चाहिए और उसे अपने दोषों के क्षय तथा पुण्यों के संग्रह एवं उनकी रक्षा और वृद्धि के लिए परिश्रम करना चाहिए। इसमें और ऊपर उल्लिखित 'सम्मप्पधान' वा 'सम्मावायाम' में कोई अंतर नहीं है।

(ग) 'सतिन्द्रिय' (स्मृतीन्द्रिय), अर्थात् स्मरण-शक्ति। साधक की स्मरण-शक्ति तीव्र होनी चाहिए, जिससे वह बहुत समय पहले किए गए कर्मों या बोले गए वाक्यों को स्मरण रख सके। इस शक्ति के प्रयोग द्वारा साधक को उपर्युक्त चार 'सतिपट्ठानों' का भी अभ्यास करना चाहिए।

(घ) 'समाधिन्द्रिय', अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा विचारों को एकाग्र किया जा सकता है और साधक ध्यान की उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं पर उठ सकता है। पर इसमें एक शर्त यह है कि साधक उसके अभ्यास (वोसग्ग) में पूर्ण रूप से अपना तन-मन लगा दे। इसका अभ्यास तथा चार 'झान' (ध्यानों) का अभ्यास, दोनों एक ही हैं।

(ङ) 'पञ्ञिन्द्रिय' (स० प्रज्ञेन्द्रिय), अथवा प्रज्ञा वा बुद्धि-शक्ति। इस शक्ति के प्रयोग से साधक यह जानने में समर्थ होता है कि उसके ज्ञान में क्या क्या बातें आ रही हैं और किन बातों को उसे त्याग देना चाहिए। इस शक्ति का मुख्य कार्य यह है कि साधक को इसके द्वारा दुक्ख, समुदय, निरोध और मग्ग—इन चार सत्यों का ज्ञान हो जाय।[1]

१. बौद्ध ग्रंथों में 'धातु', 'आयतन', और 'इंद्रिय' नाम की शक्तियों में सूक्ष्म भेद किया गया है। जब कोई शक्ति, अथवा ज्ञानेंद्रिय, जैसे 'चक्षु' इंद्रिय, काम नहीं करती रहती—जैसे निद्रा में—तो उसे केवल 'धातु' (यहाँ चक्षु-धातु) कहते हैं। इंद्रिय के कार्यक्षेत्र को 'आयतन' कहते हैं, जैसे 'रूप' चक्षु का आयतन (चक्षु-आयतन) है। जब इंद्रिय कार्य करती रहती है तब उसे 'इंद्रिय' कहते हैं। जैसे जब मनुष्य अपने चक्षुओं से किसी वस्तु को देखता रहता है तब उसकी देखने की शक्ति 'चक्षु-इंद्रिय' कहलाती है।

उपर्युक्त शक्तियाँ विभिन्न साधको में भिन्न-भिन्न मात्रा में होती हैं, और इसी भेद के आधार पर साधना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ में साधको की श्रेणियाँ निर्धारित की जाती है।[1]

उपर्युल्लिखित इद्रियों का सबध कार्यरत शक्तियो से है, अत. उनके लिए 'इद्रिय' शब्द का प्रयोग किया गया है। बौद्धो के मत से इद्रियो की सख्या बाईस है, जो इस प्रकार है--

(क) छ ज्ञानेंद्रियाँ--आँख, कान, नाक, जीभ, शरीर और मन।

(ख) जीवित व्यक्तियो में पाए जानेवाले तीन तत्त्व--जीवितेंद्रिय (जीवितिंद्रिय), पुरुषेंद्रिय (पुरुसिंद्रिय) और स्त्री-इद्रिय (इत्थिंद्रिय)।

(ग) पाँच मन शक्तियाँ--सुख (सुखिन्द्रिय), दु ख (दुक्खिन्द्रिय), प्रसन्नता (सोमनस्सिन्द्रिय), अप्रसन्नता (दोमनस्सिन्द्रिय), सुख-दु ख दोनो का अभाव (उपेक्खिन्द्रिय)। प्रथम दो का सबध शरीर से है, द्वितीय दो का मन से और अतिम एक का शरीर और मन दोनो से। इन इद्रियो में से प्रत्येक का एक विशेष आधार (निमित्त) , कारण (निदान), अनुबध (पच्चय) और प्रेरक हेतु (सखार)होता है। 'दुक्खिन्द्रिय' का लय प्रथम प्रकार के ध्यान में हो जाता है, दोमनस्सिद्रिय का द्वितीय प्रकार के ध्यान में, सुखिन्द्रिय का तृतीय प्रकार के ध्यान में और सोमनस्सिन्द्रिय का चतुर्थ प्रकार के ध्यान में। जब साधक ध्यान की अतिम भूमिका अर्थात् 'सञ्ञावेदयितनिरोध' (जिसमें चेतना प्रायः विलीन हो जाती है) में स्थित होता है तब उपेक्खिद्रिय का भी लय हो जाता है।

(घ) तीन प्रकार की ज्ञान-शक्तियाँ, अर्थात् (१) वह शक्ति जो मनुष्य को अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है (अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं=स० अनज्ञात-आज्ञास्यामि इति इन्द्रियम्); (२) वह शक्ति जो मनुष्य को ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है (अञ्ञिन्द्रिय=(स० आज्ञा+इन्द्रियम्); और (३) वह शक्ति जिससे सपूर्ण ज्ञान, सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है (अञ्ञातावीन्द्रिय=स० आज्ञातावीन्द्रियम्)।

(ङ) ऊपर चतुर्थ वर्ग में गिनाई गई पाँच इद्रियाँ।

१. दोषक्षय या चित्त-सस्कार की सर्वोच्च अवस्था अर्हत् पद है, जिसमें समस्त दोषों का क्षय हो जाता है (खीणासव)। ऊपर से नीचे की ओर अवस्थाओ का क्रम इस प्रकार है--

(१) अर्हत् (पूर्ण या सिद्ध पद); (२) 'अतरापरिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो देवयोनि में रहते हुए अपने अतरकालीन जीवन में ही 'निब्बान'

५—धम्म का पंचम वर्ग 'बल' या आंतरिक शक्ति कहलाता है। इनके अंतर्गत बताए गए पाँच प्रकार के बल वही हैं जो इंद्रियों में गिनाए गए हैं, अर्थात् श्रद्धा (सद्धा), शक्ति (विरिय), स्मृति (सति), ध्यान (समाधि) और ज्ञान या प्रज्ञा (पञ्ञा)। 'इंद्रिय' और 'बल' में मुख्य अंतर यह है कि इंद्रिय क्रियाशील होती है और उनका सदा एक ही रूप में रहना आवश्यक नहीं है, परंतु बल इंद्रिय की क्रिया का परिणाम है और इस कारण वह स्थिर होता है और साधक को दृढ़तापूर्वक इंद्रिय में स्थित रखता है, अर्थात् इंद्रिय बल के रूप में परिणत हो जाती है।

अन्य सभी अभ्यासों के समान बलों के साथ 'विवेक' (एकांतता), 'विराग' (राग या आसक्ति का न होना), 'निरोध' (नाश), और 'वोसग्ग' (बल की प्राप्ति के लिए पूर्ण तन-मन से प्रयत्नशील होना) भी होना चाहिए। ये बल प्राप्त हो जाने पर सूक्ष्म बंधनों (उद्धभागिय-संयोजन) को काटने में सहायक होते हैं और साथ ही निब्बान के उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए सीढ़ी का काम करते हैं।

प्राप्त करते हैं, (३) 'उपहच्च परिनिब्बायी', अर्थात् वे अनागामी जो अपने जीवन के अंत के कुछ पहले निब्बान प्राप्त करते हैं; (४) 'असंखार-परिनिब्बायी', अर्थात् वे अनागामी जो अत्यल्प परिश्रम से निर्वाण प्राप्त करते हैं, (५) 'ससंखार-परिनिब्बायी', अर्थात् वे अनागामी जो अत्यंत परिश्रम से निर्वाण प्राप्त करते हैं; (६) 'उद्धंसोतो-अकनिट्ठगामी', अर्थात् वे अनागामी जो क्रमशः एक स्वर्ग से दूसरे उच्च स्वर्ग में जाते हैं और अकनिट्ठ स्वर्ग में रहते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं, (७) 'सकदागामी', अर्थात् वे जिनका, निर्वाण प्राप्त करने के लिए एक बार पुनः इस संसार में जन्म होगा, (८) 'एकबीजी', अर्थात् वे सकदागामी जो निर्वाण प्राप्त करने के लिए केवल एक बार और कामधातु में जन्म लेंगे, (९) 'कोलंकोल', अर्थात् वे सकदागामी जो एकाधिक बार कामधातु की देवयोनि में जन्म लेंगे (देवकुलंकुल, जो कम-से-कम एक बार मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं वे 'मनुष्य-कुलंकुल' कहलाते हैं)। सबसे निचली अवस्था (१०) 'सोतापन्न' या 'सत्तक्खत्तुपरम' की होती है, जिसे निर्वाण प्राप्त करने के लिए इस संसार में सात बार और जन्म लेना पड़ता है। सोतापन्न दो प्रकार के होते हैं—एक (११) 'सद्धानुसारी', जो ज्ञान की अपेक्षा श्रद्धा पर अधिक निर्भर रहते हैं और दूसरे (१२) 'धम्मानुसारी', जो ज्ञानी होते हैं और श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक निर्भर रहते हैं। (अधिक विवरण के लिए दे० नलिनाक्ष दत्त, 'ऐस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म', पृ० २५०, २६३, २६८, नोट, ३)।

६—पष्ठ वर्ग के धम्म, जो सबोज्झग (स० सम्बोध्यग) कहलाते हैं, और जिनके द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है (बोधाय सवत्तन्तीति सबोज्झग), बुद्ध के द्वारा सम्यक् सबुद्ध के चक्रवर्तिरत्नो के समान सात रत्न कहे गए हैं। उन्होने इनका बहुत बडा महत्त्व बतलाया है। इनके अभ्यास से दोपो या आसवो (काम, भव, दिट्ठि) का नाश हो जाता है, पच बाधाएँ (नीवरण) पूर्णत दूर हो जाती हैं और साधक को ज्ञान (विज्जा) और मुक्ति (विमुत्ति) प्राप्त हो जाती है, दूसरे शब्दो में वह अर्हत् (खीणासव) हो जाता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि 'अब मेरा कर्तव्य पूरा हो गया और अब मेरा पुनर्जन्म नही होगा' (खीणा जाति कत करणीय नापर इत्यत्ताय)। सबोज्झग की प्राप्ति के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि साधक पूर्ण रूप से शीलो का आचरण करनेवाला हो, जो कि उसके लिए वैसे ही आधाररूप हैं जैसे वृक्ष के लिए पृथ्वी (सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित पञ्ञ च भावयम्), और तब उसे अष्टाग मार्ग (अट्ठगिकमग्ग) को गुरु या पथ-प्रदर्शक (कल्याणमित्त) के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

इस वर्ग के धम्मो को ऐसे क्रम से रक्खा गया है कि प्रत्येक धम्म अपने बाद वाले धम्म के लिए एक सीढी के समान है और प्रथम धम्म से अतिम धम्म तक क्रमश प्रगति को हम उसी रूप में समझ सकते हैं जैसे ध्यान में साधक का क्रमश प्रथम से चतुर्थ भूमिका तक उत्थान होता है। उनकी क्रमिक व्याख्या से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा—

(१) सतिस बोज्झग (=स्मृतिसम्बोध्यग)—इसकी प्राप्ति उसी रीति से की जाती है जैसे उपर्युक्त चार सतिपट्ठानो की (दे० पूर्व पृ० १३८–३९), जो वस्तुत ध्यान के ही एक प्रकार हैं। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि साधक ने शील के आचरण, ध्यान (समाधि) के अभ्यास और प्रज्ञा की प्राप्ति में तथा सासारिक विषयो से अपने मन को मुक्त करने में बहुत-कुछ सफलता प्राप्त कर ली हो। उसमें यह समझने की अतर्दृष्टि भी होनी चाहिए कि विमुक्ति क्या है (विमुक्ति-ञाण-दस्सन)। साथ ही उसे अपनी स्मरण-शक्ति इतनी बढा लेनी चाहिए कि धर्म का प्रवचन सुनने के बाद वह एकात में जाकर उसके तत्त्वो पर मनन कर सके।

(२) धम्म विचय सबोज्झग अथवा धम्म का विवेक (विचय)—साधक को इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि उसे जिन धम्मो का अभ्यास और आचरण करना है वे उत्तम हैं या निकृष्ट, सदोष हैं या निर्दोष, इत्यादि। सबोज्झग की सिद्धि के लिए उसे एकात में बैठकर सुने हुए धम्म-प्रवचन के विषयो और अर्थो का विवेचन करना चाहिए।

(३) विरिय सबोज्झग अथवा शक्ति—सब प्रकार से अपनी शक्ति (निक्कम और परक्कम) के प्रयोग (आरभ) से इनकी वृद्धि होती है। यह वस्तुत 'विरियिन्द्रिय' के ही समान है जिसकी विस्तृत व्याख्या ऊपर की जा चुकी है, केवल इतना इसमें और कहा गया है कि साधक को प्रवचन सुनने और उसका मनन और विवेचन करने के बाद उसी के अर्थ वा विषय की 'भावना' करनी चाहिए।

(४) पीति सबोज्झग (=प्रीति वा प्रसन्नता)—इनकी प्राप्ति वस्तुत पूर्वोक्त तीनो की ही प्राप्ति से होती है। इसकी रीति वही है जो तीसरे प्रकार के ध्यान की बतलाई गई है, जिसमें साधक वितर्क और विचार से बिलकुल रहित होकर आनद प्राप्त करता है। इसके पूर्व के सबोज्झग मे वह भावना का अभ्यास करता है और उसमें सफल होने पर उसे प्रीति (पीति) प्राप्त होती है।

(५) पसद्धि सबोज्झग अथवा मानसिक शाति—पूर्वोक्त चार सबोज्झगो, विशेषत 'पीति', के प्राप्त होने पर शारीरिक और मानसिक शाति प्राप्त होती है।

(६) समाधि सबोज्झग अथवा ध्यान—पूर्वोक्त 'पसद्धि' अर्थात् शाति की प्राप्ति से ध्यान एकाग्र हो जाता है और साधक को मानसिक दृढता और विश्राति प्राप्त होती है।

(७) उपेक्खा सबोज्झग अथवा मानसिक समभाव—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चतुर्थ ध्यान की भाँति इसके द्वारा चित्त की वृत्तियाँ शम हो जाती है और किसी भी लाभ-अलाभ, सुख-दुख या हर्ष-शोक से चित्त में विक्षोभ नहीं होता।

ये सात अभ्यास बुद्ध ने रुग्ण भिक्षुओ के स्वास्थ्य लाभ करने के लिए बतलाए हैं। उन्हें सिद्ध कर लेने के उपरात साधक बहुत लोकप्रिय हो जाता है और लोगो को अपने प्रवचनो और व्याख्यानो से सतुष्ट कर सकता है। इनके द्वारा अनागामी 'अन्तरापरिनिब्बायी', 'उपहच्च परिनिब्बायी' अथवा 'उद्धसोतो अकणिट्ठगामी' हो जाता है (पृ० १४२)। अत में इनके द्वारा तीन दोषो—राग, द्वेष, मोह—का नाश हो जाता है। साधारणत कभी-कभी इनका अभ्यास चार ब्रह्मविहारो (मेत्ता, करुणा, मुदिता, उपेक्खा) के साथ-साथ करते है।

अध्याय १०

दार्शनिक समस्याएँ

(क) प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुप्पाद)

'प्रतीत्य समुत्पाद' बौद्ध धर्म के मूल उपदेशो में से एक है। कहा जाता है कि बुद्ध को इसका ज्ञान उसी रात्रि में हुआ था जिसमें उन्हे बोधि प्राप्त हुई थी। जब उनका मन पूर्ण रूप से मुक्त हो गया तब उन्हे इस दृश्य-विश्व के मौलिक सत्य का अनुभव हुआ। तब उन्होने स्वाभाविक क्रम से कारणो की एक शृखला या परपरा स्थिर की, जिसकी व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि ससार में जीवो वा पदार्थों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसकी अनित्यता वा क्षणभगुरता के कारण कैसे वे दु ख के बधन में फँस जाते हैं और फिर किस प्रकार उक्त कारण-शृखला की प्रत्येक कडी को काटकर जीव पुनर्जन्म के चक्र तथा उससे होनेवाले दु खो से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस कारण-परपरा या प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धात से इस सत्य की स्थापना हुई कि ससार में बारबार जन्म और उससे होनेवाले दु खो का सबध किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर, वा नित्य प्रकृति, वा अणु-परमाणु, वा अपरिवर्तनशील एव अविनाशी ब्रह्म वा आत्मा, वा कारण रहित सयोग, अथवा नियति से नही है, प्रत्युत उनके कुछ निश्चित हेतु (कारण) और प्रत्यय (शर्तें) होते हैं।

इस सिद्धात के द्वारा इस प्रकार के वितर्कों की निस्सारता प्रकट हो गई कि यह ससार शाश्वत है वा अनित्य (उच्छेद), इसका कोई आदि (शुरुआत) अथवा अत (अपरात) है वा नही, यह सात (अतवान्) है वा अनत (अनतवान्) इत्यादि। बुद्धघोष के मत से इसमें 'समुत्पाद' शब्द द्वारा नास्तिवाद (नत्थिता) और उसके विरोधी अस्तिवाद (अत्थिता) दोनो सिद्धातो का निरसन है, जिन्हें बुद्ध ने अस्वीकृत कर दिया था। इस सिद्धात मे 'मैं क्या था ? क्या हूँ ? क्या होऊँगा ?' इत्यादि प्रश्नो का, अर्थात् आत्मा के अस्तित्व और उसकी नित्यता के सबध में सभी प्रकार की धारणाओ का, अत हो गया। इस प्रकार इसने बुद्ध के समय में प्रचलित वेदात, साख्य, न्याय-वैशेषिक, जैन वा आजीवक सभी मतो का खडन कर दिया और इस सत्य की दृढ स्थापना कर दी कि इस दृश्य जगत् की उत्पत्ति और इसका विनाश कारण और कार्य के अखड नियम के अधीन होता है, जो कि प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है और इस कारण उनमें

होनेवाला परिवर्तन क्षणिक होता है। दूसरे शब्दों में, संसार के सभी जीव और पदार्थ एक अखंड प्रवाह की स्थिति में हैं। फिर प्रत्येक लघु क्षण में भी, जिसका कि अस्तित्व भी अकल्पनीय है, तीन भाग होते हैं—'उत्पत्ति', 'स्थिति' और 'व्यय' (=नाश) अतः इसकी भली भाँति कल्पना की जा सकती है कि यह परिवर्तन कितना शीघ्र और साथ ही निरंतर गति से होता है और इस निरंतर परिवर्तन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो नित्य तत्त्व समझकर ग्रहण किया जा सके। इस सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सांसारिक विषयों के आकर्षण से अपने को बचाने में समर्थ होता है, उसका मन पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है और फिर उसका संसार में जन्म नहीं होता। तब उसे निर्वाण (निब्बान) की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो सर्वथा कारण-रहित और प्रत्यय-रहित (अप्रतीत्यसमुत्पन्न) है और जिसकी उपमा केवल आकाश से दी जा सकती है। जिस प्रकार आकाश के दर्शन के लिए कोई श्रम नहीं करना पड़ता, केवल उसके और हमारे बीच से दृष्टि को रोकनेवाले पर्वत, वृक्ष, भवन आदि पदार्थों के हट जाने से ही वह दिखाई पड़ जाता है, उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति श्रम के द्वारा नहीं प्रत्युत मन की मुक्ति में बाधक होनेवाले कारणों, अर्थात् मिथ्या ज्ञान, मानस-मल एवं दार्शनिक तर्क-वितर्क आदि, को दूर करने से ही होती है। निर्वाण कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसे प्राप्त करने के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता हो। प्रत्युत ऐसे व्यक्ति को वह स्वतः प्राप्त हो जाता है जो प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् कारण-परंपरा के सिद्धांत को समझकर प्रत्येक प्रकार की मिथ्या धारणाओं से अपने मन को मुक्त कर लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्वाण या सत्य को प्राप्त करने अथवा बुद्ध होने के लिए केवल कारण-परंपरा के सिद्धांत को समझ लेना आवश्यक है। निम्नलिखित वाक्यों से यह भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है—

यो प्रतीत्यसमुत्पाद पश्यति सो धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति। (जो प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है उसे सत्य का साक्षात्कार होता है। जिसे सत्य का साक्षात्कार होता है उसे बुद्धत्व प्राप्त होता है।)

उत्पादाद्वा तथागतानां अनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवेयं धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियमता तथता अवितथता अनन्यतथता भूतता सत्यता तत्त्व अविपरीतता विपर्यासेत्येवमादिभगवान्मैत्रेयवचनम् (कोशव्याख्या, ३।४१)। (भगवान् मैत्रेय ने सत्य कहा है कि तथागत की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति या स्थिति तथा संसार के पदार्थों की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति या स्थिति में कोई अंतर नहीं है। उसका तथा स्थिति, प्राकृतिक नियम, यथार्थता, अपरिवर्तनशीलता, सत्यता, अविपरीतता, भ्रमरहितता इत्यादि का एक ही अर्थ है।)

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो मे से प्रथम से यह विदित होता है कि प्रकृति का यथार्थ ज्ञान हो जाने से सत्य का, बुद्ध का, दर्शन स्वत हो जाता है , और द्वितीय से यह विदित होता है कि यदि तथागत को गौतम बुद्ध के समान एक देहधारी व्यक्ति के रूप में (यद्यपि उन्हें सर्वथा दोपरहित और पवित्र मानकर) देखा जाय तो अन्य सब पदार्थों की भाँति उन्हें भी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के अधीन मानना पडेगा , परतु यदि उन्हे अशरीरी समझा जाय, जो वे वस्तुत सत्य के साक्षात्कार द्वारा हो गए है, तो उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की बात करना व्यर्थ है।

बौद्ध दर्शन में यह तथ्य सिद्ध मान लिया गया है कि सभी सासारिक पदार्थ 'सस्कृत' हैं और निर्वाण, बुद्ध वा तथागत तथा आकाश 'असस्कृत' है । प्रतीत्य समुत्पाद वा सहेतु उत्पत्ति के नियम का विनियोग केवल 'सस्कृत' पदार्थों के ही सबध में हो सकता है, अत यदि कोई यह भली भाँति समझ ले कि 'सस्कृत' पदार्थ क्या है, तो उसे 'असस्कृत' सत्य का साक्षात्कार उसी प्रकार हो जाता है जैसे बीच के दृष्टिबाधक पदार्थों के हट जाने से आकाश का दर्शन होता है ।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन जो सिद्धात स्थापित करना चाहता है वह यह है कि हमारी सकुचित दृष्टि और ज्ञान के द्वारा 'लोकोत्तर', 'असस्कृत', 'भूतकोटि' (चरम सत्ता) वा सत्य के स्वरूप को समझना किसी प्रकार सभव नही है, परतु यह समझ लेना सरल है कि सासारिक दृश्य पदार्थों मे कोई तत्त्व ढूँढना मृगमरीचिका के पीछे दौडने के समान है, वे सर्वथा निस्सार हैं । प्रतीत्य समुत्पाद के नियम द्वारा मनुष्य को पदार्थों की इस निस्सारता का ज्ञान सरलता से हो जाता है, जिससे उसका सपूर्ण भ्रम और मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है । उसका मन दर्पण की भाँति स्वच्छ हो जाता है, जिसमे सत्य बिना किसी प्रयास के स्वत आभासित होता है ।

परतु नागार्जुन ने इस नियम से दूसरा ही तात्पर्य निकाला है । उनका तर्क यह है कि सत् पदार्थों का कभी अभाव नही होता, वे शाश्वत होते है, तथा असत् पदार्थों का भाव वा अस्तित्व नही होता । इन दोनो के बीच की कोई अल्पस्थायी सत्ता नही है , ऐसे मध्यवर्ती पदार्थ का अस्तित्व तर्कविरुद्ध है। इस प्रतिज्ञा के आधार पर उनका कथन है कि हेतु अपने फल में अपरिवर्तित रूप में विद्यमान रहना चाहिए। परतु यह सभव नहीं है, इसलिए कोई फल हेतु वा प्रत्यय से उत्पन्न नही होता। उनके मत से केवल निर्वाण ही सत् है, क्योकि वह किसी हेतु या प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होता । परतु सासारिक पदार्थ, जो हेतु और प्रत्यय से उत्पन्न होते है, असत् है , वे केवल मानसी सृष्टि (प्रपच) हैं । इस प्रकार नागार्जुन ने इस नियम का उपयोग वेदातियो के

मायावाद की भांति सांसारिक पदार्थों की असत्ता या मिथ्यात्व (धर्मशून्यता) सिद्ध करने के लिए किया है। इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए कि 'अस्मिन् सति इदं भवति' के नियम का प्रतिपादन स्वयं बुद्ध ने किया था, नागार्जुन का कहना है कि उस नियम का संबंध मुख्यतः पदार्थों की सापेक्ष किंतु दृश्य सत्ता—जैसे दीर्घ-लघु, कृष्ण-शुक्ल, काष्ठ-मंच, राम-श्याम—से है। सांसारिक पदार्थों के केवल भिन्न-भिन्न नाम भर हैं, वस्तुतः वे एक ही तत्त्व हैं, जिसे नागार्जुन ने एक गुणरहित आधार के रूप में माना है और उसे 'शून्यता' नाम दिया है। इस नियम का प्रतिपादन बुद्ध ने अज्ञानी मनुष्यों को पदार्थों की तात्त्विक एकता का बोध कराने के लिए किया था।

नागार्जुन की इस व्याख्या को बुद्धघोष और वसुबंधु जैसे बौद्ध मत के प्राचीन आचार्यों ने नहीं माना है। अभिधर्म के लेखकों ने कारण-शृंखला की प्रत्येक कड़ी की विस्तृत व्याख्या की है, जो इस प्रकार है—

अविज्जापच्चया संसारा, संसारपच्चया विञ्ञान, विञ्ञानपच्चया नाम रूप नामरूपपच्चया सड़ायतनं, सड़ायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादान, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरण सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खसयस्स समुदयो होति। अविज्जयात्वेव असेसविरागनिरोधा संसार निरोधो, संसारनिरोधा विञ्ञाननिरोधो, विञ्ञाननिरोधा नामरूप निरोधो,... जातिनिरोधा जरामरण सोक परिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति। एवमेतस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति।

उपर्युक्त नियम में बारह कारण तीन वर्गों में इस प्रकार विभक्त हैं—

पूर्वान्त (पूर्व जन्म)—१ अविद्या, २ संस्कार,

मध्य (वर्तमान जीवन)—३ विज्ञान (चेतना), ४ नाम-रूप, ५ षडायतन (छः ज्ञानेंद्रियाँ), ६ स्पर्श, ७ वेदना, ८ तृष्णा, ९ उपादान, १० भव (पुनर्जन्म की इच्छा),

अपरान्त (भविष्य जन्म)—११ जाति (पुनर्जन्म), १२ शोक-परिदेवन-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास (जरा-मरण, शोक, विलाप, दुःख और निराशा)।

दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार है—

क्लेश—अविद्या, तृष्णा, उपादान ;

कर्म—संस्कार, भव ;

वस्तु—विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति, जरा-मरण।

इन शब्दो की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अविज्जा (=अविद्या) का मूल अर्थ है चरम सत्य, बोधि वा निर्वाण के ज्ञान का अभाव, सासारिक पदार्थों की अनात्मता के ज्ञान का अभाव तथा उनकी अनित्यता के कारण, जो कि दुख का मूल है, चार आर्य सत्यो के ज्ञान का अभाव, जिनके अतर्गत कारण-परपरा का नियम तथा अष्टाग मार्ग भी है। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धातो के इस ज्ञानाभाव के कारण मोह उत्पन्न होता है और मोह से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। ये तीनो मनुष्य जीवन के लिए घोर बाधास्वरूप तथा समस्त दुखो के कारण हैं। अविद्या को वस्तुत ज्ञान का अभाव मात्र नही मानना चाहिए, क्योकि अभाव से कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकती। अविद्या से तात्पर्य राग, द्वेष, मोह आदि दोषो या मलो से है जो भावरूप तथा सस्कारो (सखारा=मिथ्या धारणाएँ) के जनक हैं। ये अविद्या अर्थात् मूल सत्यो के अज्ञान से उत्पन्न होते है, क्योकि इसके द्वारा मन में पुण्य, अपुण्य और 'अनेञ्ज' (न पुण्य, न अपुण्य) सबधी कल्पनाओ की सृष्टि होती है। जब इस प्रकार की कल्पनाएँ मनुष्य के मन में बद्धमूल होकर उसके जीवन के अत तक बनी रहती है तो उन्हें 'सस्कार' कहते है। ये सस्कार मनुष्य के द्वारा उसके सपूर्ण जीवन में किए गए कर्मों के परिणाम-स्वरूप भी होते हैं। मनुष्य के इन्ही सस्कारो वा कर्मफलो के द्वारा उसके अगले जन्म के भविष्य का निर्माण होता है। उपर्युक्त दोनो, अर्थात् अविद्या और सस्कार, का सबध जीव के पूर्वजन्म (पूर्वान्त) से जोडा गया है।

'मध्य' अर्थात् वर्तमान जीवन का प्रारभ 'विज्ञान' (विञ्ञाण) से होता है, जिसका अर्थ 'कोश' (३।२८) के अनुसार वह विशेष चेतना तत्त्व है जो पुनर्जन्म का कारण है (प्रतिसन्धि विज्ञान)। यह मन (जो छ ज्ञानेंद्रियो में से एक है) का एक रूप भी है (मनोविज्ञान)।

इस मनस्तत्त्व से अन्य मनस्तत्त्व अर्थात् 'वेदना', 'सज्ञा', 'सस्कार' और पच ज्ञानेंद्रियाँ (पच-इद्रिय-विज्ञान) उत्पन्न होती है। इन सबको समष्टि रूप में 'नाम' कहते हैं जो नम् धातु (=मोडना या झुकाना, मन को विषयो की ओर प्रवृत्त करना) से व्युत्पन्न होता है। मानसिक वृत्तियाँ बिना किसी बाह्य आश्रय या विषय के नही रह सकती, अत उनके लिए 'रूप' वा धातुओ—जैसे मास, रक्त, अस्थि इत्यादि—की आवश्यकता होती है। इस कारण पूर्व जन्म के सस्कार एक नए जीव को उत्पन्न करते है जो अपना जीवन गर्भ के भीतर एक वर्धमान डिंभ के रूप मे प्रारभ करता है और जिसका पोषण माता के रक्त द्वारा होता है। गर्भ के भीतर ही बढते हुए इस नाम-

रूपात्मक पिंड में ज्ञानेंद्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यद्यपि अपने-अपने विषयों के अभाव में वे निष्क्रिय बनी रहती हैं।

जीव जब गर्भ या अंड से बाहर आता है तब उनकी छहों ज्ञानेंद्रियों का स्पर्श (फस्स=स्पर्श) उनके छ: प्रकार के विषयों से होता है और वे 'वेदना' अर्थात् बुरे या भले अनुभव उत्पन्न करती हैं। वेदनाएँ अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार की तृष्णा (तण्हा) उत्पन्न करती हैं, जैसे—सासारिक विषयों की तृष्णा (काम-तृष्णा), काम, रूप और अरूप इन तीन प्रकार की योनियों में से किसी में पुन: जन्म लेने की तृष्णा (भव-तृष्णा), अथवा अपने जीवन का अंत कर देने की तृष्णा (विभव-तृष्णा)। इनमें से भव-तृष्णा केवल शाश्वतवादियों तक सीमित है और विभव-तृष्णा केवल उच्छेदवादियों तक। किसी भी प्रकार की तृष्णा से अपनी इच्छित वस्तुओं एवं मिथ्या धारणाओं के प्रति घोर आसक्ति (उपादान) हो जाती है। 'उपादान' शब्द का अर्थ है अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने (छंद) और प्राप्त वस्तु को अपने पास बनाए रखने की बलवती इच्छा (राग)। यह चार प्रकार का कहा गया है—सांसारिक विषयों में आसक्ति (काम), भ्रांत विचारों (दृष्टि) के प्रति आसक्ति, व्रत-तप आदि कर्मों (शील-व्रत) के प्रभाव तथा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास के प्रति आसक्ति। उपादान का परिणाम है काम, रूप और अरूप—इन तीन योनियों में से किसी में पुनर्जन्म (भव या पुनर्भव)।

कारण-शृंखला की तीन अंतिम कड़ियाँ, अर्थात् 'भव' (पुनर्जन्म की इच्छा), 'जाति' (जन्म) एवं 'जरा-मरण' वस्तुत: पूर्ववर्ती कारणों की भाँति कोई क्रमिक कड़ियाँ नहीं हैं, प्रत्युत ये केवल यह संकेत करती हैं कि कारण-शृंखला पुन: प्रारंभ हो जाती है। अत: सच पूछा जाय तो 'उपादान' का परिणाम है पुनर्जन्म की चेतना (प्रतिसंधि विज्ञान), जिसका अर्थ है दूसरे जन्म का प्रारंभ।

कारण-शृंखला की बारह कड़ियों में से 'विज्ञान' से लेकर 'भव' तक आठ कड़ियाँ का क्रम एक माला के रूप में है और ये वर्तमान जीवन की व्याख्या करती हैं। प्रथम दो (अविद्या, संस्कार) तथा अंतिम दो कड़ियों (जाति, जरा-मरण) के संबंध में यह माना गया है कि ये क्रमश: जीव के अतीत एवं भविष्य जन्मों की सूचक हैं, जिनमें बौद्ध धर्म विश्वास करता है।

(ख) कर्म-सिद्धांत

पहले कहा जा चुका है कि बुद्ध ने मनुष्य के जीवन का नैतिक सिद्धांत

इन शब्दो की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अविज्जा (=अविद्या) का मूल अर्थ है चरम सत्य, बोधि वा निर्वाण के ज्ञान का अभाव, सासारिक पदार्थों की अनात्मता के ज्ञान का अभाव तथा उनकी अनित्यता के कारण, जो कि दुख का मूल है, चार आर्य सत्यो के ज्ञान का अभाव, जिनके अतर्गत कारण-परपरा का नियम तथा अष्टाग मार्ग भी है। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धातो के इस ज्ञानाभाव के कारण मोह उत्पन्न होता है और मोह से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। ये तीनो मनुष्य जीवन के लिए घोर बाधास्वरूप तथा समस्त दुखो के कारण है। अविद्या को वस्तुत ज्ञान का अभाव मात्र नही मानना चाहिए, क्योकि अभाव से कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकती। अविद्या से तात्पर्य राग, द्वेष, मोह आदि दोषो या मलो से है जो भावरूप तथा सस्कारो (सखारा=मिथ्या धारणाएँ) के जनक हैं। ये अविद्या अर्थात् मूल सत्यो के अज्ञान से उत्पन्न होते है, क्योकि इसके द्वारा मन में पुण्य, अपुण्य और 'अनेञ्ज' (न पुण्य, न अपुण्य) सबधी कल्पनाओ की सृष्टि होती है। जब इस प्रकार की कल्पनाएँ मनुष्य के मन में बद्धमूल होकर उसके जीवन के अत तक बनी रहती है तो उन्हें 'सस्कार' कहते हैं। ये सस्कार मनुष्य के द्वारा उसके सपूर्ण जीवन में किए गए कर्मों के परिणाम-स्वरूप भी होते हैं। मनुष्य के इन्ही सस्कारो वा कर्मफलो के द्वारा उसके अगले जन्म के भविष्य का निर्माण होता है। उपर्युक्त दोनो, अर्थात् अविद्या और सस्कार, का सबध जीव के पूर्वजन्म (पूर्वान्त) से जोडा गया है।

'मध्य' अर्थात् वर्तमान जीवन का प्रारभ 'विज्ञान' (विञ्ञाण) से होता है, जिसका अर्थ 'कोश' (३।२८) के अनुसार वह विशेष चेतना तत्त्व है जो पुनर्जन्म का कारण है (प्रतिसन्धि विज्ञान)। यह मन (जो छ ज्ञानेंद्रियो में से एक है) का एक रूप भी है (मनोविज्ञान)।

इस मनस्तत्त्व से अन्य मनस्तत्त्व अर्थात् 'वेदना', 'सज्ञा', 'सस्कार' और पच ज्ञानेंद्रियाँ (पच-इद्रिय-विज्ञान) उत्पन्न होती है। इन सबको समष्टि रूप में 'नाम' कहते हैं जो नम् धातु (=मोडना या झुकाना, मन को विषयो की ओर प्रवृत्त करना) से व्युत्पन्न होता है। मानसिक वृत्तियाँ विना किसी बाह्य आश्रय या विषय के नही रह सकती, अत उनके लिए 'रूप' वा धातुओ—जैसे मास, रक्त, अस्थि इत्यादि—की आवश्यकता होती है। इस कारण पूर्व जन्म के सस्कार एक नए जीव को उत्पन्न करते है जो अपना जीवन गर्भ के भीतर एक वर्धमान डिभ के रूप में प्रारभ करता है और जिसका पोषण माता के रक्त द्वारा होता है। गर्भ के भीतर ही बढते हुए इस नाम-

बँधा हुआ है और उनसे पृथक् उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कर्म-सिद्धांत को समझाने के लिए बौद्ध लोग प्रायः कई प्रकार के दृष्टांत दिया करते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि एक छोटी-सी जलती हुई दियासलाई एक वृहत् अग्निराशि का कारण है, परन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि दोनों अग्नियाँ एक ही हैं अथवा दोनों एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं। इसी प्रकार एक आम की गुठली और उससे उत्पन्न वृक्ष के फल एक ही नहीं हैं।

अतः इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'सो करोति सो पटिसंवेदयति' या 'अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसंवेदयति' कहना ठीक नहीं है। ये दोनों दो अंतकोटि के मत हैं, जिन्हें बुद्ध ने त्याग कर मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया था जो उनके मत से यह है—'न च सो न च अञ्ञो' (वह न वही है न उससे भिन्न कोई अन्य है)। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है,परन्तु उसके कर्म का परिणाम, जैसा कि कारण-परंपरा के सिद्धांत से सिद्ध है, तत्काल होता है, जो उसके पंचस्कंधों में विकार या परिवर्तन उपस्थित करता है। यह परिवर्तन बुरा भी हो सकता है और भला भी। जैसे,जीव-हिंसा करके मनुष्य अति घोर हिंसक भी बन सकता है और अत्यंत महान् संत भी—अंगुलिमाल ९९ मनुष्यों का वध करने के बाद संत हो गया था। एक खट्टे आम की गुठली से विशेष परिस्थितियों में मीठे आम भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव बौद्ध लोग यह नहीं मानते कि कर्म जिस प्रकार से किया जाता है उसी प्रकार से उसका फल भी प्राप्त होता है। कर्म-सिद्धांत की इस प्रकार की व्याख्या के कारण ही ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के बीच मौलिक अंतर आ गया।

(ग) अनात्मवाद (अनत्त)

बुद्ध द्वारा राहुल को दिए गए उपदेशों में तथा अनत्तलक्खण सुत्त में यह बतलाया गया है कि देही के पंचस्कंधों का अस्तित्व वास्तविक नहीं है, ये सब सत्त्वहीन हैं, मिथ्या हैं, और जब 'आयु', 'ऊष्मा' और 'विज्ञान' का अंत हो जाता है तब वे विघटित हो जाते हैं। पंचस्कंधों से अतिरिक्त देही के भीतर आत्मा (अत्त) नाम का कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। जब पंचस्कंध सम्मिलित होकर देहधारी का निर्माण करते हैं तब वे उपादानस्कंध बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक स्कंध एक निश्चित मात्रा में अन्य सब स्कंधों के साथ मिलकर देही का निर्माण करते हैं। स्कंधों का यह संघटन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की इच्छा या प्रेरणा से नहीं प्रत्युत कारण-कार्य के नियम के अनुसार होता है जैसे रथ बना हुआ है कुछ कल-पुर्जों

करने मे कर्म के प्रभाव पर बहुत जोर दिया था। मनुष्य-जीवन पर उसके कर्मो के प्रभाव की बात ब्राह्मण-मतो में भी स्वीकृत है, परतु बौद्ध लोग नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करने के कारण, कर्म-फलो के दूसरे जन्मो में सक्रमित होने के सबध मे और ही प्रकार के तर्क उपस्थित करते है।

बौद्ध लोग इस बात को नही मानते कि जो मनुष्य कर्म करता है वही उस कर्म का फल भोगता है, अथवा एक मनुष्य कर्म करता है और दूसरा मनुष्य उसका फल भोगता है (सो करोति सो पटिसवेदयति, अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसवेदयति)।[1]

बौद्ध लोग नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, इस कारण उन्हें यह मत भी स्वीकार्य नही है कि जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है, अथवा जो कर्म करता है उसके अतिरिक्त कोई दूसरा उसका फल भोगता है। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति एक निरतर प्रवाह की स्थिति में है, अर्थात् उसके पाँचो स्कध—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान—जिनसे वह बना हुआ है, प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं, इसलिए यह कहना ठीक नही हो सकता कि जो व्यक्ति कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। जिस व्यक्ति ने कर्म किया वह तो वस्तुत उस कर्म का फल होने के समय तक वही व्यक्ति रह ही नही गया—प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के कारण वह परिवर्तित हो गया—यद्यपि वह पहले से सर्वथा भिन्न व्यक्ति नही हो गया।

बौद्धो का कर्म-सिद्धात उनके क्षणिकवाद तथा कारण-परपरा के सिद्धात से सबद्ध है। उनके मत के अनुसार ससार के समस्त जीव एव अन्य पदार्थ एक निरतर प्रवाह की स्थिति में है, अत किन्ही भी दो क्षणो में वे एक ही स्थिति में नही रह सकते। एक क्षण की स्थिति के नष्ट होने पर ही दूसरे क्षण की स्थिति प्राप्त होती है, जैसे एक बीज के नष्ट होने पर ही उससे वृक्ष (अकुर) उत्पन्न होता है। बीज से उत्पन्न अकुर वह बीज नही है, परतु वह सर्वथा उससे भिन्न भी नही है, क्योकि बीज के गुण अकुर में सक्रमित हो जाते है, यद्यपि भूमि, जल, वायु इत्यादि की स्थिति के अनुसार उनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। कर्म के सबध में बौद्धो की यह युक्ति कतिपय ब्राह्मण दार्शनिको को भी मान्य हो गई होती, यदि बौद्धो ने आत्मा को शरीर से पृथक् एक अपरिवर्तनशील सत्ता के रूप में स्वीकार किया होता। परतु बौद्ध आचार्यों के मत से यदि देहधारियो में आत्मा नाम की कोई वस्तु हो भी तो वह अपरिवर्तनशील नही मानी जा सकती, क्योकि आत्मा या पुद्गल (पुग्गल) अविच्छेद्य रूप से शरीर के पच-स्कधो के साथ

१ सयुत्त० २, पृ० ७५-६।

बँधा हुआ है और उनसे पृथक् उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कर्म-सिद्धांत को समझाने के लिए बौद्ध लोग प्रायः कई प्रकार के दृष्टांत दिया करते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि एक छोटी-सी जलती हुई दियासलाई एक बृहत् अग्निराशि का कारण है, परन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि दोनों अग्नियाँ एक ही हैं अथवा दोनों एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं। इसी प्रकार एक आम की गुठली और उससे उत्पन्न वृक्ष के फल एक ही नहीं हैं।

अतः इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'सो करोति सो पटिसंवेदयति' या 'अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसंवेदयति' कहना ठीक नहीं है। ये दोनों दो अंतकोटि के मत हैं, जिन्हें बुद्ध ने त्याग कर मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया था जो उनके मत से यह है—'न च सो न च अञ्ञो' (वह न वही है न उससे भिन्न कोई अन्य है)। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है, परंतु उसके कर्म का परिणाम, जैसा कि कारण-परंपरा के सिद्धांत से सिद्ध है, तत्काल होता है, जो उसके पंचस्कंधों में विकार या परिवर्तन उपस्थित करता है। यह परिवर्तन बुरा भी हो सकता है और भला भी। जैसे, जीव-हिंसा करके मनुष्य अति घोर हिंसक भी बन सकता है और अत्यंत महान् संत भी—अंगुलिमाल ९९ मनुष्यों का वध करने के बाद संत हो गया था। एक खट्टे आम की गुठली से विशेष परिस्थितियों में मीठे आम भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव बौद्ध लोग यह नहीं मानते कि कर्म जिस प्रकार से किया जाता है उसी प्रकार से उसका फल भी प्राप्त होता है। कर्म-सिद्धांत की इस प्रकार की व्याख्या के कारण ही ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के बीच मौलिक अंतर आ गया।

(ग) अनात्मवाद (अनत्त)

बुद्ध द्वारा राहुल को दिए गए उपदेशों में तथा अनत्तलक्खण सुत्त में यह बतलाया गया है कि देही के पंचस्कंधों का अस्तित्व वास्तविक नहीं है; वे सब तत्त्वहीन हैं, मिथ्या हैं, और जब 'आयु', 'उष्मा' और 'विज्ञान' का अंत हो जाता है तब वे विघटित हो जाते हैं। पंचस्कंधों से अतिरिक्त देही के भीतर आत्मा (अत्त) नाम का कोई छठा तत्त्व नहीं है। जब पंचस्कंध संघटित होकर देहधारी का निर्माण करते हैं तब वे उपादान-स्कंध बन जाते हैं, दूसरे शब्दों में प्रत्येक स्कंध एक निश्चित मात्रा में अन्य सब स्कंधों के साथ मिलकर देही का निर्माण करते हैं। स्कंधों का यह संघटन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की इच्छा या प्रेरणा से नहीं प्रत्युत कारण-परंपरा के नियम के अनुसार होता है, जैसे वन में उगा हुआ [illegible]

और फिर फलो को जन्म देता है,[1] और यदि नव-निर्माण के लिए आवश्यक हेतु और परिस्थितियाँ विद्यमान हो तो वे ही फल धरती पर गिरकर पुन दूसरे वृक्षो को उत्पन्न करते है। इस उत्पत्ति-परपरा में आत्मा नाम की किसी वस्तु का कोई स्थान नही है, क्योंकि वन के भीतर वृक्ष की स्वाभाविक उत्पत्ति में हमें आत्मा की कोई आवश्यकता ही नही प्रतीत होती, यद्यपि पूर्ववर्ती वृक्ष के गुण उसके बीज मे उत्पन्न नवीन वृक्ष मे बराबर पाए जाते है।

निकायो में ऐसे अनेक प्रवचन है जिनमें यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि ससार में कोई ऐसा पदार्थ नही है जो अनित्य (अनिच्च) और इस कारण अनात्म (अनत्त) न हो। पचस्कध भी इस सत्य के अपवाद नही है, अत उनमें से किसी एक स्कध को, या सबको समष्टि रूप में, आत्मा समझना भ्राति है। पचस्कधो के अतिरिक्त और उनसे पृथक् भी किसी वस्तु को हम आत्मा नही कह सकते, जो 'अह' और 'मम' (मै और मेरा) की प्रतीति का आधार माना जा सके। पाली[2] में इसे इस प्रकार समझाया गया है—

अस्सुत वा पुथुज्जनो
(१) रूप (वेदन सञ्ञा सखारो विञ्ञाण वा) अत्ततो समनुपस्सति।
(२) रूपवत व अत्तान
(३) अत्तानि व रूप
(४) रूपस्मि व अत्तान समनुपस्सति।

अज्ञानी प्राकृत जन भौतिक तत्त्वो अर्थात् 'रूप' को, अथवा अन्य स्कधो[3] में से किसी एक को आत्मा समझ लेते है (यह वैसा ही है जैसे दीपशिखा और उसके रग को एक ही समझ लिया जाय),अथवा वे पच स्कधो में से किसी एक को उसी प्रकार आत्मा का उसका अग समझ लेते है जैसे छाया को वृक्ष का, अथवा वे स्कधो को आत्मा मे उसी प्रकार मानते है जैसे सुगध को पुष्प मे, अथवा उस प्रकार जैसे रत्नो को मजूषा के भीतर।

बौद्ध दर्शन में यह युक्ति उपस्थित की गई है कि यदि आत्मा और स्कध एक ही है तो आत्मा अनित्य और नाशवान् हुआ, और यदि वह स्कधो से भिन्न है तो उसी प्रकार

१ सयुत्त० ३, पृ० ५४, बीज पाँच प्रकार के है—मूल बीज, खधबीज, अग्गबीज, फलबीज और बीजबीज।

२. वही ३, पृ० १, ४२, ५५।

३ रूप के स्थान में अन्य स्कधों को रखना चाहिए।

हुआ जैसे गौओं के साथ गोपाल । अतः न यही कहा जा सकता है कि आत्मा और स्कंध एक है और न यही कि दोनों भिन्न हैं । यह एकता और भिन्नता पाली में इस प्रकार व्यक्त की गई है—

न जीव त सरीर, अञ्ञ जीव अञ्ञ सरीर ।[1]

बुद्ध ने इन दोनों को अनवधारणीय (अव्याकृत) कहा है ।

इसिपत्तन (बनारस) में पांचों ब्राह्मणों के लिए बुद्ध द्वारा किए गए द्वितीय प्रवचन का विषय भी आत्मा का अनस्तित्व है । बुद्ध ने उन्हें बतलाया था कि यदि आत्मा समष्टि रूप में या पृथक्-पृथक् पंचस्कंधों से अभिन्न है तो उसे स्कंधों को यह आज्ञा देने में समर्थ होना चाहिए कि वे कभी रोगग्रस्त न हों, अथवा वे उसकी इच्छा के अनुसार अमुक-अमुक प्रकार से रहें । परन्तु यह सुविदित है कि स्कंध अनित्य हैं और जो वस्तु अनित्य है वह निश्चय ही दुःख के अधीन है । अतः स्कंधों को आत्मा मानना तर्कसंगत किसी प्रकार नहीं । स्कंध चाहे वे अतीत जीवन के हों अथवा वर्तमान या भावी जीवन के, आत्मा नहीं हो सकते । जिन्हें इस सत्य का ज्ञान हो जाता है वे स्कंधों से राग या आसक्ति नहीं रखते,[2] और इस विराग के परिणामस्वरूप वे मुक्त हो जाते हैं, उनका फिर जन्म नहीं होता । इस उपदेश से पांचों ब्राह्मण आनन्दित हुए और वे अर्हत् हो गए ।[3]

श्रावस्ती के निकट उक्कट्ठ में बुद्ध द्वारा दिए गए मज्झिम निकाय के प्रथम प्रवचन 'मूलपरियाय सुत्त' में आत्मा के अनस्तित्व को उनके उपदेशों का मूल आधार बतलाया गया है । इस सुत्त में वे कहते हैं कि मनुष्य को सांसारिक पदार्थों के साथ अपना किसी प्रकार का संबंध स्थापित नहीं करना चाहिए । केवल अज्ञानी मनुष्य ही पृथ्वी, अप्, तेज, वायु आदि तत्त्वों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और यह समझते हैं कि ये हमारे हैं, या इनमें से कोई वस्तु निर्गत हुई है, अथवा इनमें कोई वस्तु प्रविष्ट हुई है । इसी प्रकार वे छोटे से बड़े तक समस्त जीवों तथा अपने द्वारा देखे, सुने, जाने या सोचे गए पदार्थों

१ संयुत्त० २, पृ० ६१ ।

२ तुल० संयुत्त० ३, पृ० ३८—रूपं भिक्खवे, न तुम्हाकं तं पजहथ · वेदना ·· सञ्ञा · संखारा · विञ्ञाणं भिक्खवे न तुम्हाकं तं पजहथ । तं वो पहीनं हिताय सुखाय भविस्सति ।

३ विनय १, पृ० १३-१४, संयुत्त० ३, पृ० ६६-८ ।

की भी सत्ता मे विश्वास करते है, यहाँ तक कि निर्वाण को भी कोई वाहर से प्राप्त होनेवाली स्थिति मानते है। और इन सबके साथ वे अपना एक सबंध स्थापित कर लेते हैं। वे यह नही जानते कि यथार्थ में न स्वयं उनकी कोई सत्ता है और न उन पदार्थों की जिनके साथ वे अपना सबंध स्थापित करते हैं। वे अज्ञानवश निर्वाण को वाहर से प्राप्य वस्तु समझते हैं परंतु वास्तविक निर्वाण कोई प्राप्य वस्तु वा स्थिति नही है, न वह कोई स्वर्गीय पद वा उससे भी बढकर कोई वस्तु है, वह तो वस्तुत अपने भीतर ही अनुभव करने की वस्तु है। इस कारण बुद्ध ने अपने शिष्यो को उपदेश किया कि वे आत्मा तथा सासारिक पदार्थों की सत्ता के सबंध में अपनी धारणाएँ निर्मूल कर दें।

उपर्युक्त उपदेश का बुद्ध ने 'छब्बिसोधन सुत्त'[1] में और अधिक विस्तार किया है। इस सुत्त में उन्होने कहा है कि सिद्ध भिक्षु अपने द्वारा देखे, सुने, जाने वा सोचे हुए[2] पदार्थों की धारणा से अपने मन को मुक्त कर लेता है और उसके फलस्वरूप उसके दोष (आसव) नष्ट हो जाते हैं और उसे मानसिक मुक्ति प्राप्त हो जाती है। वह जीव के पचस्कधो (पच उपादानखन्धा), वा ज्ञानेंद्रियो और उनके विषयो, अथवा पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान—इन छ तत्त्वो की सत्ता की कल्पना नही करता। वह जानता है कि तत्त्व अनात्म (अनत्त), अर्थात् असत् है और इसलिए वह उनके प्रति अपने मन मे राग नही आने देता, जिससे उसका मन मुक्त हो जाता है।

बौद्धेतर मत आत्मा में कुछ गुणो वा उसके स्वभाव की कल्पना करते है, जैसे वे मानते है कि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और अपरिवर्तनशील है। और भी वे कहते है कि आत्मा कर्मों का कर्ता नही, पर उनके फलो का भोक्ता है। वह निर्गुण और निष्क्रिय है। वह अपरिवर्तनशील है, परंतु फिर भी सासारिक विषयो (प्रकृति) से सयोग हो जाने पर उसमें कुछ विशेषता आ जाती है। बौद्धो का इसपर कथन है कि अपरिवर्तनशील वा अविकारी सत्ता का परिवर्तनशील सत्ता के साथ सयोग किसी भी परिस्थिति मे नही हो सकता, न अपरिवर्तनशील आत्मा परिवर्तनशील प्रकृति का भोक्ता ही हो सकता है। जो नित्य एव अपरिवर्तनशील है उसे सदा वैसा ही वने रहना चाहिए और परिवर्तनशील वस्तु के साथ उसका कभी सयोग नही होना चाहिए। बौद्धो के मत मे आत्मा केवल एक धारणा है जो 'मैं' और 'मेरा' की प्रतीति का आधार है, उसका कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है। उनका कथन है कि 'एकता' से भिन्न

१. मज्झिम० ३, पृ० २९।
२ तुल० सयुत्त० ४, पृ० ७३।

अन्य किसी भी प्रकार की सत्ता में कुछ तात्त्विक विशेषताएँ होनी चाहिएँ, परन्तु अ-बौद्ध लोग ऐसा नहीं मानते। किसी प्रकार से स्कन्धों का विश्लेषण किया जाय, उससे आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण के कारण प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है उसी प्रकार स्कन्धों के कारण अहंता (मैं-पन) या आत्मा (अत्ता) की धारणा उत्पन्न होती है। जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार स्कन्धों के संयोग बिना अहंता की प्रतीति नहीं हो सकती।[1]

कमलपुष्प में से सुगंध निकलती है, परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि सुगंध उसके दलों में, या रंग में, या किंजल्क[2] में है, अथवा वह कमल से अलग उससे बाहर कहीं है? इसी प्रकार पंचस्कन्धों में अहंता (मैं-पन) की प्रतीति होती है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अहंता उन पंचस्कन्धों में से किसी एक में या उन सबमें है अथवा उनके बाहर है। आत्मा बाँसुरी में से निकली हुई ध्वनि के समान है।[3]

(घ) मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व

आत्मा की सत्ता के प्रश्न से ही सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न यह है कि परिनिर्वाण के पश्चात् मुक्त व्यक्ति अर्थात् अर्हत्, बुद्ध या तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं?[4] इस प्रश्न पर विचार करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन बौद्ध धर्म के अनुसार अर्हत् और बुद्ध में क्या अंतर है। संयुत्त निकाय में यह बताया गया है कि सम्मा सम्बुद्ध ही निर्वाण-पथ के सर्वप्रथम आविष्कर्ता, प्रतिपादक तथा उपदेष्टा हैं, उनसे पहले यह अज्ञात था। सम्मा सम्बुद्ध ही बौद्ध धर्म के सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं। उनके शिष्य उनसे धर्म का उपदेश सुनकर क्रमशः उसमें पूर्णता प्राप्त करते हैं। पहले वे 'सोतापन्न' अवस्था को प्राप्त होते हैं, जिसमें उनका आत्मा के अस्तित्व (सक्काय दिट्ठि) तथा व्रत-स्नान आदि के फलों (सीलब्बत परामास) में विश्वास नष्ट हो जाता है, त्रिरत्न की श्रेष्ठता के प्रति सन्देह या अनास्था (विचिकिच्छा) दूर हो जाती है

१ दीघ १, पृ० २२२—लोक समञ्ञा लोकनिरुत्तियो लोकवोहारा लोकपञ्ञत्तियो; संयुत्त० ४, पृ० ५४—सुञ्ञो लोको अत्तेन।

२. संयुत्त० ३, पृ० १३०—घोषितराम (कौशाम्बी) में भिक्षु क्षेमक को दिए गए उपदेश से।

३. संयुत्त० ४, पृ० १९७।

४. वही ३, पृ० ९९।

और सत्य का किंचित् ज्ञान प्राप्त हो जाता है। फिर जब उनमे राग, द्वेष और मोह की मात्रा बहुत घट जाती है तब वे 'सकदागामी' अवस्था को प्राप्त होते है। उसी अवस्था मे यदि उनकी मृत्यु हो जाय तो अतिम मुक्ति वा निर्वाण प्राप्त करने के लिए उन्हें इस मर्त्यलोक मे केवल एक बार और जन्म लेना पडता है। जब उनका राग, द्वेष और मोह पूर्ण रूप मे नष्ट हो जाता है तब वे तीसरी अर्थात् 'अनागामी' अवस्था में पहुँच जाते है। इस अवस्था में मृत्यु हो जाने पर उनका फिर इस मर्त्यलोक मे जन्म नही होता, वे स्वर्ग मे जन्म लेते और वही निर्वाण प्राप्त करते है। अर्हत् की अतिम अवस्था में पहुँचने पर उनकी दृष्टि निर्मल हो जाती है, उन्हे सत्य का ज्ञान हो जाता है और उनके मन के सभी विकार तथा वासनाएँ नष्ट हो जाती है। वे भिक्षु के रूप मे अपने सभी कर्तव्यो का पालन करते है और उनका फिर से जन्म नही होता। इस अवस्था मे साधक ज्ञान के द्वारा बुद्ध के समान ही मुक्त (पञ्ञाविमुत्त) रहते है।[1] अर्हत् और बुद्ध दोनो ही अपने को पचस्कधो—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान—से पूर्ण रूप से मुक्त कर लेते है। दूसरे शब्दो में निर्वाण की अवस्था में अर्हत् और बुद्ध में कोई अतर नही रहता।

उपर्युक्त प्रसग मे 'बुद्ध' के बदले 'तथागत' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का एक विशेष तात्पर्य है। पाली अट्ठकथा मे इसका निरुक्तार्थ इस प्रकार दिया गया है कि जो पूर्ववर्ती बुद्धो की ही रीति से (तथा) आता है (आगत) और जाता है (गत) वह 'तथागत' है। बौद्ध लोग यह मानते है कि सत्य सदा एक ही रहता है और सभी बुद्ध सदा एक ही प्रकार से उस एक ही सत्य का आविष्कार एव उपदेश करते है, अत उस सत्य के आविष्कर्ता को 'तथागत' कहते है। पाली ग्रथो मे कारण-परपरा के नियम को, जिसे 'इदपच्चयता' कहते है, इस दृश्य विश्व के स्वरूप की व्याख्या करनेवाला व्यापक एव नित्य सत्य माना गया है, और इस कारण उसे 'धम्मट्ठितता' और 'धम्म-नियमता' (गोचर पदार्थो का अस्तित्व तथा उन्हे नियत्रित करनेवाला शाश्वत नियम) भी कहा गया है। अत जो इस नियम का आविष्कार एव उपदेश करता है वह 'तथा-

१ आस्रव-क्षीणता की चार अवस्थाओ के कई उपभेद भी किए गए है। 'धम्मानुसारि' तथा 'सद्धानुसारि' अवस्थाएँ सोतापन्न के पहले होती है (सयुत्त ५, २००)। अतर परिनिब्बायि, उपहच्च परिनिब्बायि, असखारा परिनिब्बायि और ससखारा परिनिब्बायि—ये चारो अनागामी के भेद है (सयुत्त० ५, २०१)। उद्धसोतो, एकबीजी कोलकोलो, सत्तक्खत्त परमो (सयुत्त० ५, २०५)।

गत' है।[1] 'तथानि' शब्द का प्रयोग 'सच्चानि' के पर्याय के रूप में किया गया है, क्योंकि चारों आर्य सत्य (अरिय सच्चानि)[2] कभी मिथ्या (अवितथ) या अन्यथा (अनञ्ञतथ) नहीं होते। अतः जो चार आर्य सत्यों का आविष्कार एवं उपदेश करता है वह 'तथागत' है। भगवान् को 'ञाणभूत', 'ब्रह्मभूत' एवं 'धम्मभूत' कहा गया है। तथा उन्हें निर्वाणमार्ग का आविष्कर्ता एवं अमृतत्त्व प्रदान करनेवाला बतलाया गया है, इस कारण भी उन्हें 'तथागत' या धर्मेश्वर कहते हैं।[3] तथागत को समुद्र के समान गंभीर और अगाध भी कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि तथागत विश्वव्यापक सामान्य सत्य के ही रूप हैं।[4]

'तथागत' की उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि 'तथागत' शब्द का अर्थ 'बुद्ध' या 'अर्हत्' से कहीं गंभीर है और उसका एक दार्शनिक अभिप्राय भी है। इस जिज्ञासा के द्वारा कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं, अप्रत्यक्ष रूप से वेदान्तियों के ब्रह्म को दृष्टि में रखते हुए बौद्ध-धर्मोक्त 'निर्वाण' को भी समझने का प्रयत्न किया गया है। बौद्ध धर्म की सभी संहिताओं में इस समस्या को चार प्रकार से उपस्थित किया गया है।

(१) होति तथागतो परं मरणा ति वा,

(२) न होति तथागतो परं मरणा ति वा,

(३) होति च न च होति तथागतो परं मरणा ति वा,

(४) नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा ति वा।

इन चार प्रकार से प्रस्तुत यह समस्या अप्रत्यक्ष रूप से आत्मा के ही अस्तित्व के प्रश्न को हमारे सामने उपस्थित करती है। यहाँ जिस आत्मा से तात्पर्य है वह मुक्त पुरुष का—अर्हत्, बुद्ध या तथागत का—आत्मा है। अतः बौद्ध लोग अनात्म (अनत्त) का अर्थात् एक नित्य सत्ता के रूप में आत्मा के अनस्तित्व का सिद्धान्त मानते हैं, इसलिए इस प्रश्न पर विचार करना व्यर्थ है। यही कारण है कि बुद्ध ने इसे अनिर्णेय घोषित किया। इस प्रश्न में कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं, 'तथागत' से अभिप्राय समस्त जीवों से युक्त पञ्चस्कन्धात्मक आत्मा से है। इस प्रश्न

१. संयुत्त० ३, पृ० २५।
२. वही ५, पृ० ४३०, ४३५।
३. वही ४, पृ० ९५, मज्झिम० ३, पृ० १९५।
४. संयुत्त० ४, पृ० ३७।

पर विचार करते हुए बौद्ध ग्रथो मे वे ही युक्तियाँ काम में लाई गई है जिनका प्रयोग आत्मा के अस्तित्व पर विचार करते समय किया गया है। अर्थात् पहले इन प्रश्नो पर विचार किया गया है—क्या तथागत पचस्कध है ? अथवा वे पचस्कधो से भिन्न हैं ? अथवा तथागत पचस्कधो में हैं ? अथवा पचस्कध तथागत मे हैं ? अथवा पचस्कध तथागत के है ? यत इनमें से कोई भी कथन सत्य नही है, अतएव तथागत का अस्तित्व यथार्थ नही हो सकता। यदि तथागत पृथक्-पृथक् वा समष्टि रूप में पचस्कधो से अभिन्न हैं तो उन्हें जन्म और मरण के अधीन मानना पडेगा। परतु तथागत वा शुद्ध आत्मा अनादि और अनश्वर है, अत स्कधो से तथागत का एकत्व स्थापित नही किया जा सकता। दूसरा तर्क यह है कि यदि तथागत पृथक्-पृथक् वा समष्टि रूप मे स्कधो से भिन्न हैं, तो उन्हें स्कधो से पृथक् और स्वतत्र मानना पडेगा, परतु यह स्वीकार्य नही है क्योकि अग्नि को काष्ठ से अलग नही किया जा सकता। यदि अग्नि को काष्ठ से अलग और स्वतत्र किया जा सकता तो अग्नि उत्पन्न करने की आवश्यकता ही न होती। उसी प्रकार यदि तथागत को स्कधो से अलग और स्वतत्र माना जाय तो तथागत बनने के लिए श्रम करने की कोई आवश्यकता न होगी।

यदि तथागत स्कधो से भिन्न नही है, तो अन्य तीनो प्रश्न उठाए ही नही जा सकते, क्योकि उनमे स्कधो से तथागत की भिन्नता पहले ही से मान ली गई है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि तथागत न स्कधो से भिन्न हैं और न अभिन्न, और इसलिए तथागत, जो कि साधारणत एक सत की सर्वोच्च एव पूर्ण अवस्था का बोधक माना जाता है, अस्तित्वहीन है।

और, यदि तथागत को दर्पण मे प्रतिबिंब की भाँति शुद्ध स्कधो का रूप माना जाय तो उनकी सत्ता स्कधो पर आश्रित माननी पडेगी, और जिन पदार्थों की उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थ के अधीन है वे बौद्ध धर्म के अनुसार असत् (नि स्वभाव) है। इस प्रकार भी तथागत का अस्तित्व असिद्ध है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्कधो की उत्पत्ति कारणो और परिस्थितियो के अधीन है, अत वे भी असत् है। इन सब कारणो से परिनिर्वाण के पश्चात् तथागत के अस्तित्व वा अनस्तित्व के प्रश्न को अनिर्णीत (अव्याकत) ही छोड देना चाहिए।

महाकस्सप और सारिपुत्त जब इसिपत्तन (वाराणसी) मे थे तो उन्होने इस विषय की चर्चा उठाई थी। उन्होने कहा था कि गुरु (बुद्ध) की आज्ञा है कि हम इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड दें, क्योकि इस विषय पर तर्क-वितर्क करने से निर्वाण का लक्ष्य

प्राप्त नहीं होगा ।[1] सारिपुत्त जब श्रावस्ती में थे तो यमक भिक्खु ने उनसे पूछा कि क्या यह सत्य है कि जो भिक्खु सब दोषों से मुक्त (खीणासवो) हो जाता है उसका मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व नहीं रहता (न होति परं मरणा) ? तब सारिपुत्त ने उत्तर दिया कि यह सर्वथा भ्रांत विचार है और इसे त्याग देना चाहिए। उन्होंने कहा कि यह सत्य है कि पंचस्कंध अनित्य है, परन्तु तथागत न तो स्कंध है और न स्कंध रहित है (अरूप अवेदनो असञ्ञी, असंखारो, अविञ्ञाणो)। अतएव तथागत का अस्तित्व इस संसार में उपलब्ध नहीं है (दिट्ठेव धम्मे सच्चतो थेततो तथागतो अनुपलब्भियमानो)। जो लोग स्कंधों के यथार्थ स्वरूप को उनकी अनित्यता एवं अस्तित्व की अवास्तविकता को नहीं जानते वे उन्हीं में आसक्त रहते हैं और भ्रमवश तथागत को सत् अथवा असत् समझते हैं। 'चूळसुञ्ञतासुत्त'[2] में एक स्थल पर सिद्ध या पूर्ण पुरुष की परमावस्था के संबंध में संकेत किया गया मिलता है। बुद्ध जब श्रावस्ती में निवास करते थे उन्हीं दिनों एक बार आनंद ने उनसे प्रश्न किया कि क्या वे अपना समय शून्यता (सुञ्ञता-विहार) में व्यतीत करते हैं ? बुद्ध ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि 'मैंने पहले भी 'सुञ्ञताविहार' (किसी वस्तु का अभाव) में अपना समय व्यतीत किया, और अब भी कर रहा हूँ। जब मैं मिगारमातुपासाद में रहता था तो इस अर्थ में शून्यता-विहार करता था कि वह विहार हाथी-घोड़ा-गाय-सोना-चाँदी तथा स्त्रियों एवं पुरुषों से शून्य (सुञ्ञ) था, परन्तु वह भिक्षुओं एवं उनके सामान्य गुणों की भावना से शून्य नहीं था। ऐसे ही, जब मैं वन में निवास करता था उस समय ग्राम तथा उसके मनुष्यों की भावना से शून्य था, परन्तु अपनी सभी विशेषताओं से युक्त उस वन के अस्तित्व की भावना से शून्य नहीं (असुञ्ञ) था। इसी प्रकार से जब व्यक्ति पृथ्वी का एक वस्तु के रूप में, उसपर की नदियों, पर्वतों आदि का पृथक् चिंतन न करते हुए, ध्यान करता है तो वह वनों, पर्वतों, नदियों और मनुष्यों की भावना से शून्य रहता है परन्तु वह पृथ्वी की एकता की भावना से शून्य नहीं रहता। जब उसका ध्यान की पंचम भूमिका (समापत्ति)[3] में उत्थान होता है, जिसमें वह अपने मन को अनंत आकाश (अनन्ता-काश) पर केंद्रित करता है, तब वह पृथ्वी या अन्य किसी वस्तु की भावना से शून्य हो जाता है परन्तु वह आकाश की एकता की भावना से शून्य नहीं होता—ऐसा ही

१ संयुत्त० २, पृ० २२३।
२. मज्झिम० ३, पृ० १०९।
३ संयुत्त० ३, पृ० ११४, ४, पृ० ३८६।

अशून्य (असुञ्ञ = सत् वा भाव रूप पदार्थ) के रूप मे उसके ध्यान मे रह जाता है। फिर जब वह ध्यान (समापत्ति) की षष्ठ भूमिका में पहुँचता और अपने मन को अनत विज्ञान (अनत विञ्ञान) पर केंद्रित करता है तब उस अनत विज्ञान की एकता की भावना को छोडकर उसके मन मे किसी भी पदार्थ की भावना शेष नही रह जाती। ध्यान की सप्तम भूमिका मे वह इच्छारहित आकाश (आकिंचञ्ञायतन)[1] मे ध्यान लगाता है, और उस समय उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की भावना उसके मन मे नही रह जाती। ध्यान की अष्टम भूमिका मे वह न-चेतन-न-अचेतन अवस्था (नेवसञ्ञानासञ्ञायतन) का ध्यान करता है और उसको छोडकर अन्य कोई भावना उसके मन में नही रह जाती। उसका मन उस भूमिका पर पहुँच जाता है जिसमे उसे किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भी गुणो का ध्यान नही रह जाता (अनिमित्त-चेतोसमाधि)। इस अवस्था में उसे अनुभव होता है कि यह भावना भी, जो उसके मन मे अवशिष्ट रह गई है, अनित्य (अनिच्च) है। तब वह अपने मन को तीन प्रकार के विकारो (आसवो)—किसी वस्तु को पाने की इच्छा (काम), पुनर्जन्म की इच्छा (भव) और अज्ञान वा अविद्या (अविज्जा)—से मुक्त कर लेता है। परतु यह भावना कि 'यह छ इद्रियो से युक्त मेरा शरीर है', उसके मन मे उसके जीवन के अत तक बनी रहती है, अर्थात् वह प्रत्येक वस्तु की भावना से शून्य हो जाता है, परतु अपने शरीर की भावना से शून्य नही होता। यह शून्यता अथवा 'सुञ्ञता' की सर्वोच्च अवस्था है, जिसमें ससार की छोटी से छोटी से लेकर बडी से बडी तक सभी वस्तुओ के अस्तित्व की भावना का लोप हो जाता है।'

उपर्युक्त प्रवचन से यह स्पष्ट है कि मृत्यु के पश्चात् ध्याता के, चाहे वह अर्हत् हो अथवा तथागत, मन से अपने शरीर के अस्तित्व की भावना का अतिम चिह्न भी मिट जाता है और वह पूर्ण रूप से शून्यता (सुञ्ञता) मे स्थित हो जाता है। पचस्कधो के अतिम चिह्न के विलोप का एक मूर्तिमान् उदाहरण वक्कालि के परिनिर्वाण के वर्णन में पाया जाता है। जब उसका शव जलाया जा रहा था और चिता से धुआँ आकाश में उठ रहा था उस समय बुद्ध ने कहा कि मार विज्ञान (विञ्ञाण, पचम स्कध) की ताक मे है, परतु बेचारा उसे पा नही सकता, क्योकि वक्कालि ने पूर्णता प्राप्त कर ली थी और अब इस ससार में उसके विज्ञान का आधार नष्ट (अपतिट्ठित) हो गया है।[2]

१. किचन = राग, दोस, मोह, दे० सयुत्त० ४, पृ० २९७।

२ जब तक विज्ञान अप्रतिष्ठित नहीं होता तब तक उसका पुन जन्म लेना निश्चित रहता है (सयुत्त० २, पृ० ६६, १०१)।

सावत्थी में रहते समय बुद्ध ने इस बात को और अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि पांचों स्कन्ध अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक अनुवर्ती स्कन्ध अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध पर आश्रित होता है, अर्थात् वेदना रूप पर, संज्ञा वेदना पर, संस्कार संज्ञा पर तथा विज्ञान संस्कार पर आश्रित है। जब कोई मनुष्य 'रूप' (भौतिक तत्त्वों) के प्रति राग-रहित हो जाता है तब अन्य स्कन्धों का आधार या प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है और अन्त में 'विज्ञान' अप्रतिष्ठित (अपतिट्ठित) हो जाता है।[1] तब वह विज्ञान मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, दूसरे शब्दों में वह अकल्पनीय शून्यता (सुञ्ञता) में विलीन हो जाता है।

तथागत या अर्हत् परिनिर्वाण के अनन्तर पंचस्कन्धों से शून्य हो जाता है और उसका विज्ञान (विञ्ञाण) 'अपतिट्ठित' हो जाने के कारण अस्तित्वहीन हो जाता है। वह अनन्त शून्यता में विलीन हो जाता है और उसका अस्तित्व उसी प्रकार वहां पृथक् रूप से पहचाना नहीं जा सकता जिस प्रकार गंगा नदी का जल समुद्र में मिल जाने पर उससे एकाकार होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठता है।

बौद्ध लोग मनुष्य की देह में पंचस्कन्धों से भिन्न किसी अन्य पदार्थ की नित्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते और इस कारण जब कोई मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर तथागत पद को प्राप्त कर लेता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक स्थायी या नित्य सत्ता थी, जो अब बंधन-मुक्त हो गई और निर्वाण में उसका अस्तित्व बना हुआ है तथा सदैव उसी प्रकार बना रहेगा। निर्वाण में किसी भी वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं है यह शाश्वत सत्य है, अतः उसमें तथागत का पता लगाने अथवा उसके पृथक् अस्तित्व को ढूंढने का कोई प्रश्न ही नहीं है। निर्वाण की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती, उसके स्वरूप की ऊंचाई या गहराई का पता नहीं लगाया जा सकता।[2]

(ट) निर्वाण

ऊपर जिस निर्वाण अथवा मृत्यु के पश्चात् तथागत की स्थिति की चर्चा की गई है उसके विषय में बुद्ध ने आमतौर पर निश्चित रूप से कहीं कुछ नहीं कहा है। उनके द्वारा आविष्कृत निर्वाण रूप सत्य के विषय में उनका प्रमुख कथन यह है कि 'यह गंभीर, दुर्बोध्य, शान्त, उत्तम एवं तर्कातीत है, यह केवल ज्ञानियों द्वारा अपने भीतर अनुभव करने की वस्तु है।' निर्वाण की उत्पत्ति और उसका नाश नहीं होता, वह जन्म-मरण से परे है।

१ संयुत्त० १, पृ० १२२, ३, पृ० १२४।
२. संयुत्त० ३, पृ० १०९; अरियपरियेसन सुत्तन्त (मज्झिम० १, ३०४)।

अशून्य (असुञ्ञ = सत् वा भाव रूप पदार्थ) के रूप मे उसके ध्यान मे रह जाता है। फिर जब वह ध्यान (समापत्ति) की षष्ठ भूमिका मे पहुँचता और अपने मन को अनत विज्ञान (अनत विञ्ञान) पर केंद्रित करता है तब उस अनत विज्ञान की एकता की भावना को छोडकर उसके मन में किसी भी पदार्थ की भावना शेप नही रह जाती। ध्यान की सप्तम भूमिका मे वह इच्छारहित आकाश (अकिचञ्ञायतन)[1] में ध्यान लगाता है, और उस समय उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की भावना उसके मन में नहीं रह जाती। ध्यान की अष्टम भूमिका मे वह न-चेतन-न-अचेतन अवस्था (नेवसञ्ञानासञ्ञायतन) का ध्यान करता है और उसको छोडकर अन्य कोई भावना उसके मन मे नही रह जाती। उसका मन उस भूमिका पर पहुँच जाता है जिसमे उसे किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भी गुणो का ध्यान नही रह जाता (अनिमित्त-चेतोसमाधि)। इस अवस्था मे उसे अनुभव होता है कि यह भावना भी, जो उसके मन मे अवशिष्ट रह गई है, अनित्य (अनिच्च) है। तब वह अपने मन को तीन प्रकार के विकारो (आसवो)—किसी वस्तु को पाने की इच्छा (काम), पुनर्जन्म की इच्छा (भव) और अज्ञान वा अविद्या (अविज्जा)—से मुक्त कर लेता है। परतु यह भावना कि 'यह छ इद्रियो से युक्त मेरा शरीर है', उसके मन में उसके जीवन के अत तक बनी रहती है, अर्थात् वह प्रत्येक वस्तु की भावना से शून्य हो जाता है, परतु अपने शरीर की भावना से शून्य नहीं होता। यह शून्यता अथवा 'सुञ्ञता' की सर्वोच्च अवस्था है, जिसमे ससार की छोटी से छोटी से लेकर बडी से बडी तक सभी वस्तुओ के अस्तित्व की भावना का लोप हो जाता है।'

उपर्युक्त प्रवचन से यह स्पष्ट है कि मृत्यु के पश्चात् ध्याता के, चाहे वह अर्हत् हो अथवा तथागत, मन से अपने शरीर के अस्तित्व की भावना का अतिम चिह्न भी मिट जाता है और वह पूर्ण रूप से शून्यता (सुञ्ञता) मे स्थित हो जाता है। पचस्कधो के अतिम चिह्न के विलोप का एक मूर्तिमान् उदाहरण वक्कालि के परिनिर्वाण के वर्णन में पाया जाता है। जब उसका शव जलाया जा रहा था और चिता से धुआँ आकाश मे उठ रहा था उस समय बुद्ध ने कहा कि मार विज्ञान (विञ्ञाण, पचम स्कध) की ताक मे है, परन्तु बेचारा उसे पा नही सकता, क्योकि वक्कालि ने पूर्णता प्राप्त कर ली थी और अब उस ससार में उसके विज्ञान का आधार नष्ट (अपतिट्ठित) हो गया है।[2]

१. किञ्चन = राग, दोस, मोह, दे० सयुत्त० ४, पृ० २९७।

२ जब तक विज्ञान अप्रतिष्ठित नहीं होता तब तक उसका पुन जन्म लेना निश्चित रहता है (सयुत्त० २, पृ० ६६, १०१)।

में उतरे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निर्वाण केवल ध्यान के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, चाहे वह ध्यान कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, न वह अन्य किसी प्रकार की साधना या श्रम से ही प्राप्त हो सकता, यद्यपि ऐसी साधना मन को सत्य के साक्षात्कार के योग्य बनाने के लिए आवश्यक होती है। बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधना और ध्यान के विविध रूपों का विस्तार के साथ वर्णन किया है, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परन्तु अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में उनके द्वारा दिए समस्त उपदेशों का मूल तत्त्व, जिसपर उन्होंने बारबार जोर दिया है, यही है कि मनुष्य को व्यक्तित्व अथवा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अपनी धारणा का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि केवल अनात्म (अनत्त) का अनुभव ही उसे सत्य का ज्ञान कराने में समर्थ हो सकता है। सम्पूर्ण निकायों में बुद्ध ने बारम्बार इस विषय को दोहराया है और यह उनके उपदेशों का मूल आधार (मूल परियाय) है। वस्तुतः अविद्या (अविज्जा) से उनका तात्पर्य 'अहंता' एवं 'ममत्व' (मैं-पन, मेरा-पन) से था और इसी धारणा को दूर करने के लिए उन्होंने चार आर्य सत्यों—दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग—तथा प्रतीत्यसमुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) के नियम का आविष्कार किया। इन सत्यों के द्वारा उन्होंने अपने शिष्यों को इस प्रकार शिक्षित करने का प्रयत्न किया जिससे वे व्यक्तित्व की भावना से ऊपर उठ जायें और वे सांसारिक पदार्थों से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक न हों। यह सम्बन्ध, जिसे उन्होंने 'काम' कहा है, केवल धन-सम्पत्ति, स्त्री, सम्बन्धियों अथवा चीवर, भिक्षापात्र आदि वस्तुओं तक ही सीमित नहीं, अपितु यह आध्यात्मिक सिद्धियों अर्थात् अभिज्ञा (अभिञ्ञा), ध्यान, समापत्ति आदि तक भी विस्तृत हो सकता है। बुद्ध ने जोर देकर कहा है कि साधक को स्वयं अपने या अपने द्वारा देखी, सुनी, सोची या जानी हुई (दिट्ठ, सुत, मुत, विञ्ञात)[1] बातों से सम्बद्ध नहीं होना चाहिए, न उसे सांसारिक पदार्थों की तृष्णा (तण्हा), लिप्सा (गानक) या वासना (छन्द) जैसी अन्य सूक्ष्म बातों से ही कोई प्रीति रखनी चाहिए। उसे कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं सब जीवों के प्रति मैत्री (मेत्ता) एवं करुणा का भाव रखता हूँ, क्योंकि इससे दो भिन्न सत्ताओं की भावना मन में आती है—एक उस व्यक्ति की जो दूसरों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव रखता है और दूसरी उस व्यक्ति की जिसके प्रति मैत्री और करुणा का भाव रखा

१ मज्झिम० ३, पृ० ३०—दिट्ठे सुते मुते विञ्ञाते अनुपयो अनपायो अनिस्सितो अप्पटिबद्धो विप्पमुत्तो, इच्चादि; तु० मज्झिम० १, पृ० २; सुत्तनिपात पृ० १७८।

निर्वाण कोई प्राप्य पदार्थ वा अवस्था नही है। वह सदा विद्यमान रहता है, अष्टाग मार्ग अथवा सैंतीस बोधिपक्खीय धम्मो के द्वारा उत्पन्न नही किया जाता। वह साधक के हृदय मे एक ज्योति की भाँति उद्भासित होता है, उसको प्राप्त करने का सपूर्ण प्रयत्न व्यर्थ है। जो साधक ध्यान की उच्चतम भूमिका में पहुँच जाता है, जिसमें न चेतनता रहती है और न अचेतनता (नेव सञ्ञानासञ्ञायतन), यहाँ तक कि जिसमें वह नितात चेतनाशून्य होकर (सञ्ञावेदयित निरोध) मरण की-सी अवस्था मे हो जाता है, उसके सबध में यह निश्चित नही है कि उसे निर्वाण प्राप्त ही हो जायगा, यदि वह अपनी इस भावना का त्याग न कर दे कि मैंने ध्यान के द्वारा अपने मानस को पूर्ण रूप से शुद्ध कर लिया है। वह तब तक 'सम्मानिब्बानाधिमुत्तो' नही कहा जा सकता जब तक वह अपने मन को 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' अथवा 'सञ्ञावेदयित निरोध' के बधन से मुक्त नही कर लेता।[1]

बुद्ध ने आनद को बतलाया था कि यदि कोई भिक्षु यह सोचता है कि मैंने अतीत, वर्तमान एव भविष्य जन्मो के विषय में अपनी सपूर्ण धारणाओ को त्याग दिया है और इस प्रकार मैं मानसिक साम्य की स्थिति प्राप्त कर शात आनद का अनुभव करता हूँ, तो वह वस्तुत रागमुक्त (अनुपादानो) नही हुआ, क्योकि अब भी उसके मन मे 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' रूप एक प्रबल उपादान का अस्तित्व बना हुआ है। उपादान रहित (अनुपादानो) होने के लिए आवश्यक है कि वह अपने शाति-लाभ के सबध मे भी कोई भावना अपने मन मे न आने दे।[2] यदि वह इस भावना का त्याग नही करता तो 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' लोक मे उसका देव-योनि में पुन जन्म होगा और वही उसे बहुत समय तक रहना पडेगा। इस प्रकार श्रद्धा, शीलपालन, स्वाध्याय, त्याग तथा ज्ञान के द्वारा भिक्षु अपने मानस दोषो (आसवो) को नष्ट करके मानसिक और बौद्धिक मुक्ति प्राप्त करता है और उसे सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। फिर किसी भी लोक में उसका पुनर्जन्म नही होता।[3]

यह ध्यान देने की बात है कि परिनिर्वाण के ठीक पहले बुद्ध ध्यानस्थ हुए और ध्यान की अष्टम भूमिका (अष्टम समापत्ति—नेवसञ्ञानासञ्ञा) मे पहुँच गए परन्तु परिनिर्वाण प्राप्त करने के लिए वे पुन चतुर्थ 'झाण' (ध्यान की चतुर्थ भूमिका)

१. मज्झिम० २, पृ० २५६।
२. वही, पृ० २६५।
३ वही ३, पृ० १०३।

में उतरे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निर्वाण केवल ध्यान के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, चाहे वह ध्यान कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो; न वह अन्य किसी प्रकार की साधना या श्रम से ही प्राप्त हो सकता, यद्यपि ऐसी साधना मन को सत्य के साक्षात्कार के योग्य बनाने के लिए आवश्यक होती है। बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधना और ध्यान के विविध रूपों का विस्तार के साथ वर्णन किया है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परन्तु अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के संबंध में उनके द्वारा दिए समस्त उपदेशों का मूल तत्त्व, जिसपर उन्होंने बारबार जोर दिया है, यही है कि मनुष्य को व्यक्तित्व अथवा आत्मा के अस्तित्व के संबंध में अपनी धारणा का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि केवल अनात्म (अनत्त) का अनुभव ही उसे सत्य का ज्ञान कराने में समर्थ हो सकता है। सम्पूर्ण निकायों में बुद्ध ने बारम्बार इस विषय को दोहराया है और यह उनके उपदेशों का मूल आधार (मूल परियाय) है। वस्तुतः अविद्या (अविज्जा) से उनका तात्पर्य 'अहंता' एवं 'ममत्व' (मैं-पन, मेरा-पन) से था और इसी धारणा को दूर करने के लिए उन्होंने चार आर्य सत्यों—दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग—तथा प्रतीत्यसमुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) के नियम का आविष्कार किया। इन सत्यों के द्वारा उन्होंने अपने शिष्यों को इस प्रकार शिक्षित करने का प्रयत्न किया जिससे वे व्यक्तित्व की भावना से ऊपर उठ जायें और वे सांसारिक पदार्थों से अपना किसी प्रकार का संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक न हों। यह संबंध, जिसे उन्होंने 'काम' कहा है, केवल धन-सम्पत्ति, मित्रों, संबंधियों अथवा चीवर, पिण्डपात आदि वस्तुओं तक ही सीमित नहीं, अपितु यह आध्यात्मिक सिद्धियों अर्थात् अभिज्ञा (अभिञ्ञा), ध्यान, समापत्ति आदि तक भी विस्तृत हो सकता है। बुद्ध ने जोर देकर कहा है कि साधक को यद्यपि अपने को अपने द्वारा देखी, सुनी, सोची या जानी हुई (दिट्ठ, सुत, मुत, विञ्ञात)[1] बातों से सम्बद्ध नहीं कर लेना चाहिए, न उसे सांसारिक पदार्थों की एकता (एकत्त), भिन्नता (नानत्त) या सर्वता (सब्ब) जैसी अत्यन्त सूक्ष्म बातों में भी कोई रुचि रखनी चाहिए। उसे कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं सब जीवों के प्रति मैत्री (मेत्ता) का अभ्यास कर रहा हूँ, क्योंकि इससे दो भिन्न सत्ताओं की भावना मन में आती है—एक उस व्यक्ति की जो दूसरों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव रखता है और दूसरी उस व्यक्ति की जिसके प्रति मैत्री और करुणा का भाव

१ मज्झिम० ३, पृ० ३०—दिट्ठे सुते मुते विञ्ञाते अनुपयो अनपायो अनिस्सितो अप्पटिबद्धो विप्पमुत्तो, इत्यादि; तुल० मज्झिम० १, पृ० ३; सुत्तनिपात पृ० १७८।

किया जाता है। यह अनेक बार कहा गया है कि इस ससार को असार समझना चाहिए (सुञ्ञतो लोको अवेक्खस्सु)[१]। बुद्ध वा तथागत मैत्री एव करुणा से परे है। वे ससार मे जीवनयापन करते हुए भी इद्रियार्थों वा पदार्थों के गुणो की ओर ध्यान नही देते और भीतर उनका मन शून्यता की अवस्था में रहता है।[२] भिक्षुओ को यह भी नही सोचना चाहिए कि निर्वाण उनके द्वारा प्राप्य परम आदर्श एव पूर्णता की अवस्था है। इस प्रकार के विचार सर्वथा भ्रातिपूर्ण हैं कि 'मैंने शाति प्राप्त कर ली है, मैं उपादान-रहित (अनुपादान) हो गया हूँ, मेरी तृष्णा वुझ गई है।'[३]

इस प्रकार का अनात्म-वोध वुद्ध के उपदेशो का—बौद्ध धर्म का—सार है, और यही राग, द्वेप एव मोह को नष्ट करके सत्य वा निर्वाण का साक्षात्कार करने अर्थात् तथागत होने का एकमात्र उपाय है। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रथो में इसे 'एकत्व' (अद्वय अद्वैविकार) अर्थात् 'द्वैत का अभाव' कहा गया है। पाली ग्रथो में 'अद्वय' शब्द का प्रयोग नही किया गया है, परतु बुद्ध के वचनो से वह अभिप्रेत है। बुद्ध के इस अद्वयता का स्पष्ट उल्लेख न करने का मुख्य कारण यह है कि 'अद्वयता' का अर्थ है कि पहले दो भिन्न सत्ताओ को मान लेना और फिर उनकी एकता स्वीकार करना। परतु बुद्ध के अनात्म (अनत्त) सिद्धात में दो भिन्न सत्ताओ की, द्वैत की, कोई सभावना ही नही है, और जब उन्होने दो भिन्न सत्ताएँ मानी ही नही तव उनका 'अद्वय' (=दो नही) की चर्चा करना कैसे तर्कसगत होता ? उन्होने कहा है कि 'निव्वान' 'एकरस' है।

अपनी पृथक् सत्ता वा अहता के भाव का लेशमात्र भी अश मन मे अवशिष्ट न रह जाय, इसलिए यह निर्देश किया गया है कि भिक्षुओ के मन में यह धारणा वनी रह सकती है कि मनुष्य के पाँच स्कधो मे से विज्ञान (विञ्ञाण) की सत्ता निर्वाण (निव्वान) में भी वनी रहती है। उदय माणवक के प्रश्न के उत्तर में वुद्ध ने कहा था कि आतरिक एव वाह्य वेदनाओ से उदासीन रहने से एक पूर्ण सत के विज्ञान का अत हो जाता है।[४] यह भी एक प्रसिद्ध वचन है कि यदि कोई व्यक्ति अपने मन को पाँच स्कधो अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा सस्कार और विज्ञान से मुक्त कर लेता है (निव्विदाय विरागाय

१ सुत्तनिपात, पृ० २१७।
२ सयुत्त० २, पृ० २६७।
३ मज्झिम० २, पृ० २३७।
४ सयुत्त० पृ० २१५।

निरोधाय पटिपन्नो)' तो उसे इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त हो जाता है (दिट्ठेवधम्म-निब्बानप्पत्तो)। इन वचनों से यह स्पष्ट है कि 'निब्बान' में 'विञ्ञाण' का भी अन्त हो जाता है। केवल अपूर्ण साधक का ही विज्ञान पुनर्जन्म ग्रहण करता है और बार-बार ग्रहण करता रहता है पूर्ण सन्त का विज्ञान नहीं, क्योंकि जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है वह 'अप्पतिट्ठित' हो जाता है, उसके लिए अन्य स्कन्धों का आधार नहीं रह जाता। अर्हत् पद केवल उसी अवस्था में प्राप्त हो सकता है जब नाम और रूप (जीव के पाँच स्कन्ध) पूर्ण रूप से उपरुद्ध हो जाते हैं (असेसं उपरुज्झति)।[1] केवल 'केवट्ट सुत्त' के अन्तिम छंदों में ही इस बात का किंचित् संकेत किया गया है कि विज्ञान अनंत है, उसका कोई एक स्थान नहीं है (अनिदस्सन) और वह सर्वत्र प्रकाशमान (सब्बतो पभं) है। उसमें नाम और रूप, जिनमें विज्ञान भी अन्तर्भूत है, उपरुद्ध हो जाते हैं और दीर्घ-लघु, स्थूल-सूक्ष्म, उत्तम-मध्यम आदि के भेद भी समाप्त हो जाते हैं। उसमें पृथ्वी, अप् (जल), तेज और वायु का अस्तित्व नहीं रहता। अन्यत्र इस भाव को सुत्तनिपात के तीन छंदों में स्पष्ट कर दिया गया है—

बुद्ध—अच्चि यथा वातवेगेन खित्तो
अत्थं पलेति न उपेति सङ्खम्
एवं मुनि नामकाया विमुत्तो
अत्थं पलेति न उपेति सङ्खम्।

उपसिव—अत्थङ्गतो सो उद वा सो नत्थि
उदाहु वे सस्सतिया अरोगो

१ वही ३, पृ० १६४।
२ सुत्तनिपात, पृ० १९८, संयुत्त० १, पृ० १५, ६०।
३ पारायण वग्ग, पृ० २०७।

विञ्ञाणं अनिदस्सनं अनन्तं सब्बतो पभं
एत्थ आपो च पथवी तेजो वायो न गाधति
एत्थ दीघं च रस्सं च अणुं थूलं सुभासुभं
एत्थ नामं च रूपं च असेसं उपरुज्झति
विञ्ञाणस्स निरोधेन एत्थेतं उपरुज्झति।

(दीघ १, पृ० २२३)

किया जाता है। यह अनेक वार कहा गया है कि इस ससार को असार समझना चाहिए (सुञ्ञतो लोको अवेक्खस्सु)[1]। बुद्ध वा तथागत मैत्री एव करुणा से परे हैं। वे ससार में जीवनयापन करते हुए भी इद्रियार्थों वा पदार्थों के गुणो की ओर ध्यान नही देते और भीतर उनका मन शून्यता की अवस्था में रहता है।[2] भिक्षुओ को यह भी नही सोचना चाहिए कि निर्वाण उनके द्वारा प्राप्य परम आदर्श एव पूर्णता की अवस्था है। इस प्रकार के विचार सर्वथा भ्रातिपूर्ण हैं कि 'मैंने शाति प्राप्त कर ली है, मैं उपादान-रहित (अनुपादान) हो गया हूँ, मेरी तृष्णा वुझ गई है।'[3]

इस प्रकार का अनात्म-बोध बुद्ध के उपदेशो का—बौद्ध धर्म का—सार है, और यही राग, द्वेप एव मोह को नष्ट करके सत्य वा निर्वाण का साक्षात्कार करने अर्थात् तथागत होने का एकमात्र उपाय है। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रथो में इसे 'एकत्व' (अद्वय अद्वैधिकार) अर्थात् 'द्वैत का अभाव' कहा गया है। पाली ग्रथो में 'अद्वय' शब्द का प्रयोग नही किया गया है, परतु बुद्ध के वचनो से वह अभिप्रेत है। बुद्ध के इस अद्वयता का स्पष्ट उल्लेख न करने का मुख्य कारण यह है कि 'अद्वयता' का अर्थ है कि पहले दो भिन्न सत्ताओ को मान लेना और फिर उनकी एकता स्वीकार करना। परतु बुद्ध के अनात्म (अनत्त) सिद्धात में दो भिन्न सत्ताओ की, द्वैत की, कोई सभावना ही नही है, और जब उन्होने दो भिन्न सत्ताएँ मानी ही नही तव उनका 'अद्वय' (=दो नही) की चर्चा करना कैसे तर्कसगत होता? उन्होने कहा है कि 'निव्वान' 'एकरस' है।

अपनी पृथक् सत्ता वा अहता के भाव का लेशमात्र भी अश मन मे अवशिष्ट न रह जाय, इसलिए यह निर्देश किया गया है कि भिक्षुओ के मन मे यह धारणा वनी रह सकती है कि मनुष्य के पाँच स्कधो में से विज्ञान (विञ्ञाण) की सत्ता निर्वाण (निव्वान) में भी वनी रहती है। उदय माणवक के प्रश्न के उत्तर मे बुद्ध ने कहा था कि आतरिक एव वाह्य वेदनाओ से उदासीन रहने से एक पूर्ण मत के विज्ञान का अत हो जाता है।[4] यह भी एक प्रसिद्ध वचन है कि यदि कोई व्यक्ति अपने मन को पाँच स्कधो अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा सस्कार और विज्ञान से मुक्त कर लेता है (निव्विदाय विरागाय

१ सुत्तनिपात, पृ० २१७।
२ सयुत्त० २, पृ० २६७।
३ मज्झिम० २, पृ० २३७।
४ संयुत्त० पृ० २१५।

निरोधाय पटिपन्नो)¹ तो उसे इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त हो जाता है (दिट्ठधम्म-निब्बानप्पत्तो)। इन वचनों से यह स्पष्ट है कि 'निब्बान' में 'विञ्ञाण' का भी अन्त हो जाता है। केवल अपूर्ण साधक का ही विज्ञान पुनर्जन्म ग्रहण करता है और बार-बार ग्रहण करता रहता है, पूर्ण सन्त का विज्ञान नहीं, क्योंकि जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है वह 'अप्पतिट्ठित' हो जाता है, उसके लिए अन्य स्कन्धों का आधार नहीं रह जाता। अर्हत् पद केवल इसी अवस्था में प्राप्त हो सकता है जब नाम और रूप (जीव के सारे स्वरूप) पूर्ण रूप से उपरुद्ध हो जाते हैं (असेसं उपरुज्झति)।² केवल 'केवद्ध सुत्त' के अन्तिम छन्द में ही इस बात का किंचित् संकेत किया गया है कि विज्ञान अनन्त है, उसका कोई एक स्थान नहीं है (अनिदस्सन) और वह सर्वत्र प्रकाशमान (सब्बतो पभं) है। उसमें नाम और रूप, जिनमें विज्ञान भी अन्तर्भूत है, उपरुद्ध हो जाते हैं और दीर्घ-ह्रस्व, स्थूल-सूक्ष्म, उत्तम-मध्यम आदि के भेद भी समाप्त हो जाते हैं। उसमें पृथ्वी, अप् (जल), तेज और वायु का अस्तित्व नहीं रहता। अन्यत्र भी इस भाव को सुत्तनिपात के तीन छन्दों में स्पष्ट कर दिया गया है—

बुद्ध—अच्चि यथा वातवेगेन खित्तो
अत्थं पलेति न उपेति संखम्
एवं मुनि नामकाया विमुत्तो
अत्थं पलेति न उपेति संखम्।
उपसीव—अत्थं गतो सो उद वा सो नत्थि
उदाहु वे सस्सतिया अरोगो

१. वही ३, पृ० १६४।
२. सुत्तनिपात, पृ० १९८, संयुत्त० १, पृ० १५, ६०।
३ पारायण वग्ग, पृ० २०७।

विञ्ञाणं अनिदस्सनं अनन्तं सब्बतो पभं
एत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति
एत्थ दीघं च रस्सं च अणुं थूलं सुभासुभं
एत्थ नामं च रूपं च असेसं उपरुज्झति
विञ्ञाणस्स निरोधेन एत्थेतं उपरुज्झति।

(दीघ १, पृ० २२३)

त मे मुनि साधु वियाकरोहि
तथाहि ते विदितो एस धम्मो।

बुद्ध—अत्थ गतस्स नो पमाण अत्थि
तेन न वज्जु त तस्स नत्थि
सब्बेसु धम्मेसु समुहतेसु
समुहता वादपथ पि सब्बेति।

(पारायण वग्ग, पृ० २०७)

भगवान् ने उपसिव माणव को समझाया कि जिस प्रकार दीपक की लौ वायु से बुझ जाने पर अदृश्य हो जाती है और उसका कोई चिह्न शेप नही रह जाता, उसी प्रकार नामरूप से (नामकाय) विमुक्त मुनि भी अदृश्य हो जाता है और उसका कोई चिह्न शेप नही रह जाता। तब उपसिव ने उनसे प्रश्न किया कि अदृश्य हो जाने पर क्या उस मुनि का अस्तित्व नही रह जाता (सो नत्थि)? अथवा क्या वह सदैव नीरोग स्थिति में बना रहता है? भगवान् ने उत्तर दिया कि इस प्रकार जो मुनि अदृश्य हो जाता है उसका कोई प्रमाण नही दिया जा सकता (उसका माप नही किया जा सकता), उसका कुछ भी अवशिष्ट नही रहता जिसके विपय मे मैं कुछ बतला सकूँ। उसके सभी धम्मो का नाश हो जाता है, अत शब्दो में उसका वर्णन नही किया जा सकता।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके एक सुयोग्य शिष्य अनुरुद्ध ने उनकी मृत्यु का वर्णन इन शब्दो मे किया—

"नहु अस्सारस पम्सासो ठितचित्तस्स तादिनो
अनेजो सन्ति आरब्भ य काल अकरि मुनि।
अमल्लिनेन चित्तेन वेदन अज्झवासयि।
पज्जोतम् एव निब्बान विमोखो चेतसो अहुति॥"

(अर्थ—अब इन-जैसे स्थितचित्त का श्वास-प्रश्वास बद हो गया है। अब ये मुनि अविचल विश्राम के लिए चले गए। इन्होने मृत्यु की पीडा को दृढ चित्त से सहन किया। इनका मन दीप के निर्वाण के समान मुक्त हो गया है।)

उक्त छद की अतिम पक्ति अनेक विद्वानो के लिए विविध कल्पना का आधार बन गई। उनमें से कुछ ने उससे यह निष्कर्ष निकाला कि 'निब्बान' का सीधा अर्थ नाश का अभाव है। परतु यदि इन छद को ऊपर उद्वृत सुत्तनिपात के छद के साथ मिलाकर पढा जाय तो विदित होगा कि इनका मन, जो इनके नाशवान् स्कधो मे सबसे विशिष्ट

था, दीपक की लौ के समान अदृश्य हो गया, परन्तु वे अनन्त अविनाशी विश्राम पद को (अनेजोसन्ति) प्राप्त करने के लिए चले गए।

समस्त पाली ग्रंथों में केवल ये ही दो स्थल ऐसे हैं जिनमें यह संकेत मिलता है कि 'निब्बान' अनन्त, अवर्णनीय एवं शाश्वत है, तथा ऐसे अनेक वर्णन हैं जिनसे यह विदित होता है कि वह केवल अपने भीतर ही अनुभवगम्य है। परन्तु पिछले बौद्ध ग्रंथों की भांति पाली ग्रंथों में निर्वाण के स्वरूप को बतलाने के लिए 'शून्यता' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

बुद्ध ने सदा इस बात पर जोर दिया कि उनके द्वारा प्रकाशित सत्य दो अति कोटि के मतों, अर्थात् शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, में से एक भी नहीं है। बुद्ध के प्रवचनों में विरले ही ऐसे होंगे जिनमें उन्होंने बौद्धेतर लोगों के अतिवादी मतों की कठोर आलोचना न की हो। उन मतों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) यह विश्व शाश्वत है (सस्सतो लोको)
(ख) यह विश्व शाश्वत नहीं है (असस्सतो लोको)
(ग) यह विश्व अन्तवान् है (अन्तवा लोको)
(घ) यह विश्व अनन्त है (अनन्तवा लोको)
(ङ) आत्मा देह से अभिन्न है
(च) आत्मा देह से भिन्न है
(छ) तथागत मृत्यु के बाद भी रहते हैं (होति तथागतो परं मरणा)
(ज) तथागत मृत्यु के बाद नहीं रहते (न होति तथागतो परं मरणा)
(झ) मृत्यु के पश्चात् तथागत रहते भी हैं और नहीं भी रहते (होति च न च होति तथागतो परं मरणा)
(ञ) मृत्यु के पश्चात् तथागत न रहते हैं न नहीं रहते (नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा)।

बुद्ध [illegible] के [illegible] ऐसे अन्य भी अनेक अतिनिपुण मतों से परिचित थे परन्तु उनसे उनका कोई प्रयोजन नहीं था। उन्हें 'वेदना' की उत्पत्ति और निरोध का, उसकी अनुभूति (आस्वाद) का तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों का [illegible] बचने के उपायों का ज्ञान हो गया था। इस ज्ञान के लाभ से बिना किसी बाह्य सहायता या साधना के मुक्त हो गए और उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया जो गंभीर [illegible] तथा तर्क से परे है (दीघ० १ पृ० ३०)।

निर्वाण के [illegible] का केवल एक ही प्रकार होता है जिसके द्वारा [illegible] से [illegible] जा सकता है। [illegible] कि निर्वाण [illegible]

कुसुम, अथवा जैसे वध्या का पुत्र, अथवा निर्वाण वह अनतता है जो सर्वगुण-रहित है। परतु बौद्ध ग्रथो मे ऐसे अनेक स्थल है जिनमें निर्वाण का उल्लेख 'धातु' (निब्बान धातु), अमतपद (अमृत पद , सयुत्त १, पृ० २१२, २, पृ० २८०), 'अनुत्तर सन्तिवर पद' (अद्वितीय उत्तम शान्तिपद , मज्झिम० २, पृ० २३७), 'परम सन्तिम्' (परम शान्ति पद , मज्झिम० २, पृ० १०५), 'अमतोगद अमतपरायणो अमत परियसको निब्बकनिन्न निब्बानपन निब्बानपब्भर' (सयुत्त ५, ५५, २२०-१ , चुल्लवग्ग, पृ० २३९) तथा 'समो भूमिभाग एत निब्बान अधिवचन' (सयुत्त ३, १०९) कहकर किया गया है।

अध्याय ११

विहार-चर्या

वर्तमान उत्तर प्रदेश राज्य इस बात का पूरा दावा कर सकता है कि यहीं पर भगवान् बुद्ध ने न केवल "एहि भिक्खु" इन दो सरल शब्दों के उच्चारण द्वारा अपने प्रथम साठ शिष्यों को दीक्षा देकर अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, अपितु विनयपिटक के चुल्लवग्ग एवं महावग्ग में संगृहीत नियमों के एक बहुत बड़े भाग का निर्माण भी किया। उत्तर प्रदेश में ही निम्न एवं उत्कृष्ट दो प्रकार के दीक्षा-संस्कारों (पब्बज्जा, उपसम्पदा) तथा वर्षावास के अंत में संपादित किए जानेवाले संघ संबंधी दो महत्त्वपूर्ण कृत्यों—पवारणा और कठिन—की विधियाँ विस्तार के साथ निर्धारित की गईं। इन दो कृत्यों में से प्रथम में भिक्षुगण वर्षावास के तीन मास में अपने द्वारा कृत पापों तथा अकृत धर्मों को स्वीकार करते थे और द्वितीय कृत्य में भिक्षुओं को पवारणा के अवसर पर उन्हें प्राप्त वस्त्रों को काटने, रँगने और सीने तथा उनके चीवर बनाकर विहार में रहनेवाले भिक्षुओं को वितरण करने की अनुज्ञा दी जाती थी। इन दो कृत्यों के अतिरिक्त वर्षावास के नियमों के यथोचित पालन तथा भिक्षुओं द्वारा चमड़े के जूतों, चीवरों एवं औषधों के उपयोग के संबंध में महावग्ग में संगृहीत अनेक नियमों का निर्माण भी उत्तर प्रदेश में ही किया गया।

चुल्लवग्ग के इन परिच्छेदों में से नाना का, जिनमें (१) संघादिसेसों के उल्लंघन के लिए दंडित भिक्षुओं के आचरण संबंधी नियम, तथा (२) उनके संघ में पुनः प्रवेश एवं (३) उनके द्वारा किए गए पापों के कारण उपोसथ-सभाओं में उनके बहिष्कार की प्रक्रियाएँ दी गई हैं, पूरा भाग श्रावस्ती में किया गया, तथा (१) नियमों का उल्लंघन करनेवाले भिक्षुओं के विरुद्ध की जानेवाली अनुशासनिक कार्यवाहियाँ (२) भिक्षुओं के दैनिक व्यवहार की वस्तुओं तथा (३) भिक्षुओं के लिए आवासों के संबंध में भी अनेक नियम बनाए गए।

पातिमोक्ख सुत्त, जिसमें २२७ नियम हैं, विनयपिटक का सार भाग बना और उपोसथ-सभाओं में उसका पाठ किया जाता था। उसके अंतर्गत अपराधों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

चार पाराजिक—इनका दंड भिक्षु-संघ से निष्कासन है।

तेरह संघादिसेस—इनमे भिक्षुओ के अपराधी पाए जाने पर उन्हे संघ द्वारा मिले हुए विशेष अधिकारो को स्थगित कर देने का विधान है, परतु साथ ही अपने ऊपर लगाए गए प्रतिबधो का समुचित रूप से पालन करने तथा भिक्षुसभा द्वारा योग्य समझे जाने पर, उन्हे पुन संघप्रवेश का अधिकार दिया गया है।

दो अनियत—अनिश्चित अपराध, जिनका निर्णय वास्तविक परिस्थितियो पर विचार करके किया जाता था।

तीस निसग्गिय—पाचित्तिया, जिसमें भिक्षुओ को उनके लिए निषिद्ध वस्तुओ को त्याग देना, तथा उन्हे ग्रहण करने के अपराध को स्वीकार करना पडता है।

बानवे पाचित्तिया—दोषमुक्त होने के लिए इन अपराधो को केवल स्वीकार कर लेना पर्याप्त होता है।

चार पटिदेसनिय।

पछत्तर सेखिय—सदाचरण संबधी निदेश।

सात अधिकरण समथ—भिक्षुओ द्वारा आपस मे ही विवादो का समाधान कर लेने की रीति।

उपर्युक्त प्रकार का एक पातिमोक्ख सुत्त भिक्षुणियो के लिए भी था, जिसका नाम 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' है।

इन २२७ नियमो मे से अधिकाश सावत्थी मे और कुछ बनारस, कोसबी तथा कपिलवत्थु मे बनाए गए थे, जो इस प्रकार है—

पाराजिक	४
संघादिसेस	९
अनियत	२
निसग्गिय पाचित्तिया	२३
पाचित्तिया	८०
पटिदेसनिय	३
सेखिय	७४
अधिकरणसमथ	७
	१३८

भिक्खुणी पातिमोक्ख का संग्रह संपूर्ण रूप से सावत्थी मे किया गया था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विनय के नियमो मे से अधिकाश उत्तर प्रदेश मे ही निर्मित हुए थे।

अब हमें उन नियमों पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए।

दीक्षा—बुद्ध ने भिक्षुओं को दीक्षा देने का कार्य ऋषिपत्तन (बनारस) में अपने पांच पुराने मित्र ब्राह्मण तपस्वियों से आरंभ किया और फिर श्रेष्ठिपुत्र यश और उसके मित्रों को केवल 'एहि भिक्खु' (आओ, हे भिक्षु) शब्दों के उच्चारण द्वारा दीक्षित किया। जब बुद्ध सहित उनके शिष्यों की संख्या साठ तक पहुँच गई तब उन्होंने उन्हें भिन्न-भिन्न दिशाओं में बौद्ध धर्म के उपदेशों का प्रचार करने के लिए भेज दिया, परन्तु उन्हें भिक्षु बनाने या प्रव्रज्या देने का अधिकार नहीं दिया। जो भिक्षु बाहर धर्म प्रचार के लिए भेजे गए थे उन्हें बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवालों को संघ में प्रविष्ट करने के लिए बुद्ध के पास लाना पड़ता था, इससे उन भिक्षुओं तथा दीक्षार्थियों को बड़ी असुविधा होती थी। इस कारण बुद्ध ने नव दीक्षार्थियों के संघ-प्रवेश के लिए कुछ शर्तें निर्धारित कर दीं और भिक्षुओं को उन्हें दीक्षा देने का अधिकार प्रदान करने का निश्चय किया। उन शर्तों के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करनेवालों को पहले सिर मुंडाकर पीला वस्त्र धारण करना पड़ता था और फिर उस वस्त्र को एक कंधे पर डालकर प्रव्रज्या देनेवाले भिक्षुओं को नमस्कार करना तथा तीन बार उन त्रिशरण-वाक्यों का उच्चारण करना पड़ता था—"बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि" (१, पृ० २२)। भिक्षु लोग दीक्षा देने में बहुत सावधानी और विवेक से काम नहीं लेते थे, इस कारण बाद में बुद्ध को और भी कई शर्तें निश्चित करनी पड़ीं।

जब बुद्ध पहली बार कपिलवस्तु गए तो उन्होंने नंद और राहुल को संघ में प्रविष्ट कर लिया। इससे शुद्धोदन को बड़ा क्षोभ हुआ, क्योंकि उन दोनों को बिना उनकी सूचना के दीक्षा दी गई थी। इस कारण उस समय बुद्ध ने यह नियम बना दिया कि किसी को भी बिना उसके माता-पिता की अनुमति के दीक्षा न दी जाया करे (१, पृ० ८३)। उस समय राहुल बहुत छोटा था। जब बुद्ध ने सारिपुत्र को उसे दीक्षा देने की आज्ञा दी तो उन्होंने एक बालक दीक्षार्थी (श्रामणेर) को दीक्षा देने की प्रक्रिया न जानने के कारण अपनी असमर्थता प्रकट की। तब बुद्ध ने उन्हें उसी प्रक्रिया से दीक्षा देने का आदेश दिया जिसके अनुसार अन्य भिक्षुओं को दीक्षा दी जाती थी। सारिपुत्र ने तब राहुल को 'श्रामणेर-प्रव्रज्या' दी और उसे अपने अंतेवासी ([illegible]) के रूप में ग्रहण किया। उस समय एक भिक्षु को केवल एक ही अंतेवासी रखने की अनुमति थी, परन्तु सारिपुत्र के लिए बुद्ध ने इस नियम को शिथिल कर दिया और कहा कि दक्ष, समर्थ और निपुण भिक्षु एक से अधिक अंतेवासी ग्रहण कर सकता है (१, पृ० ८३)। सारिपुत्र के यह पूछने पर कि श्रामणेर को क्या सिखाना चाहिए, बुद्ध

ने कहा कि सामणेर को इन दस शीलो का पालन करने का आदेश देना चाहिए—(१) अहिंसा, (२) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, (३) असत्य भाषण न करना, (४) ब्रह्मचर्य, (५) मादक वस्तुओ का सेवन न करना, (६) दोपहर के बाद भोजन न करना, (७) नृत्य तथा अन्य उत्सव न देखना, (८) माला तथा अन्य अलकारो को धारण न करना, (९) ऊँची शय्या पर न सोना और (१०) सोना-चाँदी न ग्रहण करना। दीक्षा सबधी कुछ अन्य नियम भी सावत्थी में बनाए गए। गुरु और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्यो के सबध में विस्तृत अनुदेश दिए गए जिनका आगे वर्णन किया गया है।

उपोसथ[1]—प्रव्रज्या के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण कृत्य हैं (१) 'उपोसथ' (उपवसथ, पाक्षिक दोष-स्वीकार सभा) और (२) वर्षावास के समाप्त होने पर 'पवारणा।' उपोसथ का प्रारभ राजा बिंबिसार के अनुरोध से किया गया था और पवारणा का राजगृह की प्रजा के। उपोसथ के दिन, जो साधारणत पूर्णिमा और अमावस्या को पडा करता था, विहार की सीमा के भीतर रहनेवाले समस्त भिक्षुओ को उपोसथ-सभा मे उपस्थित होना पडता था। सभा का सभापति पातिमोक्ख सुत्त का पाठ करता था, जिसमे उस समय सभवत (अगुत्तर के अनुसार) केवल १५० नियम थे, फिर वह प्रत्येक भिक्षु को आज्ञा देता था कि यदि उसने किसी नियम का उल्लघन किया हो तो उसे प्रस्यापित करे। यदि ऐसे प्रस्यापनों में, भिक्षु द्वारा किए गए अपराध साधारण प्रकार के होते थे तो वह केवल दोष के अगीकार मात्र से दोषमुक्त कर दिया जाता था, अन्यथा उसे सभा छोडकर बाहर चले जाने तथा एक भिक्षु-समिति द्वारा विहित दड को भुगतने की आज्ञा दी जाती थी।

वस्सावास (स० वर्षावास)—वस्सावास का उद्देश्य था वर्षाकाल के तीन महीनो में भिक्षुओ को एक निश्चित आवास (विहार, गुफा अथवा कोई ऐसा स्थान जहाँ भिक्षु लोग निवास कर सकें) मे रखना। वर्षावास के नियम का पालन कुछ बौद्धेतर धर्मो के लोग भी करते थे। इस अवधि में भिक्षुओ को अपनी भिक्षा के लिए पूर्ण रूप से अपने आवास के निकट रहनेवाले गृहस्थो पर ही निर्भर रहना पडता था, और अत्यत असाधारण परिस्थितियो के अतिरिक्त, जिनका कि विस्तृत रूप से विनिर्देश किया गया था, उन्हें अपने भिक्षाटन के लिए निर्धारित सीमा के बाहर जाने की अनुज्ञा नहीं थी।

१ संस्कृत उपवसथ=सोमयज्ञ का दिन। प्रारभ में बौद्ध सघ में उपोसथ के चार दिन हुआ करते थे—प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा और अमावस्या। पीछे चार से घटाकर दो दिन कर दिए गए—पूर्णिमा और अमावस्या।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक काल में भिक्षु लोग अधिकतर राजगृह और उसके आसपास के स्थानों में ही रहा करते थे और कोसल में भिक्षुओं की संख्या बहुत कम थी। संभवतः इसी कारण से इन दोनों कृत्यों—उपोसथ और वर्षावास—का प्रारंभ मगध में हुआ। इन दोनों के संबंध में कुछ नियम सावत्थी में बनाए गए, जो सामान्यतः ऐसी ही विशेष परिस्थितियों से संबंध रखते हैं जिनमें उपोसथ की विधि संक्षिप्त की जा सकती थी और वर्षावास नियत समय से पहले समाप्त किया जा सकता था। कहा गया है कि कोसल के किसी विशेष स्थान में भिक्षुओं को शबरों का बड़ा भय था और इस कारण वे संपूर्ण पातिमोक्ख का पाठ भी नहीं कर पाते थे। ऐसी परिस्थितियों में बुद्ध ने भिक्षुओं को पातिमोक्ख सुत्त का संक्षिप्त रूप में पाठ करने की अनुज्ञा दे दी (अन्तराये संखित्तेन पातिमोक्खं उद्दिसितुं ति, १, पृ० ११३)। सुत्त के पाठ को संक्षिप्त करने के और भी कारण हो सकते हैं, जैसे राजाओं एवं दस्युओं का भय, अग्नि, जलप्लावन तथा हिंस्र पशुओं का भय, अथवा ऐसी अन्य परिस्थितियां जिनमें भिक्षुओं को अपने प्राणों का भय या साधना में अंतराय पड़ने की आशंका हो (१, ११३)।

चुल्लवग्ग (पृ० ३८८) में बुद्ध ने विस्तृत रूप से ऐसी परिस्थितियों पर विचार किया है जिनमें उपोसथ का कृत्य संपन्न नहीं किया जा सकता था। जिन कारणों से उपोसथ रद्द किया जा सकता था, उनमें प्रधान था किसी भिक्षु द्वारा अपराध का दबाया जाना। किसी भिक्षु के अन्य भिक्षु द्वारा अपने ऊपर दोषारोपण किए जाने से बचने के प्रयत्न के संबंध में भी बुद्ध ने कुछ नियम बनाए।

कोसल में बनाए गए वर्षावास के नियमों से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस देश में भिक्षुओं के रहने के लिए अनुकूल सुविधाएं नहीं थीं। कोसल में वर्षावास बितानेवाले कुछ भिक्षुओं ने बुद्ध से शिकायत की कि वहां भिक्षुओं के आवासों में सर्पों और चोरों का उपद्रव हुआ करता है और उन्हें अग्नि और जलप्लावन का भी भय रहता है। उन्हें पर्याप्त भोजन तथा औषध प्राप्त करने में कठिनाई होती है और नगर की कुछ स्त्रियां भी उन्हें कष्ट दिया करती हैं। भिक्षुओं में ही कुछ ऐसे हैं जो संघ में फूट डालने का प्रयत्न किया करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में बुद्ध ने भिक्षुओं को वर्षावास समाप्त कर अन्य स्थानों में चले जाने की अनुज्ञा दे दी।

ऐसी दो-एक घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है जिनमें बुद्ध का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया था। पहली घटना यह है कि सावत्थी में वर्षावास करनेवाले कुछ भिक्षुओं ने यह निश्चय किया कि वे वर्षावास में किसी को दीक्षा (प्रव्रज्या) न देंगे। [illegible] ने उनसे वर्षावास में ही दीक्षा देने की याचना की, परन्तु

ने कहा कि सामणेर को इन दस शीलो का पालन करने का आदेश देना चाहिए-- (१) अहिंसा, (२) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, (३) असत्य भाषण न करना, (४) ब्रह्मचर्य, (५) मादक वस्तुओ का सेवन न करना, (६) दोपहर के बाद भोजन न करना, (७)नृत्य तथा अन्य उत्सव न देखना, (८)माला तथा अन्य अलकारो को धारण न करना, (९) ऊँची शय्या पर न सोना और (१०) सोना-चाँदी न ग्रहण करना। दीक्षा सबधी कुछ अन्य नियम भी सावत्थी में बनाए गए। गुरु और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्यो के सबध में विस्तृत अनुदेश दिए गए जिनका आगे वर्णन किया गया है।

उपोसथ[1]--प्रव्रज्या के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण कृत्य है (१) 'उपोसथ' (उपवसथ, पाक्षिक दोष-स्वीकार सभा) और (२) वर्षावास के समाप्त होने पर 'पवारणा।' उपोसथ का प्रारभ राजा बिबिसार के अनुरोध से किया गया था और पवारणा का राजगृह की प्रजा के। उपोसथ के दिन, जो साधारणत पूर्णिमा और अमावस्या को पडा करता था, विहार की सीमा के भीतर रहनेवाले समस्त भिक्षुओ को उपोसथ-सभा मे उपस्थित होना पडता था। सभा का सभापति पातिमोक्ख सुत्त का पाठ करता था, जिसमे उस समय सभवत (अगुत्तर के अनुसार) केवल १५० नियम थे, फिर वह प्रत्येक भिक्षु को आज्ञा देता था कि यदि उसने किसी नियम का उल्लघन किया हो तो उसे प्रस्थापित करे। यदि ऐसे प्रस्थापनो में, भिक्षु द्वारा किए गए अपराध साधारण प्रकार के होते थे तो वह केवल दोष के अगीकार मात्र से दोषमुक्त कर दिया जाता था, अन्यथा उसे सभा छोडकर बाहर चले जाने तथा एक भिक्षु-समिति द्वारा विहित दड को भुगतने की आज्ञा दी जाती थी।

वस्सावास (स० वर्षावास)--वस्सावास का उद्देश्य था वर्षाकाल के तीन महीनो में भिक्षुओ को एक निश्चित आवास (विहार, गुफा अथवा कोई ऐसा स्थान जहाँ भिक्षु लोग निवास कर सकें) में रखना। वर्षावास के नियम का पालन कुछ बौद्धेतर धर्मो के लोग भी करते थे। इस अवधि में भिक्षुओ को अपनी भिक्षा के लिए पूर्ण रूप से अपने आवास के निकट रहनेवाले गृहस्थो पर ही निर्भर रहना पडता था, और अत्यत असाधारण परिस्थितियो के अतिरिक्त, जिनका कि विस्तृत रूप से विनिर्देश किया गया था, उन्हें अपने भिक्षाटन के लिए निर्धारित सीमा के बाहर जाने की अनुज्ञा नही थी।

१ सस्कृत उपवसथ=सोमयज्ञ का दिन। प्रारभ में बौद्ध सघ में उपोसथ के चार दिन हुआ करते थे--प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा और अमावस्या। पीछे चार से घटाकर दो दिन कर दिए गए--पूर्णिमा और अमावस्या।

अपने निश्चय के अनुसार उन्होने अस्वीकार कर दिया। जब विशाखा ने इस विषय को बुद्ध के समक्ष उपस्थित किया तो उन्होने भिक्षुओ को आदेश दिया कि वे वर्षाकाल में दीक्षा देना अस्वीकार न करें। दूसरी घटना यह है कि उपनद सक्यपुत्त ने राजा पसेनदि को वचन दिया था कि 'मैं वर्षा राजा के ही विहार में व्यतीत करूँगा', परतु पीछे जब उसने देखा कि एक दूसरे स्थान पर वस्त्र अधिक मिलते है, तो उसने अपना विचार बदल दिया और उस दूसरे स्थान पर चला गया।

पवारणा—कोसल एक ऐसा प्रदेश था जहाँ के भिक्षु बहुत विनयशील नही थे। वर्षावास के दिनो मे उनमें आपस में झगडे हो जाया करते थे, जिससे वे एक-दूसरे से बोलना-चालना बद कर देते थे। जब बुद्ध को इस स्थिति का पता चला तो वर्षावास के अत में उन्होने पवारणा के आयोजन का विधान किया, जिसमें उसके लिए नियत शुभ दिन को प्रत्येक भिक्षु को वर्षावास में किए गए अपने पापो को स्वीकार करना पडता था। यदि उनके अपराध साधारण होते थे तो उन्हें स्वीकार कर लेने पर वे तत्काल दोषमुक्त कर दिए जाते थे। इस कृत्य के सपादन में अनेक बाधाएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, जिनके लिए बुद्ध ने कई नियम बनाए।

चर्म पदत्राण—जूते बनाने अथवा अन्य प्रयोजनो के लिए चमडे के उपयोग के सबध में नियम मगध में सोण कोलविस के निमित्त बनाए गए थे, जो एक अत्यत धनाढ्य सेट्ठि का पुत्र था और जिसके पैर इतने कोमल थे कि नगे पाँव चलने से उनमे से रक्त बहने लगता था। सोण कोलविस ने अपने लिए दी गई विशेष सुविधा के रूप में जूतो का उपयोग करने से इनकार कर दिया, अत बुद्ध को सभी भिक्षुओ को जूते पहिनने की अनुज्ञा देनी पडी। कुछ भिक्षुओ ने इस अनुज्ञा का दुरुपयोग किया और वे विभिन्न प्रयोजनो के लिए चमडे की बनी सुदर वस्तुओ का उपयोग करने लगे। जब बुद्ध वाराणसी गए तो वहाँ उन्होने देखा कि इसिपत्तन के कुछ भिक्षु जूतो के उपयोग के लिए दी गई उनकी अनुज्ञा का दुरुपयोग कर रहे है, अत इस प्रकार का दुरुपयोग रोकने के लिए उन्होने कुछ प्रतिबध लगाए (१, पृ० १८९)। बनारस से वे सावत्थी गए जहा उन्होंने सुना कि कुछ भिक्षु गायो और गाडियो का वाहन के रूप में उपयोग करते हैं। तब बुद्ध ने नियम बनाकर केवल रुग्ण भिक्षुओ के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओ के लिए किसी प्रकार के वाहन का उपयोग निषिद्ध कर दिया (१, पृ० १९१)।

औषधें—बुद्ध ने पहले गोमूत्र तथा ऐसी अन्य वस्तुओ (पुत्तिमुत्तभेसज्ज) का उपयोग औषध के रूप में विहित कर दिया था। जब बुद्ध सावत्थी में निवास करते थे तो वहां उन्होंने देखा कि भिक्षु लोग शरत्कालीन रोगो (सरदकानि) के कारण दुबले

और पीले हो रहे हैं और वे कोई भी आहार पचा नहीं सकते। तब उन्होंने अपने शिष्यों के लिए किसी भी प्रकार का गरिष्ठ आहार वर्जित कर दिया, परन्तु औषधों के उपयोग की अनुज्ञा दे दी। दिन में किसी भी समय घी, मक्खन, तेल, मधु और राब ग्रहण करने की भिक्षुओं को अनुमति मिल गई। आगे चलकर बुद्ध ने औषध की वस्तुओं की संख्या बढ़ा दी और वसा (चर्बी), जड़ी-बूटियाँ, फल, गोंद तथा आयुर्वेद-शास्त्र-सम्मत ऐसी अन्य वस्तुओं का जिनमें क्वाथों के अतिरिक्त कच्चा मांस और रक्त भी है, औषध के रूप में उपयोग विहित कर दिया। आवश्यक होने पर उन्होंने उष्ण जल से स्नान, स्वेदन, लेप और व्रणोपचार की भी अनुमति दी और औषधों के निर्माण के लिए आवश्यक पात्रों, उपकरणों और अन्य वस्तुओं का उपयोग करने की तथा सूची द्वारा दूषित रक्त निकलवाने एवं शल्य-चिकित्सा कराने की स्वीकृति उन्होंने साधारण रूप से प्रदान की। शल्य-क्रिया केवल उसी अवस्था में निषिद्ध थी जब घाव गुदा-स्थान से दो इंच के भीतर हो। वस्तुतः भिक्षुओं के लिए उस समय उपलब्ध चिकित्सा के सभी साधनों का उपयोग करने की अनुज्ञा थी, प्रतिबंध केवल यह था कि औषध या चिकित्सा के नाम पर वे अति न करें और गृहस्थों के सुखों का उपभोग न करने लग जायें।

परंतु बनारस में उन्होंने औषध के रूप में किसी भी प्रकार के मांस का उपयोग वर्जित कर दिया और सावत्थी में भिक्षुओं को सभी प्रकार के फल खाने की अनुज्ञा दी। इस प्रसंग में उन्होंने यह भी नियम बनाया कि यदि विहार की सीमा के भीतर कोई अन्य व्यक्ति वृक्ष या बीजारोपण करे तो उस वृक्ष के आधे फल उस व्यक्ति को दे दिए जायें। यदि किसी अन्य व्यक्ति की भूमि में स्वयं भिक्षु लोग बीज-वपन कराएँ, तो उससे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष के आधे फल उस भूमि के स्वामी को दे दिए जायें। अंत में उन्होंने औषधों के प्रयोग के विषय में यह निर्देश दिया कि भिक्षुगण कोई भी ऐसा आहार औषध के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिन्हें उन्होंने स्पष्ट रूप से अनुचित और निषिद्ध न ठहराया हो।

कठिन—सावत्थी में निवास करते समय बुद्ध ने वर्षावास के अंत में 'कठिन' के आयोजन का प्रारंभ किया। यह पाठेय्य के तीस भिक्षुओं के निमित्त से किया गया, जो सभी 'धुत'[1] नियमों का पालन करनेवाले थे। वे वर्षारंभ के पहले ही सावत्थी

1 बुद्ध के द्वारा भिक्षुओं के लिए अनुमोदित तेरह कठोर नियम हैं—

(१) पंसुकूलिकंगम्—धूल, श्मशान आदि से एकत्र किए गए वस्त्रखंडों से बने हुए चीवर धारण करना।

(२) तेचीवरिकंगम्—तीन से अधिक वस्त्र न धारण करना। ये तीनों वस्त्र

पहुँचना चाहते थे, परतु वे ऐसा न कर सके और उन्होने साकेत मे वर्षावास किया, जो सावत्थी मे छ योजन दूर था। वे पवारणा का कृत्य सपन्न करके भीगे और कीचड में सने चीवर पहने सावत्थी गए और बुद्ध से मिले। बुद्ध ने यथारीति उनका स्वागत किया। उन्होने अपना दर्शन करने के लिए भिक्षुओ की उत्सुकता और साथ ही वर्षावास के नियमो के पालन मे उनकी दृढता को लक्ष्य करके 'कठिन' के कृत्य का विधान किया, जिसमें भिक्षुओ को अधिकार दिया गया कि वे 'पवारणा' के अवसर पर श्रद्धालु गृहस्थो से प्राप्त अपने वस्त्रो को काट, रँग और सीकर उनके चीवर बनाएँ और आवश्यकतानुसार आपस मे बाँट ले। इस सबध में अधिकारो के दुरुपयोग तथा वस्त्रो के वितरण में अनियमितता को रोकने के लिए कई नियम बनाए गए।

हैं—एक सघाटी, एक उत्तरासग, और एक अतरवासक। धोने और रँगने के समय में इन्हीं तीनो से काम चलाना आवश्यक है।

(३) पिंडपातिकगम्—केवल घर-घर भिक्षा माँगकर सग्रह किया हुआ भोजन ग्रहण करना और विनय में विहित चौदह प्रकार के भोजन का दान न ग्रहण करना। वे चौदहों प्रकार ये हैं—सघभत्त, उद्देसभ, निमतनभ, सलकभ, पक्खिक, उपोसथिकं, पटिपादिक, आगतुकभ, गमिकभ, गिलानभ, गिलानुप्पटठ्काभ, विहारभ, धुरभ, वरकभ।

(४) सपदानचारिकगम्—बिना कोई घर बीच में छोड हुए एक ओर से प्रत्यक घर में भिक्षा माँगना।

(५) एकासनिकगम्—एक ही बैठक में भोजन करना, अर्थात् यदि भोजन के बीच में गुरु को नमस्कार करने वा अन्य कार्य के लिए उठना पडे तो फिर से भोजन के लिए न बैठना। (महाकस्सप इस धुतग का पालन करने में सबसे आगे समझे जाते थे)।

(६) पत्तपिंडिकगम्—केवल एक ही भिक्षापात्र रखना और उसमें डाले हुए सभी प्रकार के भोजन को ग्रहण करना, चाहे वे स्वादिष्ट हो वा नहीं।

(७) खलुपच्छा भत्तिकगम्—एक बार भोजन समाप्त कर लेने अथवा बस कर देने पर, फिर देने पर भी भोजन की कोई वस्तु न ग्रहण करना, (तुल० पाचित्तिय, ३५)।

(८) आरञ्ञिकगम्—नगर या ग्राम के निकट न रहकर केवल वन में रहना; वह वन भी ग्राम से, नगर से पर्याप्त दूरी पर होना चाहिए।

(९) रुक्खमूलिकगम्—बिना किसी छप्पर-छाजन के, केवल वृक्ष के नीचे निवास करना। वह वृक्ष न फलवाला हो, न किसी विहार वा चैत्य (चेतिय) आदि की सीमा के भीतर वा सीमा पर स्थित हो।

(१०) अब्भोकासिकगम्—खुले स्थान में रहना, अर्थात् न छाजन के नीचे रहना और न वृक्ष के। परतु इस तथा इसके पूर्ववर्ती व्रत को धारण करनेवाला भिक्षु वर्षा

(१,२९८), उमे एक वा दो वस्त्र शरीर से अलग करने की अनुज्ञा है। गृहस्थो से जो भी वस्त्र दान में प्राप्त हो उन्हें वहाँ उस समय उपस्थित सभी भिक्षुओ मे उनकी आवश्यकता के अनुमार वितरित कर देना चाहिए। यदि किसी स्थान में एक ही भिक्षु हो तो उसे जो वस्त्र मिले उन्हे वह आगामी 'कठिन' के समय तक अपने उपयोग के लिए रख सकता है (१,२९९-३०१)। साधारणत एक भिक्षु वा कई भिक्षुओ को दान में मिले वस्त्र मघ की सपत्ति होते थे और उपामको को यह अनुदेश दिया जाता था कि वे मभी प्रकार के दान किसी एक भिक्षु को न देकर सघ के निमित्त दिया करें।

जव बुद्ध सावत्थी पहुँचे तो विशाखा उनकी सेवा मे उपस्थित हुई और उसने उनसे प्रार्थना की कि मुझे भिक्षुओ और भिक्षुणियो को निम्नलिखित वस्तुएँ भेंट करने का गौरव प्रदान किया जाय——

(१) वस्सिकसाटिकम्——वर्पा मे व्यवहार करने के वस्त्र।
(२) आगतुकभत्तम्——सभी आगतुक भिक्षुओ और भिक्षुणियो के लिए भोजन।
(३) गमिकभत्तम्——सभी गमिक अर्थात् जानेवाले भिक्षुओ और भिक्षुणियो के लिए भोजन।
(४) गिलानभत्तम्——वीमारो को भोजन।
(५) गिलानुपट्ठाकभत्तम्——रोगियो के परिचारको को भोजन।
(६) गिलान भेसज्जम्——रोगियो को औपध।
(७) धुवयगुम्——प्रतिदिन मघ के प्रत्येक व्यक्ति के लिए चावल की खीर।
(८) भिक्खुनीमघस्स उदकमाटिकम्——भिक्षुणियो के लिए स्नान के वस्त्र (१,२९४)।

उमने बुद्ध से भिक्षुओ के लिए उपवस्त्र वा तौलिया (मुखपुछन-चोलकम्) भी स्वीकार करने की अनुज्ञा प्राप्त की।

दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ——बुद्ध ने भिक्षुओं के दैनिक जीवन मे व्यवहार के लिए उचित एव उपयुक्त वस्तुओ का पूरा व्यौरा दिया है। यह व्यौरा अधिकागत राजगृह मे तैयार किया गया था। अत यहाँ उमपर विचार करने की आवश्यकता नही है (चुल्लवग्ग, अ० ५)। विशाखा ने दैनिक व्यवहार की कुछ वस्तुएं सघ को प्रदान करने की बुद्ध मे अनुज्ञा चाही। ये वस्तुएँ थी——टोकरी, झाडू (घटकञ्च, सम्मज्जनीञ्च), पखे और चँवर (छाल, वाम अथवा मोरपख के), जिनके लिए बुद्ध ने अनुज्ञा दे दी (२,१३०)।

सावत्थी में विशाखा ने एक दोतला विहार (पासाद) वनवाया, जिसके वरामदो

वही है जो आचार्य और अतेवासी के)––इन बातो के सबध मे भी अनुदेश दिए गए है। यहाँ इस प्रकार के कुछ विनियम उदाहरण के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं––

आगतुक भिक्षु––आगतुक भिक्षु के कर्तव्य इस प्रकार है––विहार में आनेवाले भिक्षु को पहले अपने चप्पल या जूते उतार देना चाहिए और छाता बद करके इन वस्तुओ को एक किनारे रख देना चाहिए। फिर वस्त्र को एक कधे पर डालकर चुपचाप कुटी में प्रवेश करना और वहाँ के आवासिक भिक्षुओ के स्थान का पता लगाना चाहिए। उनके निकट जाकर भिक्षापात्र और सघाटी अलग रखकर उपयुक्त आसन पर बैठ जाना चाहिए। फिर उसे पूछना चाहिए कि भोजन और जल कहाँ मिलेगा, और वहाँ जाकर, एक हाथ से पानी डालकर दूसरे से मलते हुए, पैरो को धोकर भोजन करना और जल पीना चाहिए। उसे जूते साफ करने के लिए वस्त्र का पता लगाना चाहिए और मिल जाने पर, आवश्यकता हो तो जूतो को पानी मे धोकर, उन्हें उस वस्त्र से पोछना चाहिए।

यदि आवासिक भिक्षु उससे ज्येष्ठ हो तो उसे उसको प्रणाम करना चाहिए। यदि आवासिक भिक्षु उससे छोटा हो तो वह उसे (आगतुक को) प्रणाम करे। उसकी शय्या और सोने का स्थान कहाँ है, किन घरो मे उसे भिक्षा के लिए जाना चाहिए, शौचालय कहाँ है, कुटी से बाहर जाने और वापस आने के लिए कौन-सा समय नियत है, इन सब बातो को तथा यदि भिक्षुओ ने आपस मे और भी कोई नियम निश्चित किए हो तो उनको भी पूछकर उसे जान लेना चाहिए।

यदि भिक्षु किसी ऐसे विहार मे पहुँचे जिसमे कोई न हो, तो उसे सावधानी के साथ उसमे प्रवेश करना चाहिए। धूल और जाले साफ करके दीवारो और फर्श को झाड देना चाहिए और यदि फर्श पर कोई कालीन, चाँदनी आदि बिछी हो तो उसको तथा शय्या एव आसनो को धूप मे सुखा लेना चाहिए। फिर अपने वस्त्र और भिक्षापात्र को सावधानी से अलग रखकर खिडकियो को खोल देना चाहिए, घडे मे जल भरकर रख देना चाहिए और इस प्रकार के अन्य कार्य जो आवश्यक जान पडे करना चाहिए।

आवासिक और गमिक भिक्खु––इसी प्रकार आवासिक भिक्षुओ तथा विहार छोडकर जानेवाले (गमिक) भिक्षुओ के भी कर्तव्य बतलाए गए है।

भत्तगम् (भिक्षा मांगने तथा भोजन का निमत्रण स्वीकार करने के सबध में नियम)–भिक्षु को अपने तीनो वस्त्र ठिकाने से पहनकर, हाथ मे भिक्षापात्र लेकर, दृष्टि नीची किए हुए धीर गति मे जाना चाहिए और आसन दिया जाय तो उसपर शाति-पूर्वक बैठना चाहिए। निमत्रित भिक्षुओ के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओ को भोजन के

गुरु को भी अपने शिष्य का ध्यान रखना चाहिए। गुरु को अपने शिष्य के प्रश्नो का समुचित उत्तर देना तथा अपने व्याख्यान से उसकी शकाओ का समाधान करना चाहिए। यदि शिष्य के पास वस्त्र और भिक्षापात्र न हो तो गुरु को उनका प्रबध करना चाहिए। यदि शिष्य बीमार हो जाय तो गुरु को सावधानी के साथ उसकी शुश्रूषा और परिचर्या करनी चाहिए, और यदि वह गाँव में जाना चाहे तो उसे वस्त्र और भिक्षापात्र देकर तथा यदि वस्त्र गीले हो तो उन्हें सुखाकर उसकी सहायता करनी चाहिए। शिष्य के भोजन कर लेने के पश्चात् उसे पीने के लिए पानी देना और इस प्रकार के अन्य छोटे-मोटे कार्य करना चाहिए जिन्हे गुरु के लिए करने की शिष्य से अपेक्षा की जाती है। गुरु को शिष्य को यह भी बतलाना चाहिए कि वह अपने वस्त्र किस प्रकार धोए और रँगे और इस कार्य में उसकी सहायता करनी चाहिए।

कोसबी का विवाद

कोसबी मे भिक्षुओ के दो दलो मे एक बार बहुत बडा विवाद उपस्थित हो गया। विवाद यहाँ तक बढा कि उसमें बुद्ध के हस्तक्षेप करने से भी कोई लाभ नही हुआ। बुद्ध को इससे इतना क्षोभ हुआ कि वे वहाँ से वन मे चले गए और मनुष्यो की अपेक्षा पशुओ के सग रहना उन्होने अधिक पसद किया। झगडा बहुत छोटी सी बात को लेकर आरभ हुआ। कहा जाता है कि एक भिक्षु ने शौचालय के जलपात्र मे बचे हुए जल को उसी में रहने दिया, उसे गिराया नही, जैसा कि साधारणत करने का नियम था। इस छोटी सी त्रुटि पर एक भिक्षु को आपत्ति हुई। उसने अपने पक्षपाती भिक्षुओ और उपासको को अपने समर्थन के लिए एकत्र किया और दोषी भिक्षु को सघ द्वारा 'उक्खेपन' (स०—उत्क्षेपण) का दड दिलाने का निश्चय किया। दोषी भिक्षु ने भी, जो एक बहुत बडा विद्वान् था, अनेक भिक्षुओ और उपासको का समर्थन प्राप्त किया और यह प्रख्यापित किया कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है, अत 'उक्खेपन' अवैध है। दोनो पक्ष के लोगो ने सघ के कृत्यो का एक साथ मिलकर सपादन करना अस्वीकार कर दिया, जिससे सघ-भेद होने की आशका उपस्थित हो गई, जिसे बुद्ध ने पितृघात के तुल्य पाँच महापातको में से एक बतलाया है। एक दल ने उपोसथ-सभा विहित सीमा के भीतर की और दूसरे ने उसके बाहर। बुद्ध ने दोनो को समझाया कि 'तुम लोग मेरे बनाए हुए नियमो का उल्लघन कर रहे हो और इस प्रकार सघ की एकता भग कर रहे हो।' इसपर दोनो दलो ने धार्मिक कृत्यो को तो सीमा के भीतर करना आरभ कर दिया, परन्तु उनके बीच कटुता बढती ही गई। उन्हे परस्पर दोषारोपण करने मे रोकने और

उन्हें प्रबोध देने के लिए बुद्ध ने उन्हें कोसल के पूर्वकालीन राजा दीघीति की कथा सुनाई, परंतु उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इनसे क्षुब्ध होकर बुद्ध ने उन स्थान को छोड़ दिया और वहाँ से वे बालकलोणाकार ग्राम चले गए। फिर वे पाचीन वनदाय गए जहाँ उनकी अनुरुद्ध, नंदिय और किंबिल से भेंट हुई, जो एक साथ मेल से रहते और आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधना करते थे। वहाँ से वे पारिलेय्यक वन में गए, जहाँ एक हाथी उनकी सेवा करता था। फिर वे सावत्थी जाकर जेतवन में ठहर गए। कोसंबी के उपासकगण वहाँ के झगडालू भिक्षुओं से बहुत रुष्ट हो गए। उन्होंने उनका आदर करना और उन्हें भिक्षा देना बंद कर दिया। इससे उन भिक्षुओं की बुद्धि ठिकाने आ गई और वे बुद्ध से अपने विवाद का समाधान कराने के लिए सावत्थी गए। उस समय जेतवन में बुद्ध के प्रमुख शिष्यगण—सारिपुत्त, महामोग्गलान, महाकस्सप, महाकच्चान, महाकोट्ठिल, महाकप्पिन, महाचुंड, अनुरुद्ध, रेवत, उपालि, आनंद, राहुल तथा महापजापति गोतमी—विद्यमान थे। उन्होंने और अनाथपिंडिक तथा विसाखा ने सुना कि कोसंबी-विवाद के दोनों पक्षों के भिक्षु बुद्ध के पास आ रहे हैं। बुद्ध ने उन्हें निम्नलिखित अठारह प्रकार के अधर्मी भिक्षुओं से सावधान किया—

वे भिक्षु जो (१) मिथ्या सिद्धांतों को सत्य समझकर मानते हैं,

(२) सत्य सिद्धांतों को मिथ्या समझते हैं,

(३) विनय के मिथ्या नियमों को सत्य मानते हैं,

(४) सत्य नियमों को मिथ्या मानते हैं,

(५) तथागत के वचनों को उनके वचन नहीं मानते (६) जो वचन तथागत के नहीं हैं उन्हें उनके वचन मानते हैं,

(७,८) तथागत द्वारा विहित कर्मों को उनके द्वारा विहित नहीं मानते, और जो तथागत द्वारा विहित नहीं हैं उन्हें उनके द्वारा विहित मानते हैं,

(९,१०) तथागत के उपदेशों को अन्य का और अन्य के उपदेशों को तथागत का मानते हैं

(११,१२) अपराधों को अपराध नहीं मानते और जो अपराध नहीं हैं उन्हें अपराध मानते हैं,

(१३,१४) साधारण अपराध को गंभीर और गंभीर अपराध को साधारण मानते हैं,

(१५,१६) अपराध को उसका अपवाद और अपवाद को अपराध मानते हैं;

(१७, १८) बड़े अपराध को छोटा और छोटे को बड़ा मानते हैं।

आगे बुद्ध ने यह भी बतलाया कि किस प्रकार भिक्षुओ का झगडा निपटाना और सघ की एकता को अक्षुण्ण रखना चाहिए।

जेतवन में रहते हुए बुद्ध ने विनय के अतिम नियम बनाए, जिनमें उन्होने भिक्षुओं द्वारा कर्तव्यो के उल्लघन को रोकने के लिए कई सघीय दडो का विधान किया। वे दड इस प्रकार है—

(१) तज्जनिय (अविश्वास) और निस्सय (गुरु की अवेक्षा के अधीन रहना),
(२) पव्वाजनिय (अस्थायी रूप से विहार से निष्कासन),
(३) पटिसारनिय (क्षमा माँगने के लिए कहना),
(४) उक्खेपनिय (निलबन)।

(१) **तज्जनिय**—सावत्थी में और उसके आसपास बहुत से झगडालू भिक्षु रहते थे। उनका एक दल पडुलोहितक कहलाता था जो प्राय अन्य भिक्षुओ से झगडा ठान लिया करता था। इससे आए दिन सघ में कलह उपस्थित हो जाता था। बुद्ध ने उन्हें भिक्षु बने रहने के अयोग्य घोपित किया और उनके लिए तज्जनिय कम्म (स० तर्जनीय कर्म) का विधान किया। इसके अनुसार अपराधी व्यक्ति को पहले चेतावनी देनी चाहिए, फिर उसे उसके अपराधो का स्मरण कराना चाहिए और तब उसपर दोपारोपण करना चाहिए। यह कर्म उसकी उपस्थिति में सपादित किया जाना चाहिए। उससे उसके अपराध के सबध में प्रश्न करना और उसे दोष का ज्ञान कराना चाहिए। तज्जनिय कम्म द्वारा दडित भिक्षु को प्रव्रज्या देने, श्रामणेरो को अपनी सेवा में रखने और भिक्षुओ एव भिक्षुणियो के समक्ष प्रवचन करने का निपेध कर दिया जाता था (२,५)। परतु यदि वे अपना आचरण सुधार लेते और सघ से अपने ऊपर लगाई गई रोक हटा लेने की प्रार्थना करते थे तो वे पुन सघ में प्रविष्ट कर लिए जाते थे। यही दड उन भिक्षुओ को भी दिया जाता था जो गृहस्थो से बहुत अधिक सपर्क बढाते थे।

यदि उक्त प्रकार से दडित भिक्षु सघ के किसी कृत्य मे भाग ले तो फिर उसे निस्सय कम्म द्वारा दड देना चाहिए और उसे एक गुरु वा शिक्षक के अधीन कर देना चाहिए, जिनकी देखरेख में वह उसके अनुदेशो के अनुसार आचरण करे। इस दड को देने की प्रक्रिया वही थी जो ऊपरवाले दड की।

(२) **पव्वाजनिय**—सावत्थी के निकटवर्ती किटागिरि स्थान के भिक्षुओं ने कई गभीर अपराध किए। उनके लिए बुद्ध ने पव्वाजनिय दड का विधान किया। इसके अनुसार अपराधी भिक्षु को विहार के भीतर नही रहने दिया जाता था। इस दड को

देने तथा इससे अपराधी को मुक्त करने की प्रक्रिया वही थी जिसका विधान तज्जनिय कम्म मे किया गया है।

(३) पटिसारनिय—मच्छिकासड के भिक्षु सुधम्म ने एक बार एक सज्जन उपासक चित्तगहपति की निंदा की। बुद्ध ने उसे डाँटा और उसके-जैसा अपराध करने-वाले भिक्षुओ के लिए पटिसारनिय कम्म का विधान किया। इस कर्म का सपादन भी पूर्वोक्त कर्म की भाँति किया जाना चाहिए। अपराधी भिक्षु उसी अवस्था में दोष-मुक्त किया जा सकता है जब वह अपमानित गृहस्थ से क्षमा माँग ले।

(४) उक्खेपनिय—कोसबी के छन्न भिक्षु ने कोई अपराध किया, परतु वह अप-राध को स्वीकार नही करता था। ऐसे लोगो के लिए बुद्ध ने उक्खेपनिय कम्म का विधान किया। इस कर्म का सपादन भी पूर्वोक्त कर्मों की भाँति किया जाता था। दडित भिक्षु को विहार से बाहर चले जाने की आज्ञा दी जाती थी। अन्य भिक्षुओ को उसके प्रति आदर और शिष्टता का व्यवहार करने का निषेध था। उसपर लगाए गए अन्य प्रतिबध पूर्वोक्त कर्मों-जैसे ही है। यही दड उन भिक्षुओ को भी दिया जाता था जो अरिट्ठ के समान इस प्रकार की भ्रात धारणाएँ रखते थे कि बुद्ध ने निर्वाण के मार्ग में जिन बाधाओ का वर्णन किया है वे सर्वथा सत्य नही हैं।

सावत्थी में रहते समय बुद्ध ने अन्य सघीय दडो का भी विधान किया, जो इस प्रकार है—

(१) परिवास (परीक्षाधीन रखा जाना)—इसके अनुसार भिक्षु को एक निश्चित काल के लिए सघ के कोई कृत्य करने की अनुज्ञा नही दी जाती थी और अन्य भिक्षु उसके प्रति आदर और शिष्टता प्रदर्शित नही करते थे।

(२) मानत्त—यह भी पूर्वोक्त दड के समान ही है, केवल परीक्षा-काल इसमें छ ही दिनो तक सीमित होता था।

(३) मुलायपटिकस्सना—यह दड उस भिक्षु को दिया जाता था जिसे परिवास का दड दिया जाने पर भी वह उसके प्रतिबधो का पालन नही करता था। ऐसी अवस्था में उसके द्वारा बिताया गया परीक्षा-काल व्यर्थ करके उसे फिर से आरभ किया जाता था।

दडकम्म तथा आवरण—बुद्ध ने वेसाली में भिक्षुणी-सघ बनाने की स्वीकृति दी थी और उन्होने स्त्रियो पर आठ प्रतिबध लगाए थे भिक्षुणियो के लिए विनय के वे सभी नियम पालनीय थे जिनका पालन भिक्षुओ के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी थे, जो भिक्षुओ को भिक्षुणियो से अलग रखने तथा कुछ ऐसे धार्मिक कृत्यो से सबधित थे जिनमे भिक्षुणियो को भिक्षुओं से निदेश

लेने पडते थे। सावत्थी मे कुछ भिक्षुओ के विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि वे भिक्षुणियो से अनुचित व्यवहार करते है। बुद्ध ने इस प्रकार के दुर्व्यवहारो को रोकने के लिए कुछ नियम बनाए, जिनके अनुसार अपराधी भिक्षुओ को 'दडकम्म' द्वारा दडित किया जाता था। इस कर्म के अनुसार अपराधी भिक्षु, भिक्षुणियो का अभिवादन पाने के लिए अपात्र घोपित कर दिए जाते थे। यदि भिक्षुणियाँ इस प्रकार के अपराध में दोपी पाई जाती थी तो उन्हें 'आवरण' द्वारा दडित किया जाता था, अर्थात् उनका भिक्षुओ के विहार में प्रवेश करना निपिद्ध कर दिया जाता था। यदि वे इसका उल्लघन करती तो उन्हें चेतावनी (ओवाद) दी जाती थी और वे उपोसथ सभाओ से निष्कासित कर दी जाती थी (२,२६२)।

सावत्थी में बुद्ध ने भिक्षुणियो के लिए यह विशेप उपवध किया कि यदि वे मार्ग की आपदाओ के कारण उच्च दीक्षा के लिए भिक्षुओ के विहार में न जा सकें तो उन्हें उनकी अनुपस्थिति मे प्रतिनिधि द्वारा दीक्षा दी जाय (२,२७७)।

यद्यपि भिक्षुणियो के सबध में अन्य नियम कोसल के बाहर बनाए गए, किंतु 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' के मपूर्ण नियम मावत्थी में ही सकलित किए गए थे।

पातिमोक्ख

यह पहले कहा जा चुका है कि पातिमोक्खसुत्त के २२७ नियमो मे से १९८ उस समय बनाए गए थे जब बुद्ध सावत्थी में तथा वाराणमी, कोसबी एव कपिलवत्थु में निवास करते थे। 'पाराजिक' नाम का प्रथम खड मगध के वेमाली नामक स्थान मे बनाया गया था। 'पाराजिक' के अपराध का दोपी भिक्षु-सघ से निष्कासित कर दिया जाता था और उसे उपामक (गृहस्थ) बनने के लिए विवश किया जाता था। दूमरे खड 'मघादिसेस' में तेरह नियम थे, जिनमे से नौ सावत्थी मे बनाए गए थे। इन नौ में मे प्रथम पांच नियमो का मबध भिक्षुओ द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन न किए जाने की सभावना से है। पहले नियम मे जानबूझकर स्वय (अप्राकृतिक कर्मो द्वारा) ब्रह्मचर्य नष्ट करने, दूमरे, तीसरे और चौथे मे मैथुन की इच्छा से किमी स्त्री को गुप्त रूप से सकेत करने और पांचवें में अनैतिक कर्म के लिए किमी पुरुप एव स्त्री के बीच दूत का कार्य करने का निपेध किया गया है। छठा नियम यद्यपि राजगृह मे बनाया गया था, किंतु उसके निर्माण के कारण कुछ आलविक भिक्षु थे, जिन्होने एक गृहस्थ को अपने निमित्त एक विहार बनवाने के लिए तैयार कर लिया, परतु उमका निर्माण-कार्य पूरा करने के लिए उन्होंने कई वस्तुएँ अन्य गृहस्थो मे मांगी। छठे नियम मे इम प्रकार गृहस्थो से वस्तुओ

के माँगने का निषेध किया गया है। सातवाँ नियम भिक्खु छन्न के कारण बनाया गया था, जिसने कोसवी में विहार बनवाने के लिए एक अनुचित स्थान चुना था। यह विहार उसका एक उपासक बनवाना चाहता था। चुने गए स्थान पर एक वृक्ष था, जिसे वहाँ के लोग पवित्र मानते थे और जिसके काटे जाने पर उन्हें आपत्ति थी। अत इस नियम में यह विधान किया गया कि विहार के लिए स्थान का चुनाव भिक्खुओ की एक समिति किया करे। बारहवाँ नियम भी छन्न भिक्खु के दुराग्रह के कारण बनाया गया था, क्योकि वह कहता था कि 'मैं विनय के नियमो के पालन में स्वतत्र रहना चाहता हूँ, उसमे अन्य भिक्षुओ का उपदेश वा हस्तक्षेप मैं नही सहन कर सकता'। बारहवें नियम में इस प्रकार के दुराग्रह के लिए यह विधान किया गया है कि पहले ऐसे भिक्षु को तीन बार तक अवसर दिया जाय कि वह अपना दुराग्रह छोड दे, फिर न मानने पर, उसपर 'सघादि-सेस' का दोषारोपण किया जाय। तेरहवाँ नियम किटागिरि के भिक्षुओ के कारण बना था, जो स्वच्छद रूप से गृहस्थों के साथ मिलते-जुलते थे और ऐसे कार्य करते थे जो भिक्षुओ के लिए वर्जित थे। इस नियम के अनुसार पहले दोषी पाए जानेवाले भिक्षु की कुप्रवृत्तियो को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए, और इसमें सफलता न मिलने पर उसपर 'सघादिसेस' का अपराध लगाया जाना चाहिए।

'सघादिसेस' के अपराधी भिक्षु को उचित दड प्राप्त करने के लिए भिक्षुओ की एक समिति के समक्ष उपस्थित होना पडता था। दड भोग लेने के पश्चात् वह दोष-मुक्त होने तथा सघ के अधिकारो को पुन प्राप्त करने के लिए पुन. उस समिति के समक्ष उपस्थित होता था।

तृतीय अर्थात् 'अनियत' खड मे केवल दो नियम है। इस खड के शीर्षक से यह प्रकट है कि यदि किसी पर कोई ऐसा अपराध लगाया गया है जिसका किया जाना सदिग्ध है, तो जाँच करके यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि वह अपराध किन परिस्थितियो में किया गया है। इस खड के अतर्गत दिए गए दोनो नियम सावत्थी मे विशाखा के कारण बनाए गए थे, जो उस समय वृद्ध हो गई थी। विशाखा ने एक बार उदायि भिक्खु के एकात में एक स्त्री के साथ बैठकर उससे बातचीत करने पर आपत्ति की थी। परन्तु ऐसी अवस्थाओ में कभी-कभी ऐसा होता था कि जिस स्त्री के साथ कोई भिक्षु बातचीत करता पाया जाता था वह उसकी माता, भगिनी अथवा कन्या होती थी, अत उनका उससे बात करना कोई अपराध नहीं होता था। इस कारण इस नियम में यह विधान किया गया कि ऐसे विषयो में परिस्थिति की जाँच कर ली जाया करे।

चतुर्थ खड में तीस निस्सग्गिय पाचित्तिय नियम है, जिनमें यह विधान किया गया है

कि भिक्षु निषिद्ध वस्तु का त्याग (नैसर्गिक) कर दे और उसे ग्रहण करने के अपराध के लिए खेद प्रकट करे (पाचित्तिय=पातयन्तिक=प्रायश्चित्तिक)। इस खड के तीस नियमो में से तेईस उत्तर प्रदेश के भीतर, सावत्थी तथा अन्य स्थानो में, बनाए गए थे।

एक बार आनद को एक अधिक चीवर प्राप्त हुआ और उसे उन्होने सारिपुत्त को देना चाहा, जो उस समय साकेत में थे। बुद्ध ने आनद को उस अधिक वस्त्र को दस दिनो तक अपने पास रखने की अनुमति दे दी, जिसके पश्चात् सारिपुत्त सावत्थी में आनेवाले थे। तब से यह नियम बना दिया गया कि कोई भिक्षु अधिक से अधिक दस दिनो तक अपने पास अपनी आवश्यकता से अधिक वस्त्र रख सकता है। इस खड के अन्य नियम, जो सावत्थी मे बनाए गए, इस प्रकार हैं—

(क) कोई भिक्षु कही जाते समय केवल दो वस्त्र पहनकर, तीसरे को किसी अन्य व्यक्ति के पास छोडकर, प्रस्थान न करे।

(ख) यदि चीवर बनाने के लिए वस्त्र कम पड रहा हो तो और वस्त्र पाने की प्रतीक्षा में कोई भिक्षु 'कठिन' के कृत्य के पश्चात् एक मास से अधिक अपने पास उस वस्त्र को न रखे।

(ग) कोई भिक्षु अपने मैले वस्त्रो को किसी ऐसी भिक्षुणी से न धुलवाए जिससे उसका कोई निकट का नाता न हो। विनिमय के अतिरिक्त अन्य किसी अवस्था में वह किसी भिक्षुणी का दिया हुआ वस्त्र स्वीकार भी न करे।

(घ) कोई भिक्षु किसी ऐसे गृहस्थ से वस्त्र अथवा अन्य कोई वस्तु न माँगे जो उसका सबधी न हो। परतु अत्यावश्यक होने पर, अर्थात् ऐसी स्थिति मे जब उसका वस्त्र वा कोई अन्य वस्तु खो गई या चोरी चली गई हो, अपवादस्वरूप वह अन्य गृहस्थ से भी माँग सकता है, पर प्रतिबंध यह है कि दो वस्त्र (अतरवासक और उत्तरासग) से अधिक न माँगे।

उपनद भिक्खु ने धर्म-प्रवक्ता के रूप मे बडी प्रसिद्धि प्राप्त की और उनके बहुत से उपासक हो गए, जिनमे अनेक सपन्न गृहस्थ थे। उन उपासको से उन्हें प्रचुर वस्त्र एव धन प्राप्त हुआ। ऐसी स्थितियो के लिए बुद्ध ने ये नियम बनाए—

(क) यदि कोई गृहस्थ किसी भिक्षु को वस्त्र दान करना चाहे तो भिक्षु उससे किसी विशेष प्रकार के वस्त्र के लिए अपनी इच्छा न प्रकट करे।

(ख) यदि किसी भिक्षु के वस्त्र बनवाने के लिए कोई गृहस्थ दर्जी को वस्त्र या रुपए दे और दर्जी नियत समय पर वस्त्र सीकर न दे तो वह भिक्षु अधिक से अधिक छ बार तक उस दर्जी के पास जा सकता है, परतु वह दर्जी से कुछ कहे नही, केवल जाकर

चुपचाप उसके पास खडा हो जाय। यदि फिर भी वस्त्र न प्राप्त हो तो भिक्षु को वस्त्र वा रुपए दर्जी से वापस ले लेने के लिए इसकी सूचना दाता गृहस्थ को दे देनी चाहिए। जब वस्त्र दर्जी को सीने के लिए दिया जाय तो भिक्षु को उससे यह नहीं कहना चाहिए कि वस्त्र इतने लबे या चौडे हो, या सफाई से सिए जायें, इत्यादि।

भिक्षुओ के लिए आसनी बनाने में रेशम का प्रयोग निषिद्ध था। यदि आसनी भेड के ऊन की हो तो उसमें आधा ऊन काला, एक चौथाई सफेद और एक चौथाई भूरा होना चाहिए। एक आसनी का उपयोग कम-से-कम छ. वर्ष तक करना आवश्यक था। आसनी और चटाई बनाने के विषय में ऐसे और भी कई अनुदेश दिए गए हैं।

सावत्थी में बनाए इस खड के अन्य नियम इस प्रकार हैं—

(क) कोई भिक्षु वस्तुओ के क्रय-विक्रय का कार्य न करे, न अपने हाथ से सोने और चाँदी का स्पर्श करे।

(ख) कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त भिक्षापात्र दस दिन से अधिक न रखे, न तब तक अपना भिक्षापात्र बदले जब तक कम-से-कम पाँच बार उसकी मरम्मत न हो चुकी हो।

(ग) कोई भिक्षु एक सप्ताह से अधिक अपने पास चिकित्सा की सामग्री सचित न करे।

पचम खड में पाचित्तिय के ९२ नियम हैं, जिनके अनुसार भिक्षु को दोषमुक्त होने के लिए भिक्षु-पचायत के सामने अपना अपराध स्वीकार करना चाहिए। इनमें से अस्सी नियम सावत्थी तथा उत्तर प्रदेश के अन्य स्थानों में बनाए गए थे।

हत्यक भिक्षु ने शास्त्रार्थ में अन्य सप्रदायवालो से पार न पाने के कारण असत्य भाषण करना प्रारभ किया। बुद्ध ने इसके लिए हत्यक की भर्त्सना की और यह नियम बनाया कि जान-बूझकर असत्य भाषण करना पाचित्तिय अपराध है। अन्य विभिन्न अवसरो पर उन्होंने और भी कई नियम बनाए, जैसे भिक्षु किसी की निंदा न करे और वह भिक्षु के अतिरिक्त अन्य किसी के पास दो रात से अधिक शयन न करे।

बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य अनुरुद्ध को एक ऐसे स्थान पर सोना पडा जहाँ एक स्त्री थी। उस स्त्री ने उन्हें अपने जाल में फँसाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह उनके मन को अपनी ओर आकर्षित करने में असफल रही। अनुरुद्ध ने जब इस घटना की सूचना बुद्ध को दी तो उन्होंने नियम बना दिया कि कोई भिक्षु उस कमरे में न सोया करे जिसमें कोई स्त्री सोती हो, न वह किसी स्त्री को ऐसा उपदेश दे जिसमें उसे पाँच शब्द से अधिक बोलना पडे।

आलवी और कोसबी मे बुद्ध ने भिक्षुओ को धरती खोदने, पेड काटने और अस्पष्ट वा सदिग्ध भाषण करने का निषेध किया। सावत्थी मे उन्होने विहार के उपस्करो का उपयोग करने तथा कोसबी में कुटी छाने के सबध मे कुछ अनुदेश दिए। आलवी मे उन्होने भिक्षुओ को आदेश दिया कि वे असावधानता से ऐसे जल का उपयोग न करे जिसमे कीडियाँ पड गई हो। सावत्थी और कपिलवत्थु में उन्होने भिक्षुओ को सावधान किया कि वे (क) भिक्षुणियो को उपदेश न दें, (ख) भिक्षुणियो को वस्त्र न दे, (ग) भिक्षुणियो से वस्त्र न सिलवाएँ, (घ) एक ही सडक पर वा एक नाव में भिक्षुणियो के साथ यात्रा न करे और (ङ) किसी भिक्षुणी के पास न बैठें। सावत्थी मे उन्होने इस विषय पर कुछ उपदेश दिए कि भिक्षुओ को क्या और कितना भोजन करना चाहिए और किसी उपासक के घर भोजन करते समय भिक्षुओ के परस्पर क्या कर्तव्य है।

एक बार राजा पसेनदि ने भिक्षुओ को सैनिक योग्या का प्रदर्शन देखते हुए पाया। राजा को यह अनुचित प्रतीत हुआ और उसने बुद्ध को इसकी सूचना दी। तब बुद्ध ने भिक्षुओ का सैनिको से मिलना या सैनिक प्रदर्शन देखना निषिद्ध कर दिया। इस खड के कुछ अन्य नियम ये है—(क) भिक्षुओ को हास-परिहास नही करना चाहिए, (ख) अपने वस्त्रो की पहचान के लिए उनपर रग से कोई चिह्न बना देना चाहिए, (ग) किसी दूसरे भिक्षु के लिए रखे हुए वस्त्रो वा अन्य वस्तुओ का उपयोग नही करना चाहिए, (घ) कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे किसी भी जीव को कोई कष्ट पहुँचे, चाहे वह जीव कितना ही छोटा क्यो न हो, (ङ) धर्म के उपदेशो तथा विनय के नियमो की, चाहे वे बडे हो या छोटे, तनिक भी अवज्ञा नही करनी चाहिए, (च) आपस में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए और (छ) राजा के शयनगृह मे प्रवेश करना वा वहाँ की कोई बहुमूल्य वस्तु छूना नही चाहिए।

षष्ठ खड अर्थात् 'पाटिदेसनिय' के अतर्गत चार नियम है। इनके अनुसार इनमें उल्लिखित अपराधो का करनेवाला भिक्षु उन अपराधो को स्वीकार कर लेने मात्र से दोष-मुक्त कर दिया जाता था। सावत्थी और कपिलवत्थु मे बनाए गए तीन नियमो मे यह उपदेश दिया गया है कि किसी भिक्षु को (क) किसी ऐसी भिक्षुणी के भोजन में से जिससे उसका कोई नाता न हो, (ख) उस भोजन मे से जो किसी उपासक के घर मे भिक्षुओ के लिए प्रस्तुत किया गया हो, अथवा (ग) उस भोजन में से जो किसी अरण्य-वासी भिक्षु को किसी उपासक द्वारा दिया गया हो, कोई सामग्री बिना दिए, स्वय अपने हाथ मे ग्रहण नही करनी चाहिए।

सप्तम खड अर्थात् 'सेखिय' वा प्रस्तावना मे पचहत्तर नियम हैं। इनमें अपराधो का विवरण नही, प्रत्युत भिक्षुओ की दैनिक जीवनचर्या में उनके मार्ग-प्रदर्शन के लिए अनुदेश दिए गए हैं। इनमें से केवल एक को छोडकर शेष सभी नियम श्रावस्ती में बनाए गए थे।

आरभ के पचीस नियमो में भिक्खुओ को यह अनुदेश दिया गया है कि उन्हें गृहस्थो के घरो में किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए। उनके बाद के पैंतीस नियमो (२६–६०) में उन्हें यह बतलाया गया है कि उन्हे किस प्रकार बिना किसी को अप्रसन्न किए भोजन करना तथा भोजन करते समय एव भोजन के पश्चात् किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। ६१ तथा ६२ सख्यक नियमो मे भिक्षुओ को रोगी के कमरे मे जूते पहिनकर जाने का निषेध किया गया है और ६३ से ७२ तक के नियमो में उन स्थानो और परिस्थितियो का उल्लेख किया गया है जिनमें उपासको को उपदेश नही देना चाहिए। नियम स० ७४ और ७५ में हरी घास पर वा जल में शौचादि करने का निषेध किया गया है।

इस खड मे दिए गए नियमो में सदाचरण के सबध मे सामान्य अनुदेश दिए गए हैं, इस कारण इनके उल्लघन के लिए किसी प्रकार के दड का विधान नही किया गया है।

अतिम खड 'अधिकरण-समथ' में किसी विवाद के निर्णय से सबधित नियम दिए गए हैं। इन नियमो का निर्माण कोसबी में हुआ था। बुद्ध ने विनय के नियमो के पालन से सबधित विवादो का निर्णय करने की सात रीतियाँ बतलाई हैं।

प्रथम (सम्मुखविनय) रीति यह है कि यदि किसी भिक्षु का अन्य भिक्षुओ से किसी विषय पर मतभेद हो तो उसके विषय मे समाधान एव निर्णय के लिए उसे सघ के समक्ष उपस्थित होने अथवा ग्रथो का अवलोकन करने, अथवा अपने विरोधियो का प्रतिवाद करने का आदेश देना चाहिए। द्वितीय रीति 'सति विनय' है, जिसका उपयोग उस अवस्था में किया जाता है जब किसी भिक्षु पर अन्य भिक्षुओ द्वारा दोषारोपण किया गया हो, किंतु वह कहता हो कि मैंने कोई अपराध नही किया है। ऐसी स्थिति में भिक्षु को यह प्रख्यापित करने का आदेश दिया जाता है कि 'जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैं निर्दोष हूँ।' तृतीय अर्थात् 'अमूढ विनय' में यह विधान है कि अपराधी भिक्षु सघ के समक्ष उपस्थित होकर यह स्वीकार करे कि 'अपराध करने के समय मेरा पुण्य नष्ट हो गया।' चतुर्थ (पतिञ्ञा) में यह आदेश हैं कि जिस भिक्षु पर स्पष्ट और निश्चित आधार पर दोषारोप किया गया हो वह अपने अपराध को स्वीकार करे। पञ्चम (ये-भुय्यासिका) में यह विधान है कि जिन भिक्षुओ के बीच कोई विवाद उपस्थित हो वे

उस विवाद को भिक्षुओ की बडी सभा के समक्ष प्रस्तुत करें और उसका निर्णय मतदान (शलाका) द्वारा किया जाय। पष्ठ (तस्सपापिय्यस्सिका) मे ऐसे विपयो पर विचार किया गया है जिनमें कोई भिक्षु पहले तो अपने द्वारा किए गए अपराध को स्वीकार कर लेता है परतु पीछे उससे मुकर जाता है। ऐसी अवस्था में सघ को उसे अपराधी घोपित कर समुचित दड देना चाहिए। अतिम नियम (तिणवत्थारक) में यह विधान है कि किसी ऐसे अपराध पर जो भिक्षुओ के किसी वर्ग द्वारा किया गया हो, परतु जिसे उन्होने स्वीकार कर लिया हो, खुली सभा मे विचार न किया जाय।

'भिक्खुणी पातिमोक्ख' मे उपर्युल्लिखित प्राय सभी नियमो का समावेश तो किया ही गया है, उसके प्रथम (पाराजिका), द्वितीय (सघादिसेस), पचम (पाचित्तिय) तथा पष्ठ (पाटिदेसनिय) खडो में कुछ और नियम भी जोड दिए गए हैं। परतु उन नियमो को इस रूप में रखा गया है कि विशेष रूप से स्त्रियो द्वारा किए गए नियम-भग के विपयो में उनका प्रयोग किया जा सके।

अध्याय १२

उपगुप्त और अशोक

अभी तक हमने बौद्ध धर्म के अशोक-पूर्व काल के इतिहास तथा उपदेशो का विवरण प्रस्तुत किया है। यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् बौद्ध-सघ थेर-(स्थविर)वाद और महासघिक—इन दो सप्रदायो में बँट गया। पहला सप्रदाय विशुद्ध प्राचीन बौद्ध विचारो का प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा प्रगतिशील विचारो का, जिससे आगे चलकर बौद्ध मत की महायान शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। परतु महायान मत का विकास उत्तर प्रदेश में नही हुआ। आरभ मे इसका केंद्र दक्षिण में आध्र देश में था। पीछे इसके कई केंद्र कश्मीर, गधार और मध्य एशिया में स्थापित हुए। हाँ, उत्तर प्रदेश में बौद्ध मत की एक अन्य शाखा का विकास अवश्य हुआ, जिसके सिद्धात विशुद्ध प्राचीन थेरवाद से किंचित् भिन्न थे। इसका सिद्धात 'सर्वास्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक हीनयानी सप्रदाय था, जो पाली के स्थान पर सस्कृत भाषा का व्यवहार करता था। चीनी तथा यूरोपीय विद्वानो ने इसके सिद्धात को 'यथार्थवाद' कहा है। नागार्जुन, असग और वसुबधु-जैसे प्रसिद्ध महायानी दर्शन-पडितों ने सर्वास्तिवाद की तीव्र आलोचना की। उन्होंने इसे 'अ-यथार्थवाद' (शून्यता) एव 'आदर्शवाद' (विज्ञप्तिमात्रता) कहा।

सर्वास्तिवादियो ने आरभ मे मथुरा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और बाद में यही से वे गधार, कश्मीर और अत में मध्य एशिया, चीन तथा अन्य देशो में गए। सर्वास्तिवादियो द्वारा मथुरा को अपना केंद्र बनाने के सबध में निम्नलिखित कथा प्रसिद्ध है—

सिंहली इतिहासो के अनुसार, सम्राट् अशोक को उनके भतीजे निग्रोध सामणेर ने बौद्धधर्मानुयायी बनाया। बौद्ध होने के पश्चात् सम्राट् उन उच्छृखल ब्राह्मणों से रुष्ट हो गए जिन्हें उनके पिता के समय से ही राजप्रासाद मे प्रतिदिन भोजन कराया जाता था और उन ब्राह्मणो के स्थान पर उन्होंने सदाचारी एव सयमी बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराने की आज्ञा दी। वे उस समय के श्रेष्ठ भिक्षु मोग्गलिपुत्त तिस्स से मिले, जिनसे उन्हें ज्ञात हुआ कि बुद्ध द्वारा दिए गए कुल चौरासी प्रवचन हैं। तब सम्राट् ने स्थपतियो को अपने साम्राज्य भर में ८४,००० विहार और स्तूप बनाने की आज्ञा दी

और इस कार्य मे उन्होने अपार धन व्यय किया। उन्होने स्वय पाटलिपुत्त मे इदगुप्त की देखरेख में अशोकाराम का निर्माण कराया। उन्होने नागराज महाकाल से बुद्ध की एक मूर्ति भी बनवाई। विहारो और स्तूपो के निर्माण का कार्य तीन वर्षो में सपन्न हुआ। जिन-जिन स्थानो को बुद्ध ने अपने चरणो से पवित्र किया था उनमे अशोक ने स्तूपो का निर्माण कराया। यत बौद्ध सघ को दिए गए अपने इन मुक्तहस्त दानो से सम्राट् सघ के दाता ('दायक') बन सके, 'दायाद' नही, इस कारण उन्होने अपने पुत्र महिंद तथा अपनी पुत्री सघमित्ता को भिक्षु और भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दी और उन्हे सिहल में बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य सौपा।

इसी समय पाटलिपुत्त के भिक्षुओ मे पारस्परिक विवाद और वैमनस्य बहुत बढ गया, जिससे अत्यत क्षुब्ध होकर मोग्गलिपुत्त तिस्स नगर छोडकर बाहर चले गए और सात वर्ष तक 'अहोगग' के निकट एक पहाडी पर रहे। पाटलिपुत्त के अशोकाराम में सात वर्ष तक उपोसथ का आयोजन नही हो सका। भिक्षुओ में विवाद मूलत इस कारण हुआ कि अशोक के समय मे बौद्ध धर्म के कई सप्रदाय हो गए थे और विनय के कुछ नियमो के सबध में उनमे मतभेद हो गया था, जिसके कारण एक सप्रदाय के अनुयायी दूसरे सप्रदायवालो को उतना शुद्ध और पवित्र नही मानते थे जितना उपोसथ का आयोजन करनेवालो के लिए होना आवश्यक था, इससे वे एक साथ मिलकर तो उपोसथ कर ही नही सकते थे, दूसरी ओर अलग-अलग उपोसथ का आयोजन भी उनके लिए सभव नही था, क्योकि एक ही विहार के भीतर अलग-अलग उपोसथ करने का 'विनय' में निषेध किया गया है। सिंहली इतिहासो के अनुसार, इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए अशोक के तत्त्वावधान में भिक्षुओ की एक सभा हुई और थेरवाद (विभज्जवाद) के सिद्धातो और विनय-नियमो को न माननेवाले सभी भिक्षुओ को वह स्थान छोडकर बाहर चले जाने के लिए विवश किया गया। सस्कृत में सुरक्षित अनुश्रुतियो मे बौद्ध धर्म-परिषद् के इस अधिवेशन का उल्लेख नही है, जिससे प्रकट होता है कि अ-थेरवादियो ने इस परिषद् की मान्यता को स्वीकार नही किया।

हुएन-साग (वाटर्स, १, पृ० २६७) ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिसमे इस घटना पर कुछ प्रकाश पडता है। वह अनुश्रुति इस प्रकार है—राजधानी (पाटलिपुत्त) में ५०० अर्हत् और ५०० अन्य भिक्षु (अनर्हत्) थे। अनर्हतो में एक का नाम महादेव था, जो मथुरा का निवासी था। वह 'अत्यत बुद्धिमान्, विद्वान् तथा नाम एव तत्त्व का सूक्ष्म अन्वीक्षक' था। उसे सम्राट् की सहायता प्राप्त थी। अन्य भिक्षुओ ने उसके मतो को चुनौती दी, और उस स्थान को अपने अनुकूल न पाकर

वे वहाँ से कश्मीर चले गए। पीछे, एक दुष्ट भिक्षु को सहायता देने के कारण अशोक को खेद हुआ और अपनी उस भूल का प्रायश्चित्त उसने कश्मीर मे सदाशय भिक्षुओ के लिए विहार बनवाकर किया।

चीनी यात्री हुएन-साग के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि कुछ भिक्षुओ ने पाटलिपुत्र छोडकर उत्तर में अपना केंद्र स्थापित किया।

सभी अनुश्रुतियो में बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् मध्यान्तिक के कश्मीर जाने और वहाँ बौद्धधर्म का प्रचार करने का उल्लेख पाया जाता है।[1] महावंस (अध्याय १२) मे भी मज्झन्तिक का उल्लेख है, जिसे अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गधार और कश्मीर भेजा था। मध्यान्तिक आनद का शिष्य तथा सानवासिक का समसामयिक था, जो कि पहले आनंद के जेतवन में रहने के समय उनका 'उपासक' था। तिब्बती भाषा में इस अनुश्रुति का रूप कुछ भिन्न है। उस अनुश्रुति के अनुसार बनारस में मध्यान्तिक की ख्याति बहुत बढ गई और उसके पास भिक्षु लोग इतनी अधिक सख्या में एकत्र हो गए कि वहाँ के लोगो के लिए वे भार हो गए और उन्होंने उनका विरोध किया। तत्पश्चात् मध्यान्तिक अपने शिष्यो के साथ उस स्थान को छोडकर मथुरा के निकट उशीर गिरि पर चला गया।

सानवासिक भी सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध उपदेशक हुआ और उसके अनेक शिष्य हुए। सभवत वह मथुरावासियो के आमत्रण पर वहाँ यक्षो का उपद्रव रोकने के लिए गया, जो महामारी फैलाकर देश को उजाड रहे थे।

मथुरा मे बौद्ध धर्म किस प्रकार पहुँचा, इस विषय में मूल सर्वास्तिवाद विनय पिटक मे तथा अशोकावदान के चीनी अनुवाद मे सुरक्षित अनुश्रुति इस प्रकार है[2]—

भगवान् एक बार शूरसेन देश में भ्रमण कर रहे थे। उस देश के विषय मे उन्होने कहा कि यह सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) है, जिसने अपने लिए राजा (महासम्मत) चुना। भगवान् भ्रमण करते हुए मथुरा पहुँचे, जहाँ आनद ने उन्हें उरुमुड नामक पर्वत पर स्थित एक हरा-भरा वन दिखलाया, जो विशुद्ध नील वर्ण का (नीलनीला) दिखलाई पडता था। बुद्ध ने कहा कि मेरे परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् नट और

१. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, भाग १—मम वर्ष शतपरिनिर्वृतस्य मध्यन्दिनो नाम भिक्षुर्भविष्यत्यानन्दस्य भिक्षो. सार्द्धविहारी।

२. 'ए-युवोवाग-त्सुआन' (=अशोकावदान), सघभद्र द्वारा ५०६ ई० में अनुवादित। प्रिजुलुस्की, 'ला लिजेन्द दे ल एम्पेरर अशोक।

भट नाम के दो धनी भाई यहाँ नटभट विहार बनवाएँगे, जो शाति (सामथ) और अतर्दृष्टि (विपश्यना) की कामना करनेवाले भिक्षुओ के ध्यान के लिए बहुत उपयुक्त स्थान होगा। उसी समय एक गंध के व्यापारी का जन्म होगा, जिसका पुत्र उपगुप्त मेरे ही समान महान् धर्मोपदेशक होगा, केवल उसके शरीर में बुद्ध के लक्षण न होगे। वह आनद के शिष्य माध्यन्दिन से दीक्षा ग्रहण करेगा और वह अतिम धर्मोपदेशक होगा। वह अत्यत वृद्ध होकर ससार छोडेगा, जब कि चार अगुल लबी इतनी अधिक लकडियाँ एकत्र हो जायँगी कि उनसे एक १८ हाथ लबी और १२ हाथ चौडी गुफा भर जायगी। वे लकडियाँ उसके वे ही शिष्य एकत्र करेंगे जो अर्हत् होगे, और उन लकडियो का उपयोग उसके शव-दाह के लिए किया जायगा।[1]

जब बुद्ध मथुरा पहुँचे तो वहाँ के ब्राह्मण अप्रसन्न हुए, उन्होने समझा कि बुद्ध के कारण उनकी प्रतिष्ठा घटेगी। वे अपने नेता नीलभूति के पास गए और उससे बुद्ध को अपशब्द कहने की प्रार्थना की। नीलभूति ने उत्तर दिया कि मेरी जिह्वा कभी असत्य भाषण नही करती, वह बुद्ध के विषय में सच्ची बात ही कहेगी। सो उसकी जिह्वा से बुद्ध की प्रशसा के ही शब्द निकले।

कहते हैं कि बुद्ध ने एक बार मथुरा के विषय मे यह कहा था कि इस स्थान के पाँच अवगुण (आदीनवा) हैं—(१) यहाँ के निवासियो में उच्च और नीच कुलो का भेद, (२) झाडियाँ और काँटे, (३) पत्थर और ककडियाँ, (४) स्त्रियो की बहुलता, (५) अनेक मनुष्यो का केवल रात्रि के पिछले प्रहर में भोजन करना।[2] बौद्ध अनुश्रुतियो से प्रकट होता है कि मथुरा यक्षो का प्रिय स्थान था, जो एक उद्धत जाति थी और वहाँ के निवासियो को कष्ट दिया करती थी। एक बार जब उस देश में महामारी फैली तो वहाँ के निवासियो ने उस विपत्ति से त्राण पाने के लिए बुद्ध के पास जाकर सहायता की प्रार्थना की। बुद्ध उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मथुरा गए। वहाँ वे उस स्थान के उपासको के घरो से भिक्षा माँगकर यक्षो के मुखिया गर्दभ के आँगन मे ही भोजन करते थे।

उनकी प्राय यक्षो मे भेट हो जाती थी, जिन्हें उन्होने अपने वश में कर लिया।

१. यह कथा दिव्यावदान (पृ० ३४९) में भी दी हुई है।

२. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स ३, भाग १, पृ० १४-१५—पञ्चेमे भिक्षव आदीनवा मथुरायाम्। कतमे पञ्च? उत्कुल-निकुला स्थाणुकण्टकप्रधाना वहुपाषाणशार्कर-कठल्ला उच्चन्द्रभक्ता प्रचुर मातृग्रामा इति।

बुद्ध की ऐसी शक्ति देखकर वहाँ के निवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उनके अनुरोध पर यक्षो के रहने के लिए कुछ स्थान बनवाना स्वीकार कर लिया। यक्षो ने भी वचन दिया कि भविष्य में वे वहाँ के निवासियो को कष्ट नहीं देंगे।

मथुरा से बुद्ध ओतला होते हुए वैरम गए, जहाँ उन्होंने अपने ५०० शिष्यो के साथ वर्षावास किया। उस समय वहाँ दुर्भिक्ष पड जाने के कारण उस वर्षा में उन्हें भोजन के लिए बहुत कष्ट सहन करना पडा। वैरभ से वे दक्षिण पचाल की राजधानी (?) अयोध्या को गए, जहां वे गगा-तट पर रहे और वही दारुस्कध सूत्र का व्याख्यान किया। अयोध्या से वे साकेत और वहाँ से श्रावस्ती गए। फिर वहाँ से नगरविंद नामक कोसल के एक ब्राह्मण-ग्राम में गए और अत में वैशाली।

पाली अनुश्रुति मे बुद्ध के मथुरा में किए गए उपर्युक्त कार्यों का एकदम उल्लेख नही है, यद्यपि कई ग्रथो में, जिनमें महावग्ग भी है, मथुरा के पश्चिम वेरज (वैरभ) नामक स्थान में उनके जाने का वर्णन किया गया है। इससे प्रकट है कि बुद्ध के मथुरा जाने और मथुरा मे उपगुप्त तथा कश्मीर में मध्यान्तिक एव धीतिक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार तथा कनिष्क द्वारा स्तूपो के निर्माण के सबध में उनके भविष्यवाणी करने की कथा सर्वास्तिवादियो ने अपनी प्राचीनता एव मौलिकता सिद्ध करने के लिए अपनी ओर से जोड ली।

दिव्यावदान (पृ० ३४८) मे बुद्ध के मथुरा जाने का समय उनके परिनिर्वाण (परिनिर्वाणकाल समये) के कुछ पहले बताया गया है, जब उन्होंने उपगुप्त के आविर्भाव के विषय मे भविष्यवाणी की थी, परतु इस विवरण में अतर केवल यह है कि उपगुप्त को बौद्ध-धर्मानुयायी बनाने और दीक्षा देने का श्रेय शाणकवासी नामक एक भिक्षु को दिया गया है। इस सबध में हमें उपलब्ध साक्ष्यो की भ्रामकता के कारण यह निश्चय करना कुछ कठिन है कि (१) उपगुप्त के आध्यात्मिक गुरु मध्यान्दिन थे अथवा शाणकवासी, (२) क्या मध्यान्दिन और अशोक द्वारा नियुक्त धर्मप्रचारक मज्झन्तिक एक ही थे, तथा (३) क्या शाणकवासी द्वितीय बौद्ध परिषद् के प्रसिद्ध भिक्षु सभूत शानवासी थे? प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद कितने ही भिक्षुओ के एक-से और प्राय वही नाम रखे जाते थे। इसके कारण प्राय बहुत भ्रम उत्पन्न हो जाता है, जैसा कि नागार्जुन के नाम के सबध में। अशोकावदान (चीनी अनुवाद) मे कहा गया है कि मध्यान्दिन और शाणकवासी दोनो आनद के शिष्य थे, जिन्होंने वैशाली मे अपने परिनिर्वाण के समय मध्यान्दिन को कश्मीर और शाणकवासी को मथुरा मे जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने का आदेश दिया था। यत मध्यान्दिन का नाम मथुरा की अपेक्षा

कश्मीर में धर्म-प्रचार से अधिक सबद्ध है, इस कारण दिव्यावदान की यह अनुश्रुति अधिक ठीक जान पडती है कि शाणकवासी उपगुप्त के आध्यात्मिक गुरु थे। इस ग्रथ मे उनके बौद्ध सघ मे प्रविष्ट होने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—शाणकवासी उक्त सुगधो के व्यापारी के यहाँ भिक्षा माँगने जाया करते थे। एक दिन वे बिना किसी सामणेर को सग लिए उसके घर गए। यह देखकर उस मसाले के व्यापारी ने उन्हें अपने पुत्रो में से एक को उनके सामणेर के रूप मे देने का वचन दिया। परतु जब उसके पुत्र उत्पन्न हुए तो पहले दो पुत्रो की बार वह अपने वचन का पालन नही कर सका। जब उसका तीसरा पुत्र उपगुप्त उत्पन्न हुआ तब वह शाणकवासी की और अधिक उपेक्षा नही कर सका और उपगुप्त के बडे होने पर उसे उनका सामणेर बनने की अनुमति दे दी। जब उपगुप्त अपने घर रहकर अपने पिता के व्यापार में सहायता करते थे, उन दिनो मथुरा की एक वेश्या वासवदत्ता उन पर आसक्त हो गई थी।

उपगुप्त के सभी जीवनचरितो मे वासवदत्ता की कथा को प्रमुख स्थान दिया गया है। कहा गया है कि वासवदत्ता अतीव सुदरी एव प्रसिद्ध वेश्या थी। वह उपगुप्त पर मोहित हो गई, परतु उसके अपनी दासी के द्वारा बार बार सदेश भेजने पर भी उपगुप्त ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नही की और कहला भेजा कि 'अभी तुमसे मेरे मिलने का उपयुक्त समय नही आया है।' एक दिन वासवदत्ता ने कुछ धनी व्यापारियो का, जो विदेशो से आए थे, अपने यहाँ सत्कार किया। यह सूचना पाकर मथुरा के राजा ने उसे दड दिया और उसकी नाक और कान कटवाकर उसे श्मशान पर छोड़वा दिया। इस प्रकार, जब उसका मुख विकृत हो गया और वह पीडा से कराह रही थी, उसी समय उपगुप्त उसके पास पहुँचे। उन्होने उससे कहा कि 'मेरे आने का उपयुक्त समय आ गया है, इस कारण मैं तुम्हारे पास आया हूँ'। उन्होने मानव-शरीर के दोषो और उसकी क्षणभगुरता के विषय में उपदेश देकर उसे सान्त्वना दी। उसे चार सत्यो का प्रथम बार दर्शन हुआ और उसका पूर्व स्वास्थ्य एव रूप पुन प्राप्त हो गया, परतु अब समस्त सासारिक रागो से उसका मन विरक्त हो गया। उसे उपदेश देने के बाद उपगुप्त को भी 'अनागामी' अवस्था प्राप्त हुई।

इस घटना के पश्चात् शाणकवासी ने उपगुप्त को नटभट-वन विहार मे विधिवत् दीक्षा दी और उपगुप्त अर्हत् हो गए।

उपगुप्त ने बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य आरभ किया और बहुत लोगो को बौद्ध बनाया। उनकी अद्भुत व्याख्यान-कुशलता से मार भयभीत हो गया, क्योकि उनके व्याख्यानो में इतना आकर्षण होता था कि उसके द्वारा प्रयत्न करने पर भी उनके

श्रोताओ की सख्या वढती ही जाती थी और वह उन्हें रोकने मे असमर्थ रहा। उपगुप्त ने मार को अपने वश में कर लिया और उससे वुद्ध का दर्शन कराने के लिए कहा। मार ने उनकी इच्छा पूर्ण की और वे वुद्ध के तेजस्वी रूप का दर्शन कर आनद-गद्गद हो गए।

इसके पश्चात् उन्हें विदित हुआ कि अशोक की इच्छा वुद्ध के चरणो से पवित्र स्थानो पर स्तूप तथा अन्य स्मारक वनवाने की है और वह उनका परामर्श चाहता है। वे गगा-मार्ग से पाटलिपुत्र गए और अशोक से मिले। उन्होंने अशोक को वे सव स्थान वतलाए जो वुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओ तथा उनके प्रमुख शिष्यो के परिनिर्वाण से सवधित थे, और उनके सुझाव के अनुसार अशोक ने उन चुने हुए स्थानो पर स्मारक वनवाए।

उपगुप्त ने वहुत लवी आयु पाई और वहुत अधिक सख्या में लोगो को शिष्य वनाया, जिनमें अनेक अर्हत् हो गए। कहा जाता है कि उनके अर्हत् शिष्यो द्वारा जुटाई हुई छोटी लकडियो की सख्या इतनी अधिक हो गई कि उनसे १८ हाथ लवी और १२ हाथ चौडी एक गुफा भर गई और उन्ही लकडियो से उनके शव-दाह की क्रिया सपन्न हुई।

तारानाथ के अनुसार उपगुप्त ने धीतिक को अपना उत्तराधिकारी चुना। धीतिक उज्जेनी के एक धनी ब्राह्मण का पुत्र था। उसने सकल ब्राह्मण-शास्त्रो का अध्ययन किया और उसके ५०० ब्राह्मण शिष्य हो गए। वह वडी साधु प्रकृति का था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह परिव्राजक हो गया और मथुरा मे जाकर उपगुप्त से मिला। उपगुप्त के व्याख्यानो से वह वहुत प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कुछ समय के पश्चात् उसने वहुत प्रसिद्धि प्राप्त की और वौद्ध धर्म के उपदेशो का प्रचार कश्मीर और गधार तक किया, जहाँ उस समय मेनाडर राज्य करता था, जो उसका उपासक हो गया। वौद्ध धर्म में राजा मेनाडर की आस्था का वर्णन 'मिलिन्दपञ्ह' नामक पाली ग्रथ में स्पष्ट रूप से किया गया है।

वौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सप्रदाय में उपगुप्त का स्थान वहुत ऊँचा था और कई अवदानो मे उनके जीवनवृत्त का विस्तार से वर्णन किया गया है। 'मृगभेरी' और 'व्रतावदानमाला' जैसे वहुत वाद के ग्रथो के लेखक ने उपगुप्त को उन ग्रथो मे वर्णित धार्मिक विधियो और कृत्यो का प्रतिपादक वताया है, जिसका उद्देश्य स्पष्टत उन ग्रथो को अधिक प्रामाणिक वतलाना था। किंतु अवदानो में उपगुप्त को किसी ग्रथ के प्रणयन का श्रेय प्रदान नही किया गया है। केवल 'अभिधर्मकोश-व्याख्या' (२,४४) में उनके 'नेतृपदशास्त्र' ग्रथ का कर्ता होने का उल्लेख इस विवाद के प्रसग में किया गया है कि क्या तथागत को निर्वितर्क समाधि (निरोध-समापत्ति) उस समय प्राप्त हुई जव

वे बोधिसत्त्व के रूप मे अपनी साधना या अभ्यास की अवस्था (शैक्ष) में थे, और उसके पश्चात् उन्हे यह ज्ञान हुआ कि 'यह हमारा अतिम जीवन है' (क्षयज्ञान), अथवा निरोध-समापत्ति और क्षयज्ञान दोनो ही, एक दूसरे के बाद तुरत, उन्हें उनके अतिम जीवन में प्राप्त हुए, जब कि उन्हे बोधि-प्राप्ति हुई। प्रथम मत पाश्चात्य (अर्थात् गधार के) सर्वास्तिवादियो और वैभाषिको का था, और द्वितीय उपगुप्त का, जिसे उन्होंने अपने 'नेतृपदशास्त्र' मे व्यक्त किया। उपगुप्त के इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि वे अवश्य बड़े विद्वान् भिक्षु तथा अनेक ग्रथो के कर्ता थे और उनके विचारो का आदर मथुरा के सर्वास्तिवादियो और वैभाषिको के समान होता था। वाटर्स ने अपने 'युवान च्वाग' नामक ग्रथ (१, पृ० २२६–७) मे लिखा है कि महासघिको, धर्मगुप्तो, महिशासको, काश्यपीयो और सर्वास्तिवादियो के पांच विनय-ग्रथ उपगुप्त के ही पाँच शिष्यो द्वारा सपादित किए गए थे। किंतु इस कथन की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त साक्ष्य नही है। फिर भी प्राप्त साक्ष्यो से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि उपगुप्त केवल एक बहुश्रुत धर्म-प्रवक्ता ही नहीं, अपितु मथुरा के बौद्ध वैभाषिक सप्रदाय के एक प्रतिष्ठित ग्रथकर्ता भी थे।

अध्याय १३

उत्तर प्रदेश मे सर्वास्तिवादी और सम्मितीय

उत्तरप्रदेश में प्राक्कालीन बौद्ध धर्म के दो सप्रदायो का प्रचार हुआ—एक सर्वास्तिवाद का और दूसरे सम्मितीय सप्रदाय का, जिसमें वात्सिपुत्रीय (वज्जिपुत्तक) भी थे। सर्वास्तिवादियो का मुख्य केंद्र मथुरा मे था और ईसवीय प्रथम से चतुर्थ वा पचम शताब्दी तक के प्रारभिक काल में सम्मितीयो की अपेक्षा इनका प्रचार अधिक हुआ। सम्मितीयो की उन्नति दूसरी या तीसरी शताब्दी से प्रारभ हुई और मथुरा तथा अन्य स्थानो में अपने सिद्धातो का प्रचार करने में वे सर्वास्तिवादियो से प्रतियोगिता करने लगे। भारतीय-शक (इडो-सीथियन) काल के प्राचीनतम अभिलेखो से विदित होता है कि उस समय सर्वास्तिवादियो का, विशेषत मथुरा में, प्राधान्य था, सम्मितीयो का स्थान उनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण था। परतु बाद के अभिलेखो से पता चलता है कि ई० चतुर्थ शताब्दी से सम्मितीयो के अनुयायियो की सख्या बढने लगी थी, यहाँ तक कि हर्षवर्धन के राज्य-काल मे उनका प्रचार अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया।

सर्वास्तिवाद

पिछले अध्याय मे यह दिखलाया जा चुका है कि अशोक के राज्य-काल में पाटलिपुत्र में क्या मगध भर मे, सर्वास्तिवादियो के अनुकूल परिस्थिति नही थी, अत वे उत्तर में चले गए। उन्होंने दो केंद्र स्थापित किए—एक कश्मीर में आचार्य मध्यान्तिक के नेतृत्व में, दूसरा मथुरा में आचार्य उपगुप्त के नेतृत्व में। मध्यान्तिक स्वय आनद के शिष्य थे और उपगुप्त आनद के एक अन्य शिष्य शानवासिक के। अत सर्वास्तिवादी लोग आनद को अपना प्रथम गुरु कह सकते है, परतु तिब्बती अनुश्रुतियो के अनुसार सर्वास्तिवादी सप्रदाय की स्थापना करनेवाले आचार्य राहुलभद्र थे, जो क्षत्रिय जाति के थे और "विनय में अपनी श्रद्धा के लिए प्रसिद्ध थे"। अभिधर्मकोश-व्याख्या (पृ० ७१४, ७१९) में स्थविर राहुल नाम के एक आचार्य का उल्लेख है।

बौद्ध धर्म के मूल संप्रदाय स्थविरवाद से एक शाखा के रूप में सर्वास्तिवाद के अलग होने का विवरण सिंहली इतिहासों में इस प्रकार दिया है—बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात्

एक सौ वर्प तक बौद्ध धर्म का केवल एक ही सप्रदाय था—थेरवाद (स्थविरवाद)। द्वितीय धर्म-परिपद् के पश्चात् उसके दो विभाग हो गए—थेरवाद और महासघिक। ये दोनो भी कई शाखाओ मे विभक्त हो गए। थेरवाद की बारह शाखाएँ हुई और महासघिक की छ। थेरवादियो की पहले दो शाखाएँ हुई—महिंसासक और वज्जिपुत्तक (वात्सीपुत्रीय)। इन्ही महिंसासको से सव्वत्थवादियो (सर्वास्तिवादियो) की शाखा निकली। द्वितीय धर्म-परिपद् के अवसर पर उपगुप्त के गुरु शानवासिक ने थेरवादियो का पक्ष लिया था और जब वे बहुत वृद्ध हो गए तब मथुरा में उपगुप्त को दीक्षा दी थी, अत सर्वास्तिवाद का उदय-काल बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १५० वर्प बाद माना जाना चाहिए। इसका समर्थन सिंहली इतिहासो में दिए गए इन सप्रदायो के आनुक्रमिक विवरण से भी होता है। वसुमित्र के 'समयभेदोपरचन चक्र' (तिब्बती भापा मे) के अनुसार स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद शाखा की उत्पत्ति बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् तीसरी शताब्दी में हुई। इस अनुश्रुति का समर्थन भव्य, इत्सिग और विनीतदेव (ई० आठवी शती) तथा 'वर्पाग्रपरिपृच्छासूत्र' के कर्ता द्वारा भी होता है। इत्सिग बौद्ध सघ के चार प्रधान सप्रदायो की चर्चा करता है, जिनमें एक सर्वास्तिवाद था और अन्य तीन थे स्थविर, सम्मितीय और महासघिक। सर्वास्तिवाद का सिद्धात, विशेपत 'ज्ञान-प्रस्थान सूत्र' में कात्यायनीपुत्र की स्थापना, यह है कि पदार्थो का अस्तित्व अतीत, वर्तमान एव भविष्य—तीनो कालो में रहता है। इस सिद्धात का खडन 'कथावत्थु' के कर्ता मोग्गलिपुत्त तिस्स ने किया। इस ग्रथ का रचना-काल अशोक के राज्य-काल मे हुई तृतीय धर्म-परिपद् के समय माना जाता है। सभवत सर्वास्तिवाद के सिद्धात के इस खडन के कारण ही अशोक ने स्थविरवादियो का पक्ष-पोषण किया, जिनके नेता मोग्गलिपुत्त तिस्स थे, और इसी कारण सर्वास्तिवादियो का काश्मीर की ओर पलायन हुआ।

ई० दूसरी और चौथी शताब्दी के बीच के कुछ ऐसे शिलालेख उपलब्ध हैं जिनसे पेशावर, कश्मीर, मथुरा, श्रावस्ती, बलोचिस्तान और बनारस (सारनाथ) में सर्वास्तिवादियो का रहना प्रमाणित होता है। इन स्थानो में से तीन उत्तर प्रदेश में हैं। इन स्थानो मे पाए गए शिलालेखो मे से जो सबसे प्राचीन (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी का) है वह मथुरा मे पाया गया था। इस लेख से ज्ञात होता है कि—

(क) अन्य लोगो के साथ महाक्षत्रप राजुल की रानी, राजकुमार खरोष्ट की कन्या, नद दियाक की माता, द्वारा इस स्थान पर जो पवित्र सीमा (नि सीम) के ठीक

बाहर है, भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध की अस्थियाँ स्थापित की गई, सिंह-शिखर वाला एक शिलास्तभ खडा किया गया और एक सघाराम बनवाया गया, चारो दिशाओ के (विशेषत) सर्वास्तिवादी भिक्षुओ के लिए।

(ख) महाक्षत्रप राजुल के पुत्र क्षत्रप शोडास के राज्यकाल मे, आचार्य बुद्धदेव के शिष्य उदय के द्वारा, राजकुमार खलनस्त और मज के अनुमोदन से, एक गुहा-विहार दान किया गया, नगरक के बुद्धिल को , सर्वास्तिवादी भिक्षुओ के स्वीकारार्थ।

(ग) क्षत्रप शोडास के राज्य-काल में, कुछ भूमि दान की गई नगरक के आचार्य बुद्धिल को, जिन्होने महासघिको के तर्कों को खडित कर दिया। बुद्ध, धर्म और सघ को तथा शक देश के शको को नमस्कार।

उपर्युक्त शिलालेख स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करता है कि प्राचीन शक शासक बौद्ध धर्म के, विशेषत सर्वास्तिवादियो के, समर्थक थे जिनका एक केंद्र उस समय मथुरा मे था। बुद्धिल ने, जो एक सर्वास्तिवादी आचार्य थे, दार्शनिक शास्त्रार्थों मे महासघिको को परास्त करनेवाले एक विशिष्ट तार्किक के रूप में बडा यश कमाया होगा और विशिष्ट व्यक्तियो से बहुत दान प्राप्त किया होगा। बुद्धदेव नाम के एक अन्य आचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है। सहेत-महेत में एक मिट्टी का ठप्पा पाया गया है जिसके अक्षर कुछ मिट गए हैं। उसपर उत्तरकालीन गुप्त लिपि में 'बुद्धदेव' नाम खुदा है (आ०स०रि० १९०७–८, पृ० १२८)। यशोमित्र ने अपनी कोश-व्याख्या (५,२६, ९,१२) में स्थविर बुद्धदेव को सर्वास्तिवाद के सिद्धातो के लिए प्रमाण मानकर उनका उल्लेख किया है और बतलाया है कि उनके एक पूर्ववर्ती आचार्य स्थविर नागसेन थे, जो राजा मेनाडर के समकालीन थे। बुद्धदेव ने सर्वास्तिवाद के सिद्धात की व्याख्या यो की कि 'सापेक्ष सत्ता के रूप मे (अन्ययान्यथात्व) सबका अस्तित्व है (सर्वास्तित्व)।'[1] शिलालेख मे उल्लिखित बुद्धदेव को यशोमित्र द्वारा उल्लिखित आचार्य बुद्धदेव मानना भ्रम-शून्य नही हो सकता, क्योकि बौद्ध भिक्षुओ में एक-से नाम रखने की सामान्य प्रथा थी।

मथुरा मे एक और शिलालेख (बौद्ध मूर्ति-लेख) हुविष्क के समय (१११ ई०) का है, जिसमे बोधिसत्व की मूर्ति के दो भिक्षुणियो द्वारा प्रतिष्ठापित किए जाने का उल्लेख है। ये दोनो भिक्षुणियाँ त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल की शिष्याएँ थी और उनमें से एक भिक्षुणी, धनवती, त्रिपिटक के एक दूसरे आचार्य भिक्षु बुद्धमित्र की भानजी

१. कोश-व्याख्या (जापानी सस्करण), पृ० ४७०।

थी। इस लेख मे स्पष्टत सिद्धार्थ गौतम की बोधि-प्राप्ति के पहले की मूर्ति का उल्लेख है, न कि महायानी मूर्ति का, क्योकि भिक्षुणी के गुरु को 'त्रिपिटक' कहा गया है जो केवल हीनयानियो की उपाधि है। बल सर्वास्तिवादी थे, यह श्रावस्ती मे पाए गए दो अन्य शिलालेखो मे भी सिद्ध होता है, जिनमे एक तो प्रस्तर का छत्र-दड है, और दूसरा कनिष्क का मूर्तिलेख, जिसमे भी वही पाठ है। कनिष्क के राज्य-काल (७८-१०१ ई०) में पुष्यवृद्धि के शिष्य एव त्रिपिटक के आचार्य भिक्षु बल के द्वारा एक बोधिसत्व की मूर्ति तथा एक छत्र एव दड का दान किया गया था और ये दोनो वस्तुएँ कौशाबी-कुटी की परिक्रमा (चक्रम) में प्रतिष्ठित की गई थी, जो कि जेतवनाराम का एक भाग था और जिसमें सभवत बुद्ध उस समय रहते थे जब उन्होंने कौशाबी के झगडालू भिक्षुओ को चेतावनी दी थी। ऐसा ही एक दान सारनाथ में पुष्यवृद्धि के शिष्य भिक्षु बल द्वारा किया गया था (देखिए आगे अध्याय १६, पृ० २८८)। दान की वस्तुएँ चक्रम में प्रतिष्ठित की गई थी, जिसका उपयोग भगवान् बुद्ध (ध्यान के लिए) किया करते थे। ये वस्तुएँ भिक्षु बल द्वारा दान की गई थी, जो अपने पुण्यो को अपने माता-पिता, शिष्यो, छात्रो, बुद्धमित्र नाम के एक अन्य त्रिपिटकाचार्य भिक्षु तथा क्षत्रप वनस्पर एव खरपल्लान के साथ बँटाना चाहते थे। बुद्धमित्र और बल, दोनो सर्वास्तिवादी थे, अत इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कनिष्क के राज्य-काल में सारनाथ में भी कुछ सर्वास्तिवादी रहते थे। जगतसिंह-स्तूप के दक्षिण ओर पत्थर के सोपान की सबसे ऊपरी सीढी पर यह लेख खुदा हुआ पाया गया था—'आचार्याना सर्वास्तिवादिना परिग्रह'। डा० फोगल इस लेख को ई० दूसरी शताब्दी का ठहराते है।[1] यह लेख 'मुख्य मदिर की दक्षिण परिक्रमा में पुराने स्तूप के चारो ओर की वेष्टनी' पर दोहराया गया है। सारनाथ के अशोक-स्तभ पर का दूसरा लेख, जिसमें राजा अश्वघोष का नाम आया है, सभवत सर्वास्तिवादियो के निमित्त था जिनका नाम उसमें दुर्भाग्यवश मिट गया है। उसी स्तभ पर के तीसरे लेख का पाठ इस प्रकार है— 'आ (चा) र्याना स(म्मि) तियाना परिग्रह वात्सीपुत्रिकाना।'[2] सर्वास्तिवाद और सम्मितीय, दोनो सप्रदायो के इन उल्लेखो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० दूसरी शताब्दी तक सारनाथ में सर्वास्तिवादियो का प्राधान्य था, उसके बाद वहाँ सम्मितीयो का प्रभाव बढ गया। दोनो

१ आ० स० रि०, १९०७-८, पृ० ७३।
२ साहनी, सारनाथ संग्रहालय की सूची, पृ० ३०-३१।

सम्प्रदायों के लोग कुछ समय तक वहाँ साथ-साथ रहे होंगे, परन्तु यह निश्चित है कि ह्वेन-सांग के समय तक सर्वास्तिवादी उस स्थान को छोड चुके थे और वहाँ केवल सम्मितीय सम्प्रदाय के भिक्षु रह गए थे।

शुद्ध पाली[1] में कुषाण-काल का लेख यहाँ पाए जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुत प्राचीन काल मे, सभवत सर्वास्तिवादियो का प्रभाव जमने के पहले, यहाँ स्थविरवादी भी रहते थे।

हर्षवर्धन के कुछ काल पश्चात् सम्मितीयो का भी महत्त्व नष्ट हो गया और उनके स्थान पर महायानी प्रतिष्ठित हो गए।

एक दूसरा लेख मानकुअर (जिला इलाहाबाद) में पाया गया है। यह लेख कुमारगुप्त प्रथम के समय (४४८ ई०) का है। इसके अनुसार बुद्ध की एक मूर्ति भिक्षु बुद्धमित्र के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी। परमार्थ ने लिखा है कि वसुबधु के गुरु बुद्धमित्र थे। तजूर (जिल्द ९, पृ० ३२) में बुद्धमित्र का नाम आता है जिन्होने बुद्ध के परिनिर्वाण के आठ सौ वर्ष बाद स्थविर भूतिक के साथ मिलकर बुद्ध-वचनो का सग्रह किया था।[2] अपनी वसुबधु की कालमीमासा (सीरी ओरिएटल, रोम, १९५१) में फ्राउवालनर की प्रवृत्ति मानकुअर लेखवाले बुद्धमित्र को वसुबधु का गुरु बुद्धमित्र मानने के पक्ष मे है।

कुछ ऐसे लेख भी है, जिनमें मथुरा और सारनाथ मे सर्वास्तिवादियो के साथ-साथ सम्मितीयो और महासघिको के अनुयायियो के रहने का उल्लेख है।

उपर्युक्त शिलालेखो के साक्ष्यो के अतिरिक्त चीनी यात्रियो, विशेषत ह्वेन-सांग और इत्सिंग के अभिलेख भी उपस्थित किए जा सकते है। फाहियान ने बौद्ध धर्म के साप्रदायिक विकास की ओर ध्यान नही दिया परतु ह्वेन-सांग ने तीन बडे सप्रदायो—सम्मितीय, सर्वास्तिवादी और महासघिक को विशेप रूप से लक्ष्य किया। इन तीनो में से सर्वास्तिवादियो के सबध में वह लिखता है कि ५००

१. पाली लेख इस प्रकार है—

(१) चत्तारिमानि भिक्खवे अरिय सच्चानि

(२) कतमानि चत्तारि दुक्ख भिक्खवे अरियसच्च।

(३) दुक्ख समुदयो अरियसच्चं दुक्खनिरोहो अरियसच्च।

(४) दुक्खनिरोध गामिनि च पटिपदा अरियसच्च।

२. शीफनेर, तारानाथ, पृ० २९९।

से अधिक विहारो मे उनके १६,००० भिक्षु रहते थे जो सपूर्ण मध्यएशिया (काशगर, अक्षु, कुचा), उत्तर अफगानिस्तान, और मध्यदेश में गगातट पर, उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व से लेकर भारत के धुर उत्तर-पश्चिम तक बिखरे हुए थे। उत्तर प्रदेश के भीतर उसने सर्वास्तिवादियो के केवल तीन विहारो का उल्लेख किया है—एक कन्नौज में, जिसमें ५०० भिक्षु रहते थे, दूसरा हयमुख (प्रयाग के निकट) में, जिनमें २०० भिक्षु थे, और तीसरा वाराणसी में, जिसमें २००० भिक्षु निवास करते थे। उसने पर्यात्र (मथुरा के निकट), थानेश्वर (स्थानेश्वर), गोविशन (सकाश्य के निकट), प्रयाग और कोशावी के भिक्षुओ को केवल हीनयानी लिखा है, जिनमें सर्वास्तिवादी भी रहे होगे। मथुरा, कन्नौज और अयोध्या के भिक्षुओ के सबध में वह लिखता है कि उनमे हीनयानी और महायानी दोनो थे। इत्सिग ने बौद्ध सप्रदायो के भौगोलिक विस्तार की चर्चा बहुत साधारण रीति से की है। वह लिखता है कि मगध के अधिकाश भिक्षु और उत्तर भारत के प्राय सभी बौद्ध मूलसर्वास्तिवादी थे, जिनके अनुयायी जावा, सुमात्रा, चपा और दक्षिण चीन मे भी फैले हुए थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ई० दूसरी से सातवी तक की पाँच शताब्दियो मे सर्वास्तिवादी सुदूर उत्तर-पश्चिम कश्मीर, गधार, उड्डीयान और कपिशा में तथा गगा की घाटी में विद्यमान थे। बहुत सभव है कि छठीं शताब्दी के हूण आक्रमण ने सर्वास्तिवादियो को मध्यभारत की ओर ढकेला। तारानाथ ने लिखा है कि पालो के समय (९वीं-१०वीं शताब्दी) मे अनेक बौद्ध सप्रदायो का लोप हो गया और केवल छ बच रहे, जिनमें एक मूलसर्वास्तिवादियो का था। उपर्युक्त सभी साक्ष्यो से यह प्रमाणित होता है कि सर्वास्तिवादी, जिनमें उनके उत्तरकालीन रूप मूलसर्वास्तिवादी भी गिन लिए गए है, ई० पू० तीसरी शताब्दी से ई० दसवी शताब्दी तक उत्तर प्रदेश तथा अन्य स्थानो मे बराबर बने रहे।

सर्वास्तिवाद त्रिपिटक

थेरवादियो के पाली त्रिपिटक के अनुरूप सर्वास्तिवादियो का अपना सपूर्ण त्रिपिटक, सस्कृत में लिखा हुआ था। सूत्र और विनय पिटको के कुछ अश तथा सपूर्ण प्रातिमोक्ष सूत्र मध्य एशिया में भोजपत्र पर प्राचीन गुप्त लिपि में लिखे हुए पाए गए है।[1] बी० ए०

१ हार्नले के 'मैनुस्क्रिप्ट्स रिमेन्स इन ईस्टर्न तुर्किस्तान' के अनुसार।

स्मिय और डब्ल्यू० होय को सस्कृत में ईंटो पर लिखे हुए बौद्ध सूत्र ई० २५०–४०० के गोपालपुर के खँडहरो मे प्राप्त हुए थे ।[1] यशोमित्र की अभिधर्मकोश-व्याख्या में उदायि सूत्र (पृ० १६४)[2], महाचुड सूत्र (पृ० ३५३), ब्रह्मजाल सूत्र (पृ० ४२०) और भिक्षुणी-विनय (पृ० ३७४) जैसे सस्कृत त्रिपिटक के कुछ उद्धरण दिए गए हैं। इसी प्रकार कुछ उद्धरण कमलशील की तत्त्वसग्रह-व्याख्या में भी दिए गए हैं।

ये अश तथा उद्धरण असदिग्ध रूप से यह सिद्ध करते हैं कि पाली सुत्त-पिटक के पाँच निकायो के समकक्ष सर्वास्तिवादियो के सस्कृत सूत्रपिटक के भी पाँचो भाग—दीर्घागम, मध्यमागम, सयुक्तकागम, एकोत्तरागम और क्षुद्रकागम—थे। क्षुद्रकागम तथा पाली खुद्दकनिकाय में समाविष्ट मूल ग्रथो के नाम भी परस्पर मिलते हैं, जैसे सुत्तनिपात (अत्थक और पारायण), उदानवर्ग, धर्मपद, स्थविरगाथा (गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स ३ में प्रकाशित), विमानवस्तु और बुद्धवश। त्रिपिटक का चीनी अनुवाद पूर्णतया सर्वास्तिवादियो के इसी सस्कृत त्रिपिटक के आधार पर हुआ था। अकानुमा के 'कपरेटिव कैटेलॉग ऑव चाइनीज आगमज़ ऐण्ड पाली निकायज़' (चीनी आगमो और पाली निकायो की तुलनात्मक सूची) में यह दिखलाया गया है कि सस्कृत आगमो और पाली निकायो मे बहुत साम्य है, विशेषत प्रथम और द्वितीय आगमो तथा निकायो में (तृतीय और चतुर्थ में कुछ अतर है)। चीनी 'दीर्घागम' मे तीस सूत्र हैं और पाली 'दीघ निकाय' में चौंतीस, परतु दोनो में सूत्रो के क्रम में बहुत अतर है। इसी प्रकार चीनी 'मध्यमागम' में २२२ सूत्र हैं, जिनमे से १३३ पाली 'मज्झिमनिकाय' से मिलते हैं परन्तु शेष में से अधिकाश 'अगुत्तर' से और कुछ अन्य तीन निकायो से लेकर जोड़े गए हैं।

चीनी 'सयुक्तकागम' और पाली 'सयुत्तनिकाय' मे पर्याप्त अतर है। चीनी रूपातर में पचास गुच्छक (सयुक्तक) हैं और पाली में छप्पन, जिनमें से दोनो के केवल छ सयुक्तको में समानता है। इसमे अगुत्तर निकाय के बहुत से सुत्त सम्मिलित कर लिए गये हैं। अगुत्तर निकाय के बहुत से सूत्र मध्यमागम और सयुक्तकागम में सम्मिलित कर लिए जाने के कारण चीनी एकोत्तरागम बहुत छोटा हो गया है, फिर भी दोनो के विषयों में कुछ समानता पाई जाती है। प्रोफेसर सिल्वाँ लेवी ने चीनी एकोत्तरागम (जापानी सस्करण, भाग १२, १०३ बी०—१०६ ए०) के कुछ अशो की पाली अगुत्तर-

१ ज० रॉ० ए० सो०, बगाल १८९६, पृ० ९९१।
२. पृष्ठ संख्याएँ जापानी सस्करण की हैं।

उनका जीवनचरित हमारे विचार मे अध्ययन के योग्य है। वसुबधु का जीवनचरित इस प्रकार है—

बुद्ध के परिनिर्वाण के छ सौ वर्ष के पश्चात् सर्वास्तिवादी कात्यायनीपुत्र कश्मीर गए और वहां उन्होने पांच सौ अर्हतो और पांच सौ बोधिसत्त्वो की सहायता से अभिधर्म-पिटक की सामग्री आठ ग्रथो में सकलित की और बुद्ध के वचनो से उनका मिलान करने के पश्चात् ५०,००० श्लोकों का ज्ञानप्रस्थान सूत्र सगृहीत किया। फिर उन्होने उसपर एक व्याख्या (विभाषा) लिखवाई। उन्होने विद्या के निधान, सत एव राजकवि अश्वघोष को साकेत मे कश्मीर बुलाया और 'विभाषा' को साहित्यिक सस्कृत में प्रस्तुत करने का कार्य उन्हें सौपा। विभाषा को प्रस्तुत करने में बारह वर्ष लगे। ज्ञानप्रस्थान सूत्र के छ परिशिष्टो मे से एक, अर्थात् 'विज्ञानकाय', देवशर्मा द्वारा लिखा गया, जो कात्यायनीपुत्र के समसामयिक और साकेत (विशोक) के निवासी थे। सर्वास्तिवाद के सिद्धातो का प्रतिपादन करनेवाले दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति बुद्धदेव थे, जो सभवत मथुरा के रहनेवाले थे, जहां के एक शिलालेख मे उनका नाम आया है (दे० पूर्व पृष्ठ २१०)। कात्यायनीपुत्र ने कश्मीर के सभी भिक्षुओ के लिए विभाषा को देश के बाहर ले जाने का निषेध कर दिया, जिससे बाहर के लोग उसकी अशुद्ध व्याख्या न करने लग जायें। चार सौ वर्षो तक तो इस निषेध का पालन हुआ, परतु उसके पश्चात् वसुबधु, जो उस वृहत्काय ग्रथ (महाविभाषा) के रहस्यो को जानने के लिए समुत्सुक थे तथा उसके अध्ययन के लिए कश्मीर गए थे, उसको अयोध्या ले आए। कश्मीर मे उन्होने अपने को एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति के रूप मे प्रकट किया। वे सभाओ मे जाते और विद्वानो से विभाषा के विषय में विचार-विमर्श करते थे। इस प्रकार क्रमश उन्होने सपूर्ण विभाषा कठस्थ कर ली। उसके पश्चात् वे अयोध्या लौट आए और अपने शिष्यो के द्वारा उसे लिपिबद्ध करा दिया। प्रत्येक दिन के व्याख्यान के अत मे वे एक श्लोक रचते थे जिसमे वे उस दिन के व्याख्यान का साराश निबद्ध कर देते थे। इस प्रकार ६०० श्लोकों का एक ग्रथ तैयार हो गया। इस ग्रथ की एक प्रति उन्होने पचास पौंड सोने के साथ कश्मीर भेजी। कश्मीरी वैभाषिक इस अद्भुत स्मरण-शक्ति और विस्तृत ज्ञान को देखकर दग रह गए। उन्होने पचास पौंड और सोना मिलाकर सौ पौंड सोने के साथ उस पुस्तक को वसुबधु के पास लौटा दिया और उनसे उसपर एक भाष्य रचने की प्रार्थना की, जिसे उन्होने स्वीकार कर लिया। परन्तु भाष्य लिखने के समय उनके विचारो में कुछ परिवर्तन हो गया था, इसलिए उन्होने कुछ वैभाषिक सिद्धातो की सौत्रान्तिक दृष्टि से आलोचना की। इस आलोचना से कश्मीर के सघभद्र

अप्रसन्न हो गए और उन्होने वसुबंधु के विचारो का खंडन करने के लिए उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की।

वसुबंधु के विस्तृत ज्ञान और अध्ययन तथा उनकी शास्त्रार्थ-निपुणता ने ई० पाँचवी शती के गुप्त शासको का ध्यान आकर्षित किया। उन्हें इन राजाओ का सरक्षण प्राप्त हुआ और वे तत्कालीन युवराज बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के शिक्षक नियुक्त किए गए। उन्हें 'परमार्थसप्ततिका' की रचना के पुरस्कार-स्वरूप महाराज स्कद-गुप्त विक्रमादित्य से तीन लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुई। इस ग्रथ में उन्होंने अपने गुरु बुद्धमित्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, बडी योग्यता के साथ वर्षगण्य के शिष्य विंध्या-वास के 'सत्तर श्लोको' की आलोचना की, जिनसे बुद्धमित्र शास्त्रार्थ में परास्त हो चुके थे। स्कदगुप्त से प्राप्त पुरस्कार के धन से वसुबंधु ने अयोध्या मे तीन विहार बनवाए—एक भिक्षुणियो के लिए, दूसरा सर्वास्तिवादियो के लिए और तीसरा महा-यानियो के लिए। उन्होने एक दूसरा ग्रथ व्याकरणशास्त्र पर लिखा, जिसमें उन्होने वसुरात्र से प्रतिशोध लेने के लिए उनके व्याकरण के बत्तीस अध्यायो की आलोचना की। वसुरात्र राजा बालादित्य का साला था और उसने वसुबंधु की रचनाओ मे व्याकरण की त्रुटियाँ निकाली थी। इस ग्रथ के लिए उन्हें राजा बालादित्य और उनकी माता से बहुत धन पुरस्कार में प्राप्त हुआ। इस धन से भी उन्होने तीन विहार बनवाए—एक पेशावर में, दूसरा कश्मीर में और तीसरा अयोध्या में।

वसुबंधु के राजा द्वारा पुरस्कृत होने से वसुरात्र क्रुद्ध हो गया और उसने कश्मीर के सघभद्र को तैयार किया कि वे अयोध्या आकर एक ग्रथ की रचना करे जिसमें कोश-भाष्य में प्रकट किए गए वसुबंधु के विचारो का खडन हो। सघभद्र ने दो ग्रथ 'समय-प्रदीप' और 'न्यायानुसार' लिखे जिनमे वसुबंधु के विचारो पर आक्षेप किया। वसुबंधु उस समय बहुत वृद्ध हो गए थे और उन्होने उन आक्षेपो का कोई उत्तर नही दिया, अपने और सघभद्र के विचारो की सत्यता एव औचित्य के निर्णय का भार उन्होने आनेवाली पीढियो पर छोड दिया। यहाँ वसुबंधु का जीवनचरित समाप्त हो जाता है। फ्राउवाल्नर के मत मे उनके विज्ञानवादी हो जाने की बात सदिग्ध है।

फ्राउवाल्नर के अनुसार, ऊपर जिन वसुबंधु का जीवनचरित दिया गया है वे पेशावरी असग के भ्राता वसुबंधु से भिन्न है। फ्राउवाल्नर ने यह सिद्ध करने के लिए साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं कि असग के भाई वसुबंधु का जन्म ३२० ई० में और मृत्यु ३८० ई० में हुई थी, परन्तु परमार्थसप्ततिका, अभिधर्मकोश और भाष्य के रचयिता वसु-बंधु का जन्म-काल ४०० ई० था। उन्हें गुप्त राजा स्कदगुप्त विक्रमादित्य (४५५–

६७ ई०) का सरक्षण प्राप्त था और वे नरसिहगुप्त बालादित्य के शिक्षक रहे (४६७-७३ ई०)। इन गुप्त राजाओ ने पाटलिपुत्र को छोडकर अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया और वसुबधु ने अपने पुरस्कार के धन से अयोध्या में चार विहार बनवाए—इन तथ्यो से फ्राउवालनर के इस मत का समर्थन होता है कि वसुबधु दो थे और बादवाले वसुबधु अभिधर्मकोश के रचयिता थे। वे अयोध्या के निवासी थे और आजीवन सौत्रान्तिक विचारवाले सर्वास्तिवादी बने रहे।

सर्वम्-अस्ति-वाद

कथावत्थु तथा वसुमित्र के सप्रदाय सबधी ग्रथ मे सर्वास्तिवादियो के कई सिद्धात बतलाए गए है,[1] अत हम यहाँ केवल उनके मूल सिद्धात का विवेचन करेंगे, जिसका तत्त्व यह है कि 'सभी पदार्थ सत्तावान् है' (सर्व अस्ति), जिसके कारण ही उसका नाम सर्वास्तिवाद हुआ।

थेरवादियो की भाँति सर्वास्तिवादियो ने भी सृष्टि के दो भेद किए—'सस्कृत' तथा 'असस्कृत'। सस्कृत सृष्टि सदोप (सास्रव) और अनित्य है। इससे दृश्य ससार के बाह्य एव आभ्यतर सभी तत्त्व उसमे अतर्भूत हैं। बाह्य तत्त्वो मे है चार भौतिक तत्त्व (भूत), उनसे उत्पन्न (भौतिक) ज्ञानेंद्रियाँ और उनके तत्-तत् विषय[2] तथा अमानस (अविज्ञप्ति) तत्त्व, जैसे आत्म-सयम (सवर) और असयम (असवर)। आभ्यतर तत्त्व है 'चित्त' एव चित्त की स्थितियाँ (चैतसिक), जो छ वर्गों[3] तथा कुछ

१ द्रष्टव्य 'अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म', भाग २।

२ सू० रुप (११)—
(क) विषय ५ हैं—रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श,
(ख) इद्रियाँ ५ हैं—चक्षुरिंद्रिय, श्रोत्रेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, जिह्वेंद्रिय, कायेंद्रिय;
(ग) अविज्ञप्ति—१, (द्रष्ट० अभिधर्मकोश, ४।२९)।

३ चित्त १, चैतसिक ४६, जो इस प्रकार है—

(क) महाभूमिक—१०

(१) वेदना, (२) सज्ञा, (३) चेतना, (४) स्पर्श, (५) छद, (६) मति या प्रज्ञा, (७) स्मृति, (८) मनस्कार, (९) अधिमोक्ष, (१०) समाधि।

(ख) कुशल महाभूमिक—१०

(१) श्रद्धा, (२) वीर्य, (३) उपेक्षा, (४) ह्री, (५) अपत्रप्य,

मनोवृत्तियो में विभक्त है, किंतु वे मन से असबद्ध (चित्तविप्रयुक्त) है। चित्तविप्रयुक्त चौदह प्रकार के है।[1]

असस्कृत पदार्थ शुद्ध (अनास्रव) एव 'नित्य' है, जो इस प्रकार है—(१) आकाश, (२) प्रतिसख्या निरोध (ज्ञान द्वारा मुक्ति वा निर्वाण), और (३) अप्रतिसख्या निरोध (विना ज्ञान मुक्ति वा निर्वाण)।

'सर्वम् अस्ति' से सर्वास्तिवादियो का तात्पर्य यह है कि पदार्थ त्रिकाल-सत् है, अर्थात् अतीत, वर्तमान, भविष्य—तीनो कालो में उनका अस्तित्व रहता है। वे यह नही मानते कि दृश्य पदार्थ अथवा उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व नित्य-सत्तावान् है, क्योकि वे तो निश्चित रूप से अनित्य है, यद्यपि मृगमरीचिका वा आकाशकुसुम की भाँति अस्तित्वहीन नही है। सासारिक पदार्थों की अनित्यता के ज्ञान तथा उनसे अपने मन को पूर्ण रूप से नि:सग कर लेने से ही साधक अपने निरतर बननेवाले सस्कारो के प्रवाह

(६) अलोभ, (७) अद्वेष, (८) अहिंसा, (९) प्रश्रब्धि, (१०) अप्रमाद।

(ग) क्लेश महाभूमिक—६

(१) मोह, (२) प्रमाद, (३) कौसीद्य, (४) अश्रद्धा, (५) स्त्यान, (६) औद्धत्य।

(घ) अकुशल महाभूमिक—२

(१) अह्रीकता, (२) अनपत्रप्य।

(ङ) उपक्लेश महाभूमिक—१०

(१) क्रोध, (२) म्रक्ष, (३) मात्सर्य, (४) ईर्ष्या, (५) प्रमाद, (६) विहिंसा, (७) उपनह, (८) माया, (९) सठ्य, (१०) मद।

(च) अनियत भूमिक—८

(१) कौकृत्य, (२) मिद्ध, (३) वितर्क, (४) विचार, (५) राग, (६) प्रतिघ, (७) मान, (८) विचिकित्सा।

१. चित्त विप्रयुक्त १४ है—

(१) प्राप्ति, (२) अप्राप्ति, (३) सभागत, (४) असज्ञिक, (५) असंज्ञि समापत्ति, (६) निरोध समापत्ति, (७) जीविति, (८) जाति, (९) स्थिति, (१०) जरा, (११) अनित्यता, (१२) नामकाय, (१३) पदकाय, (१४) व्यजन काय।

को रोककर पूर्ण मोक्ष (निरोध = निर्वाण) प्राप्त कर सकता है। अत स्पष्ट है कि 'सर्वम् अस्ति' का अर्थ सर्वास्तिवादियो की दृष्टि से यह नही है कि 'सब पदार्थ नित्य है।' सर्वास्तिवादी शाश्वतवादी नही है, जिनका सिद्धात बुद्ध द्वारा सर्वथा अस्वीकृत था।

'सर्वम् अस्ति' वाक्य के द्वारा सर्वास्तिवादी केवल यह विचार व्यक्त करना चाहते है कि समस्त पदार्थ अतीत, वर्तमान एव भविष्य तीनो कालो में वर्तमान रहते है। वे यह नही मानते कि जो पदार्थ विगत (वा नष्ट) हो जाता है उसके अस्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है, क्योकि उनके कथनानुसार यद्यपि उस पदार्थ पर ज्ञानेंद्रियो की क्रिया नही होती तथापि मन को उसका ज्ञान बना रहता है, क्योकि केवल विगत पदार्थ ही मन के विषय होते है। जिस क्षण आँखें कोई वस्तु देखती है उसी क्षण उनका कार्य समाप्त हो जाता है। वे उस वस्तु का सस्कार मन पर डाल देती है और मन में उसकी धारणा और स्मृति बनी रहती है। अतीत वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा, अन्यथा मन की क्रिया ही नही हो सकती (षण्णा अनन्तरातीत विज्ञान यद्धि तन्मन - कोश, १।१७)। यह सिद्ध बात है कि मन बिना किसी आधार वा विषय के नही रह सकता, उसे कोई आधार अवश्य चाहिए (चित्त सालम्बनम्)। यदि यह सत्य है तो उसका यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ तक मन का सबध है, अतीत पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है, अन्यथा मन का ही अस्तित्व नही माना जायगा। इसके अतिरिक्त बुद्ध का भी भौतिक तत्त्वो (रूप) के विषय में कथन है कि उनमे अतीत, वर्तमान एव भविष्य के भी तत्त्वो का अतर्भाव है (यत्किचिद्रूप अतीतानागत-प्रत्युत्पन्न इति)।[1] अत इस कथन के आधार पर भी सर्वास्तिवादी यह दावा करते है कि पदार्थो का अस्तित्व अतीत, वर्तमान, भविष्य—तीनो कालो में रहता है। फिर, बुद्ध ने अपने शिष्यो को अतीत एव भविष्य की वस्तुओ से अपने मन को नि सग करने का उपदेश दिया था। इससे भी विदित है कि अतीत और भविष्य मे पदार्थो का अस्तित्व रहता है, अन्यथा बुद्ध ऐसा उपदेश क्यो देते ? यदि अतीत और भविष्य की वस्तुओ का मृग-मरीचिका वा आकाश-कुसुम की भाँति कोई अस्तित्व ही न होता तो उनसे अपने मन को निस्सग करने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता न होती, क्योकि मृगमरीचिका वा आकाश-कुसुम से निस्सग होने की बात कोई नही सोचता। इन तर्को के द्वारा सर्वास्ति-

१ रूप अनित्य अतीतानागत क पुनर्वाद प्रत्युत्पन्नस्य। एवदर्शी श्रुतवानार्य-श्रावकोऽतीते रूपेनपेक्षो भवति, अनागत रूप नाभिनन्दति प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्वेदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नो भवति (सयुक्तागम ३।१४, कोश, ५।२५)।

वादी यह सिद्ध करते है कि यद्यपि समस्त पदार्थ अनित्य है, तथापि अतीत, वर्तमान, भविष्य–तीनो कालो में उनका अस्तित्व रहता है। परतु सर्वास्तिवादी व्याख्याकारो में इस विषय पर आपस में ही मतभेद था और उन्होने पदार्थों की त्रिकालसत्ता की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की।

(१) धर्मत्रात का कथन है कि पदार्थ वही रहते हैं, केवल उनकी अवस्था में परिवर्तन (भावान्यथात्व) होता है, अर्थात् उनका 'रूप और गुण' बदल जाता है, जिससे उनके सबध में अतीत, वर्तमान, भविष्य आदि भिन्न-भिन्न धारणाएँ उत्पन्न होती है। जब कोई वस्तु नवीन अवस्था को प्राप्त होती है अर्थात् नवीन रूप-गुण धारण करती है तब वह 'उत्पन्न' होती है, और जब वह उनका त्याग करती है तब वह 'नष्ट' हो जाती है। उन्होने इसकी पुष्टि के लिए स्वर्ण और उससे निर्मित अलकारो का तथा क्षीर और दधि का दृष्टात दिया है और कहा है कि स्वर्ण और क्षीर तत्त्व वही रहते है, परतु किसी अन्य पदार्थ के सयोग वा वियोग से उनके रूप और गुण में परिवर्तन हो जाता है। इन अवस्था-भेदो वा नाम-गुण के परिवर्तनो को अतीत, वर्तमान, और भविष्य तथा उत्पत्ति और विनाश आदि कहा गया है। कोई वस्तु अपनी भावी 'अवस्था वा रूप एव गुण' को त्याग देती है तब वह वर्तमान 'अवस्था' को प्राप्त होती है। इसी प्रकार अपनी वर्तमान 'अवस्था' को छोडकर वह अतीत 'अवस्था' को प्राप्त होती है। यदि ऐसा न होता तो भविष्य, वर्तमान एव अतीत वस्तुएँ एक दूसरी से सर्वथा भिन्न होती।

वसुबधु ने इस मत को साख्य के परिणामवाद के तुल्य कहकर इसकी आलोचना की है, परतु उन्होने साख्य और धर्मत्रात के मतो में इस मौलिक अतर को स्वीकार किया है कि साख्य तो नित्य प्रकृति की सत्ता को मानता है, किंतु धर्मत्रात ने सासारिक पदार्थों की सत्ता को अनित्य ही माना है।

(२) घोषक का कथन है कि प्रत्येक गोचर पदार्थ के तीन लक्षण होते हैं—जन्म, जरा, मरण, और ये तीनो उस पदार्थ के साथ सर्वकाल में विद्यमान रहते है। जब शिशु का जन्म होता है, जब स्तन से दूध दुहा जाता है अथवा जब सोने से आभूषण बनाया जाता है तो उनके अन्य दो लक्षण जरा और मरण उसके साथ-साथ रहते है, जो वस्तुत उस शिशु, दूध वा सोने में सुप्त भाव से पहले ही से विद्यमान थे। वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) का लक्षण घोषक ने पदार्थ के वास्तविक उपयोग वा विनियोग (समुदाचार) को बतलाया है और भूत और भविष्य का लक्षण उसकी प्राप्यता वा 'प्राप्ति' को। किसी पदार्थ के आरभ को ही उसका 'जन्म' वा 'वर्तमान' कहते है, और अन्य दो

अर्थात् जरा और मरण जो अभी अनागत वा आनेवाले हैं, उसके भविष्य है। जव बालक वृद्ध हो जाता है, अथवा दूध जमकर दही बन जाता है, अथवा स्वर्ण का आभूषण घिस जाता है, तो उसकी जरा वर्तमान हो जाती है, उसका जन्म अतीत हो जाता है और उसका मरण वा विनाश भविष्य हो जाता है। इस तर्क के द्वारा घोपक ने लक्षणो की परिवर्तनशीलता (लक्षणान्यथात्व) सिद्ध की है। धर्मत्रात ने पदार्थ और उसकी अवस्थाओ—रूप और गुण (द्रव्य और भाव)—पर अलग-अलग विचार किया है, परतु घोपक दोनो को अविच्छेद्य मानते हैं।

घोपक यह युक्ति देते हैं कि यदि तीनो लक्षण साथ-साथ न रहें, पूर्ण रूप से पृथक् कर दिए जायें (वियुक्त स्यात्), तो वर्तमान कभी अतीत, अथवा भविष्य कभी वर्तमान नही हो सकता। अत उनका यह निष्कर्ष है कि तीनो काल-लक्षण साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। वे यह दृष्टात देते हैं कि जव कोई पुरुष किसी स्त्री में अनुरक्त होता है तो वह अन्य स्त्रियो से पूर्णतया विरक्त नही होता। उसका अनुराग उनके मतानुसार वास्तविक विनियोग (समुदाचार) है और अन्य स्त्रियो में उसके अनुरक्त होने की सभावना 'प्राप्ति' है।

वसुवधु ने उपर्युक्त मत को काल का सम्मिश्रण वा सकर (अध्वसकर) कहकर उनकी आलोचना की है। उनका कथन है कि अतीत पदार्थ वा लक्षण को वर्तमान और भविष्य के लक्षणो से युक्त समझना भ्रम है। घोपक प्रकारातर से तीन काल-लक्षणों को एक ही पदार्थ में मानते हैं जो सर्वथा तर्क-विरुद्ध है, क्योकि एक पदार्थ में केवल एक ही काल-लक्षण हो सकता है।

फिर, 'प्राप्ति' का प्रश्न जीवधारियो (सत्त्वाख्य) के प्रसग में उठ भी सकता है, परतु निर्जीव पदार्थो (असत्त्वाख्य) पर वह लागू नही हो सकता, क्योकि घट अपनी कठोरता को 'प्राप्त' नही करता।

(३) 'परिपृच्छा', 'पचवस्तुक' तथा अन्य ग्रथो के रचयिता[१] वसुमित्र (ई० पहली शताब्दी) का कथन है कि पदार्थो का अस्तित्व भूत, वर्तमान, भविष्य—तीनो कालो में रहता है, और उनके तत्त्व अथवा रूप और गुण में, अथवा उनके लक्षणो मे कोई परिवर्तन नही होता, जैसा कि धर्मत्रात और घोपक का मत है। वसुमित्र के मत के अनुसार पदार्थो के अतीतत्व, वर्तमानत्व एव भविष्यत्व का निर्धारण (अवस्थान्यथात्व) कार्य वा क्रियाशीलता (कारित्र) के द्वारा होता है। जव क्रिया होती रहती है,

१ अभिधर्मकोश (जापानी स०), पृ० १६७।

जैसे जब आँखें किसी वस्तु को उसके तात्कालिक तत्त्व, रूप, गुण वा लक्षणो के साथ देखने का काम करती रहती है, तो उसे 'वर्तमान' कहते है, इसी प्रकार जब आँखो का वह कार्य बद हो जाता है अर्थात् जब आँखो का उस पदार्थ को देखने का कार्य समाप्त हो जाता है तब वह पदार्थ 'अतीत' हो जाता है। इसी प्रकार, जब किसी पदार्थ के विषय मे क्रिया होनेवाली होती है तो उसे भविष्य कहते है। दूसरे शब्दो में, सभी पदार्थों में तीनो काल-तत्त्व साथ-साथ रहते हैं और क्रिया अथवा कर्म के द्वारा ही उन पदार्थों के काल वा स्वभाव का निश्चय होता है (अध्वान कारित्रेन व्यवस्थिता)। यदि तीनो काल-तत्त्व सहवर्ती न होते तो अतीत और भविष्य का शश-शृग के समान कही पता न होता। वसुमित्र के मत से अतीत और भविष्य न भ्रम है और न मिथ्या (अस्तित्वहीन)। अत सभी गोचर पदार्थों का अस्तित्व तीनो कालो में रहता ही है। उन्होंने इसके लिए शून्य तथा गणित की सख्याओ में उसके स्थानीय मान का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार १ के पहले रखने से शून्य का कोई मूल्य नही होता, परतु जब उसे १ के बाद रखा जाता है तो उस अक का मूल्य १० हो जाता है, उसी प्रकार से किसी पदार्थ के अतीत, वर्तमान वा भविष्य होने का निर्णय उसकी क्रिया द्वारा होता है।

उपर्युक्त तीन व्याख्याओ में से वसुबधु ने वसुमित्र के मत को श्रेष्ठ माना है, परतु उसे सदोष भी बतलाया है। वसुबधु का तर्क यह है कि सर्वास्तिवाद के सिद्धात के अनुसार 'कारित्र' का अस्तित्व भी पदार्थ के साथ-साथ तीनो कालो में होना चाहिए, उसे पदार्थ से पृथक् नही किया जा सकता। अवियोज्य धर्म होने के कारण कारित्र में अतीत, वर्तमान और भविष्य का भेद नही किया जा सकता। कारित्र इस कारण भी पदार्थ (धर्म) से भिन्न नही माना जा सकता कि सर्वास्तिवादियो के मत के अनुसार धर्मों के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। जब कारित्र पदार्थ से अभिन्न है तो अतीतत्व, वर्तमानत्व और भविष्यत्व का निर्धारक नही हो सकता।

वसुबधु सर्वास्तिवाद के सिद्धातो के पूर्ण समर्थक नही हैं। यहाँ उन्होने वसुमित्र की आलोचना सौत्रातिक दृष्टि से की है।

(४) एक चतुर्थ मत बुद्धदेव ने उपस्थित किया है, जिनका उल्लेख शिलालेखो मे हुआ है (दे० पूर्व० पृ० २०५)। बुद्धदेव का कथन है कि गोचर पदार्थों का अस्तित्व सब काल में रहता है; उनके 'अतीत', 'वर्तमान' और 'भविष्य' विशेषण सापेक्ष है (अन्यथान्ययिकत्व)। वसुमित्र की भाँति इनका भी धर्मत्रात और घोषक के इस मत से ऐक्य नही है कि पदार्थो के रूप और गुण में अथवा काल-लक्षणो में परिवर्तन होता है। इनका कथन है कि पदार्थ सब कालो में वही रहते है, परन्तु वे भविष्य कहे जाते है अपने

अतीत एव वर्तमान अस्तित्व की अपेक्षा से, और वर्तमान कहे जाते हैं अपने अतीत एव भावी अस्तित्व की अपेक्षा से। इसी प्रकार वे अतीत कहे जाते हैं अपने वर्तमान एव भविष्य अस्तित्व की अपेक्षा से। किसी पदार्थ के लिए अतीत, वर्तमान और भविष्य विशेषण का प्रयोग उस पदार्थ की सापेक्ष सत्ता पर निर्भर है। बुद्धदेव ने इसके समर्थन में एक स्त्री का दृष्टात दिया है जो अपने पिता के सबध से कन्या भी है और पुत्र के सबध से माता भी। अत में बुद्धदेव का यही निष्कर्ष है कि प्रत्येक पदार्थ में तीनो काल-लक्षण एक साथ विद्यमान रहते हैं, केवल एक काल-लक्षण की अपेक्षा वा सबध से ही दूसरे काल-लक्षण का पृथक् निर्देश किया जाता है। यह कुछ इसी प्रकार का कथन है कि एक ही पदार्थ वर्तमान में दही, अतीत में दूध और भविष्य मे मक्खन होता है। जिस पदार्थ का पूर्वकालिक अस्तित्व ज्ञात है किंतु उत्तरकालिक अस्तित्व अज्ञात है, उसे 'भविष्य' कहते हैं, पुन, ऐसे पदार्थ को जिसका पूर्वकालिक एव उत्तरकालिक अस्तित्व ज्ञात है, 'वर्तमान' कहते हैं। पुनरेव, जिस पदार्थ का उत्तरकालिक अस्तित्व ज्ञात है किंतु पूर्वकालिक अस्तित्व अविदित है, उसे अतीत कहते हैं। इस प्रकार बुद्धदेव तीनो कालो की सत्ता (त्रिकालसत्) स्थापित करते हैं।

वसुबधु इस मत का खडन यह कहकर करते हैं कि बुद्धदेव के मत के अनुसार तीन काल-लक्षण एक हो जाते हैं (एकस्मिन्नेवाध्वनि त्रयोऽध्वान प्राप्नुवन्तीति), जो अमान्य है।

(२) सम्मितीय (वात्सीपुत्रीय)

जैसा पहले कहा जा चुका है, द्वितीय परिषद् के कुछ काल पश्चात् थेरवादियो की दो शाखाएँ हो गई—महीसासक और वज्जिपुत्तक। उसके कुछ ही दशको के बाद महीसासको की दो उपशाखाएँ हुई—धर्मगुप्त और सर्वास्तिवादी, तथा वज्जिपुत्तक भी चार उपशाखाओ में विभक्त हो गए, जिनमें एक सम्मितीयो की थी। अन्य अनुश्रुतियाँ भी इनकी उत्पत्ति का यही क्रम मानती हैं, जिससे सम्मितीयो और सर्वास्तिवादियो का समय लगभग एक ही पड जाता है। अत इन दोनो का आरभ-काल बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग डेढ-दो सौ वर्ष पश्चात् मानना चाहिए। विनीतदेव के कथनानुसार सम्मितीयो की तीन शाखाएँ हुई—कुरुकुलक, आवन्तक, वात्सीपुत्रीय। सम्मितीयो के सिद्धात वज्जिपुत्तको से इतने मिलते-जुलते थे कि 'कथावत्थु' के व्याख्याकार ने लिखा है कि सम्मितीयो और वज्जिपुत्तको तथा कई अन्य बौद्धेतर मतो के आत्म-

सिद्धात (पुग्गलवाद) एक ही है। सस्कृत[1] अनुश्रुतियो में भी आत्मा, उसके मध्य-कालीन जीवन (अन्तरा-भव) और उसके पुनर्जन्म पर विचार करते समय वात्सी-पुत्रियो और सम्मितीयो[2] को एक ही मान लिया गया है। सारनाथ शिलालेख में भी सम्मितीय वात्सीपुत्रियो के साथ मिला दिए गए है। सभवत पीछे वे इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध हो गए थे।

सस्कृत तथा पाली अनुश्रुतियो के अनुसार सम्मितीयो का आरभ-काल ई० पू० तीसरी शती के लगभग है। केवल दो शिलालेख ई० दूसरी और चौथी शती के है जिनसे मथुरा और सारनाथ में उनका रहना प्रमाणित होता है। इन दोनो में अधिक प्राचीन मथुरा का पाँचवाँ शिलापट्ट-लेख है[3] जिसमें धर्मक के शिष्य एक भिक्षु द्वारा बोधिसत्त्व की एक मूर्ति के प्रतिष्ठापन, तथा सिरि विहार के सम्मितीय भिक्षुओ को उनके समर्पण का उल्लेख किया गया है। शिलापट्ट-लेखो में मथुरा के सिरि-विहार के अति-रिक्त प्रावारिक विहार, सुवर्णकार विहार और चुतक विहार नामके तीन अन्य विहारो का भी उल्लेख है जो महासघिको को समर्पित किए गए थे। ये लेख कुषाण-काल के हैं, और बहुत सभव है महाराजा हुविष्क के राज्यकाल के हो। ये ब्राह्मी लिपि तथा पाली-सस्कृत-मिश्र भाषा में लिखे हुए है। मथुरा शिलापट्ट लेख के बाद का लेख जिसमें सम्मितीयो का नाम आया है, सारनाथ के अशोक-स्तभ पर अशोक के लेख तथा एक अन्य लेख के नीचे खुदा हुआ पाया गया था (दे० पूर्व पृ० २०६)। इसमें सम्मितीय आचार्यों को, जिन्हें वात्सीपुत्रीय भी कहते थे, दिए गए एक दान का उल्लेख है, (आचार्यांना सम्मितीयाना परिग्रहे वात्सीपुत्रिकाना)[4]। बहुत सभव है कि यह लेख ई० तीसरी या चौथी शती का हो, जब सम्मितीयो ने अपने मत का प्रचार करके बहुत से भिक्षुओ और भिक्षुणियो को अपने मत में मिलाकर सर्वास्तिवादियो से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

सम्मितीय लोगो को प्रधानता मिली हर्षवर्धन के समय (६०६–६४७ ई०) में, जिसकी बहिन राज्यश्री के विषय में कहा जाता है कि वह इसी मत की भिक्षुणी हो गई थी। हुएन-त्साग को इस सप्रदाय के अनेक विहार एव अनुयायी अहिच्छत्र, सकाश्य,

१. कथावत्थु, पृ० ८—के पन पुग्गलवादिनो ति। सासने वज्जिपुत्तका चेव सम्मितीया च बहिद्धा च बहू अञ्ञातित्थिया।

२. अभिधर्मकोश व्याख्या (जा० सं०), पृ० ६९९—वात्सीपुत्रीय-आर्यसम्मितीय।

३. एपिग्राफिया इंडिका १९, पृ० ६५ तथा आगे।

४. साहनी, सारनाथ सग्रहालय की सूची, पृ० ३०–३१।

हयमुख, विशोक, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, हिरण्य पर्वत, कर्ण सुवर्ण, मालव, वलभी, आनदपुर, सिंध तथा अवती में मिले थे। हुएन-साग की गणना के अनुसार उस समय १,००० विहारो में लगभग ६५,००० भिक्षु थे, जिनमे सबसे अधिक मालव, वलभी, तथा सिंध एव गगा के निचले भागो के आस-पास के प्रदेशो मे थे। इत्सिग लिखता है कि वात्सीपुत्रीयो की सम्मितीय शाखा अन्य सब शाखाओ से अधिक महत्त्वपूर्ण थी और उसकी ख्याति कई अन्य मतो की अपेक्षा भी अधिक बढ गई थी। सम्मितीयो का प्रधान केंद्र मथुरा में था और दूसरा केंद्र गगा नदी के मुहाने के आस-पास के क्षेत्र में था। तारानाथ ने पालो के समय मे (नवीं-दसवीं शताब्दी) छ सम्प्रदायो के होने का समर्थन किया है, जिनमें एक वात्सीपुत्रीयो का था।

सम्मितीयो का मत कई सिद्धातो के सबध में अन्य सम्प्रदायवालो से भिन्न था, परतु मतभेद का मूल विषय उनका आत्म-सिद्धात पुद्गलवाद (पुग्गल) था, जिसके कारण उन्हें प्राय पुद्गलवादी कहा जाता था।

तिब्बती इतिहासकार बुस्तन ने लिखा है कि सम्मितीय लोग अपने सम्प्रदाय का सस्थापक बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य, अवती के महाकच्चायन को बतलाते थे। उनके वस्त्र थेरवादियो के सदृश होते थे, जो अधिकतर अवती में रहते थे। अत यह असभव नहीं है कि सम्मितीय, जिन्हें आवतक भी कहते थे, थेरवादियो के साथ अवती में रहते रहे हो। हुएन-साग और इत्सिग के विवरणो मे भी सम्मितीयो के अवन्ती में रहने की पुष्टि होती है।

सम्मितीय साहित्य

सम्मितीयो के त्रिपिटक के सबध में बहुत कम जानकारी प्राप्त हुई है। हुएन-साग लिखता है कि वह अपने साथ इस मत के सोलह ग्रथ ले गया था। इसमें सदेह नही कि उनका एक अपना विनयपिटक था, जिसका चीनी अनुवाद उपलब्ध है। नजियो की सूची में सम्मितीय-निकाय-शास्त्र नाम के एक ग्रथ का उल्लेख है, जिसका विश्वभारती विश्वविद्यालय के श्री आर० वेंकटरमन ने हाल ही में महत्त्वपूर्ण टिप्पणियो के साथ अनुवाद प्रस्तुत किया है।

पुद्गलवाद

सर्वास्तिवादियो की भाँति सम्मितीयो का भी थेरवादियो तथा अन्य मतवालो से कई सिद्धातो पर मतभेद था। कथावत्थु में इन मतभेदो का विवेचन किया गया है

और भव्य, वसुमित्र एव विनीतदेव द्वारा लिखित सप्रदाय-ग्रथो मे भी उनका उल्लेख है।[1] सम्मितीयो के पुद्गलवाद से अन्य सप्रदायो के आचार्यो को वहुत वडा धक्का लगा, क्योकि वे इसे बुद्ध के अनात्म-सिद्धात के विरुद्ध होने के कारण अ-बौद्धवत् (मौगत मन्ये) मानते थे। कथावत्थु के रचयिता वसुवधु तथा शातरक्षित-जैसे विद्वानो ने इस मत की कठोर आलोचना की। आत्मा और उसके पुनर्जन्म के सबध मे सम्मितीय-वात्सीपुत्रीयो के ठीक-ठीक विचार क्या थे, इसका पता हमें उक्त आलोचनाओ की गवपेणा से ही लग सकता है, परतु सम्मितीयो के विचारो के सबध में आलोचको मे वहुत-कुछ मतैक्य होने के कारण उनके आत्मा सवधी विचारो का अनुमान करना सभव है, और श्री वेंकटरमण के सम्मितीय-निकाय-शास्त्र के प्रकाशन से हमारा कार्य सरल हो गया है। यहाँ हम केवल उनके मूल सिद्धात पुद्गलवाद पर ही विचार करेंगे।

सम्मितीय वात्सीपुत्रीयो का कहना है कि वुद्ध पुद्गल का अस्तित्व मानते थे, जो वौद्धेतर मतो के आत्मा की भाँति नित्य एव अपरिवर्तनशील तो नहीं है, परतु जिसका अस्तित्व जीव के स्कधो के साथ तव तक वना रहता है जव तक वह निर्वाण नहीं प्राप्त कर लेता, जिसमें कि उसका सर्वदा के लिए विलोप हो जाता है। वे जानवूझ-कर 'आत्मा' के वदले 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग करते थे, जिसमे वुद्ध के तीन मूल सिद्धातो (अनात्म, अनित्य दुक्ख) में उक्त अनात्म के कारण उसमे कोई भ्रम न उत्पन्न हो। सवसे पहले इस मत की आलोचना 'कथावत्थु' के सकलयिता मोग्गलिपुत्र तिस्स ने की, उसके वाद अभिधर्मकोश के रचयिता वसुवधु तथा उसके व्याख्याकार यशोमित्र ने। शातरक्षित ने भी अपने 'तत्त्वसग्रह' में पुद्गलवाद की तीव्र आलोचना की, और उनके वाद व्याख्याकार कमलशील ने उनका अनुसरण किया। परतु सम्मितीय-निकाय-शास्त्र ने अल्पज्ञ भिक्षुओ की कुछ भ्रात धारणाओ के साथ-साथ वौद्धेतर मतो का भी खडन करके पुग्दलवादियो के मत को ठीक वतलाया है।

यहाँ हम उपर्युक्त आलोचको द्वारा की गई पुद्गलवाद की तीव्र आलोचनाओ को न देकर केवल उस सिद्धात को ही, उन्हीं के द्वारा व्यक्त रूप मे, प्रस्तुत करेंगे।

कथावत्थु तथा अन्य ग्रथो में सम्मितीयो का मत इस प्रकार दिया गया है—

पुदगलवादियो के मत का आधार वुद्ध के ये वचन हैं –(१) "एक वह 'पुद्गल' है जो अपने ही स्वार्थ के लिए परिश्रम करता है" (अत्थि पुग्गलो अत्थिताय पटिपन्नो);

१ 'अर्ली मोनेस्टिक वुद्धिज्म', २।

और "एक वह 'पुद्गल' है जो पुन जन्म लेता है बहुजन के हित और सुख के लिए, ससार के जीवो पर करुणा करने के लिए" (एक पुग्गलो लोके उप्पज्जमानो उप्पज्जति बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय, इत्यादि)। बुद्ध के इस प्रकार के वचनो का आश्रय लेकर, सम्मितीय लोग कहते है कि उपर्युक्त वाक्यो मे कहा गया 'पुग्गल' (पुद्गल) कोई भावात्मक वस्तु है, वह न मृगमरीचिका है और न कपोल-कल्पना। न तो 'निब्बान' की भांति कोई 'असस्कृत' वस्तु है और न भौतिक तत्वो (रूप, वेदना इत्यादि) की भांति 'सस्कृत'। 'पुग्गल' कोई नित्य एव सर्वव्यापक सत्ता भी नही है, साराश यह कि वह 'परमार्थ' सत्य नहीं है। एक ओर तो वह जीव के स्कधो से पृथक् कोई पदार्थ नही है, और इस कारण 'पुग्गल' और स्कधो के बीच आधार-आधेय जैसा किसी प्रकार का सबध स्थापित करना सभव नही है। दूसरी ओर, यद्यपि पुग्गल में स्कधो के सभी गुण और लक्षण वर्तमान रहते हैं तथापि वह न तो उनकी भाति कारण और प्रत्यय से उत्पन्न (सहेतु, सपच्चय) होता और न 'निब्बान' की भांति कारण और प्रत्यय से अनुत्पन्न (अहेतु, अपच्चय)। वह न 'सस्कृत' है और न 'असस्कृत'। यद्यपि वह स्कधो से अभिन्न नही है तथापि उनमें स्कधयुक्त (सस्कृत) जीवो की कुछ दशाएँ (जैसे सुख, दुख) पाई जाती हैं। उनमें असस्कृत पदार्थ के भी धर्म पाए जाते हैं, क्योकि वह जन्म, जरा और मरण के अधीन नही है। उसका तभी अत होता है जब जीव को पूर्ण मुक्ति (निर्वाण) प्राप्त हो जाती है।

अभिधर्म-कोश और उसकी व्याख्या में 'पुग्गल' और स्कधो के सबध की व्याख्या अग्नि और ईंधन का दृष्टात देकर की गई है। अग्नि तभी तक रहती है जब तक ईंधन रहता है, उसी प्रकार 'पुग्गल' तभी तक रहता है जब तक स्कध रहते हैं। परतु अग्नि और ईंधन में अतर यह है कि अग्नि में वस्तुओ को जलाने और प्रकाश उत्पन्न करने की शक्ति है, किंतु अकेले ईंधन में यह शक्ति नही है। अग्नि और ईधन दोनो सहवर्ती हैं और पहला दूसरे का आधार है। दोनो एक दूसरे से नितात भिन्न नही हैं, क्योकि ईधन अग्नि-तत्त्व (तेजस्) से सर्वथा शून्य नही है। यही सबध जीव के पुग्गल का उसके स्कधो के साथ है। सम्मितीय 'भारहार सूत्र' का उद्धरण देकर कहते हैं कि इसमें 'भार' से तात्पर्य स्कधो से है और उनका वाहक ('हार') 'पुग्गल' है। इस भार का मोचन इच्छाओ, रागो और सासारिक सुखो के त्याग से होता है। इस 'पुग्गल' का नाम होता है, गोत्र होता है, और वह सुख-दुख का भोक्ता भी है[1]।

१ सयुत्त ३, पृ० २५--कतमो भिक्खवे भारो ?

'भारहारसूत्र' पर विचार करते हुए शातरक्षित और कमलशील ने कहा है कि बुद्ध ने 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग केवल एक 'प्रज्ञप्ति' के रूप में किया था। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नही कहा कि वह असत् वा अस्तित्वहीन है, क्योकि किसी ने उसके स्व-रूप वा स्व-भाव के विषय में प्रश्न नही किया। उनके ध्यान में पांच स्कधो की समष्टि थी और समष्टि रूप में पाँचो स्कधो को ही उन्होंने 'पुग्गल' कहा था। वह जन्म-मरणहीन है, अत उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य भी नही है। वह न नित्य है और न अनित्य। वह वस्तुत अनिर्वचनीय एव अनवधारणीय है। वह स्कधो में अतर्भूत नही है, परतु वह तभी प्रकट होता है जब सब स्कध वर्तमान हो।

कथावत्थु में कहा गया है कि सम्मितीयो के मतानुसार उनका 'पुग्गल' रूपधारी (रूपी) मनुष्यो और देवो के लोक में भौतिक रूप में रहता है और भौतिक शरीर से हीन (अरूपी) उच्च कोटि के देवो के लोक में वह अभौतिक रूप में (अरूपी) रहता है। उनका कथन है कि पुद्गल (पुग्गल) प्राणियो के शरीर में 'सत्त्व' वा 'जीव' का स्थानी है, परतु साथ ही वह शरीर (काय) से न अभिन्न है और न भिन्न, क्योकि बुद्ध शरीर और जीव में अभेद और भेद दोनो नही मानते थे (त जीव त शरीर अञ्ञ जीव अञ्ञ शरीर)। सम्मितीय लोग बुद्ध के एक अन्य वचन को भी अपना आधार मानते हैं, जिसे वे अपने प्रवचनो में प्राय कहा करते थे। वह यह है कि 'स्मृत्युपस्थान का अभ्यास

पंचुपादानक्खन्धा तिस्स वचनीयम्।
कतमे पच? सेय्यथीदं रूपुपादानक्खधो,
वेदनुपादानक्खधो सञ्ञुपादानक्खधो, सखारुपादानक्खधो,
विञ्ञानुपादानक्खधो। अयं वुच्चति भिक्खवेभारो
कतमो च भिक्खवे भारहारो?
पुग्गलो तिस्स वचनीयम्। योऽयं
आयस्मा एवंनामो एव गोत्तो। अयं वुच्चति भिक्खवे भारहारो।

तत्त्वसंग्रह में कमलशील ने निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

भारहारः कतमः पुद्गल?
योऽसवायुष्मन्नेवंनामा
एवंजातिः एवगोत्रो एवमाहारः
एव सुखदुःखं प्रतिसवेदी
एवं दीर्घायुरित्यादि।

करते समय भिक्षु को सदा यह ज्ञान रहता है कि उसके शरीर के भीतर क्या हो रहा है (सो काये कायानुपस्सी विहरति)।

उपर्युक्त वचन मे बुद्ध ने 'सो' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'वह' अर्थात् 'पुद्गल', जो अपने शरीर की धातुओ और उसके अतर्गत होनेवाली क्रियाओ को देखता रहता है। यह 'सो' केवल प्रज्ञप्तिमात्र नही, प्रत्युत उससे यहा तात्पर्य वस्तुत 'पुग्गल' से है।

इसके पश्चात् सम्मितीय पुनर्जन्म की समस्या पर विचार करते है। वे यह मानते है कि 'पुग्गल' एक योनि से दूसरी योनि में प्रवेश करता है, परतु इन दोनो योनियो के 'पुग्गल' न एक है, न एक दूसरे से भिन्न। इसका कारण वे यह देते है कि जो मनुष्य सोतापन्न अवस्था को प्राप्त कर लेता है वह इस मर्त्य लोक में अथवा स्वर्ग में होनेवाले सभी भविष्य जन्मो में सोतापन्न बना रहता है। सोतापन्न मनुष्य सोतापन्न देव के रूप में पुन जन्म ले सकता है, अर्थात् 'सोतापन्नत्व' में परिवर्तन नही होता, यद्यपि उसके शरीर के स्कध मनुष्य के स्कधो से देव के स्कधो के रूप में परिवर्तित हो जाते है। 'सोता-पन्नत्व' का एक योनि से दूसरी योनि में चले जाना सभव ही नही है, जब तक कि 'पुग्गल' का अस्तित्व एव स्थायित्व स्वीकार न कर लिया जाय।

उपर्युक्त कथन के समर्थन में सम्मितीय बुद्ध के निम्नलिखित वचनो का आश्रय लेते है—

(१) (सत) पुरुषो के चार जोडे अथवा आठ (प्रकार के) पुग्गल होते है (सन्ति-चत्तारो पुरिसयुगा अट्ठ पुरिस पुग्गल)। यह वचन बुद्ध के सघ के सबध में कहा गया है जिसमें ऐसे शिष्य वा भिक्षु होते है जो साधना की प्रारभिक अवस्था (मग्ग) और फलो को प्राप्त करते है। ऐसे 'मग्ग' या फल के चार जोडे होते है, अर्थात् ऐसे मग्ग या फल कुल आठ है। इसमें 'पुग्गल' शब्द को सम्मितीय लोग बहुत महत्त्व देते है।

(२) 'सोतापन्न' को अपने दु खो का अत करने के लिए (निर्वाण प्राप्त करने के लिए) अधिक से अधिक सात बार पुन जन्म लेना पडता है, यह बुद्ध ने अपने इस वचन मे स्पष्ट किया है—"सो सत्तक्खत्तुपरमो सधावितवान पुग्गलो दुक्खस्सन्तकरो होति।" इस कथन में सम्मितीय लोग "सधावितवान पुग्गलो" (दूसरी योनियो में जन्म लेनेवाला पुग्गल) पर जोर देते है।

(३) जीव का ससरण-चक्र (ससार) अनादि है। तृष्णापाश में बंधे हुए जीवो का आरभ अज्ञात है। (अनमतग्गो अय ससारो पुब्बा कोटी न पञ्ञायति सत्तान

तण्ह-सयोजनान)। सम्मितीय इसमें 'ससारो' और 'सत्त्व' शब्दो को लेकर उनसे यह तात्पर्य निकालते हैं कि बुद्ध जीव का पुनर्जन्म मानते थे।

(४) बुद्ध प्राय उच्च शक्तियो अथवा ज्ञान (अभिज्ञा) की प्राप्ति के सवध में चर्चा किया करते थे। उनमें से एक पूर्व जन्म की बातें स्मरण रखने की शक्ति (पुब्बे निवासञाण) भी थी। वे स्वय भी अपने पूर्व जन्म की बातें बताया करते थे और इस प्रकार की बातें कहा करते थे कि 'जब मैं सुनेत्र था', इत्यादि। इससे भी सम्मितीयो के इस विचार की पुष्टि होती है कि एक ऐसा तत्त्व (पुग्गल) अवश्य है जो कई जन्मो तक बना रहता है और जो पूर्व जन्मो की बातें स्मरण रख सकता है। स्कधो के लिए पूर्व जन्म की बातें स्मरण रखना सभव नही है, क्योकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और मृत्यु के पश्चात्, एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करते समय तो उनमें अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है। सम्मितीयो का कथन है कि 'स्मृति' को स्वीकार करने का अर्थ है 'पुग्गल' के अस्तित्व को भी स्वीकार करना।

सम्मितीयो के कथनानुसार 'पुग्गल' चेतन है, परतु वह चित्त वा 'विज्ञान' से, जो जीव के पचस्कधो में से एक है, भिन्न है। चित्त वा विज्ञान की भाँति वह क्षणिक भी नही है, परतु प्रत्येक क्षणिक विचार वा ज्ञान में उसके अस्तित्व का अनुभव किया जा सकता है। नेत्र अपना कार्य कर रहे हो या नही, परतु पुग्गल 'द्रष्टा' के रूप में अपना कार्य करता रहता है, क्योकि बुद्ध ने कहा था कि "मैं अपने दिव्य नेत्रो से जीवो का आविर्भाव और तिरोभाव देखता हूँ।" इसमें 'मैं' का प्रयोग जिसके लिए हुआ है वही सम्मितीयो का 'पुग्गल' है।

इसके पश्चात् 'पुग्गल' के सार्थक कर्म करने के सामर्थ्य (अर्थक्रियाकारित्व) के विषय में विचार किया गया है। बुद्ध कहते थे कि यह ससार किसी ईश्वर का रचा हुआ (ईश्वरनिर्माण) नही है। उनके इस कथन के अनुरूप ही सम्मितीय लोग 'पुग्गल' को स्रष्टा वा कर्ता नही मानना चाहते, परतु वे कहते हैं कि माता, पिता वा गुरु या 'पुग्गल' एक प्रकार से मनुष्य का स्रष्टा वा कर्ता (कत्ता, कारेता) होता है। 'पुग्गल' का कोई स्वतत्र कार्य वा मानसिक धर्म (मनन, चिंतन, अनुभव आदि) नहीं होता। वह कर्म-फल का स्वतत्र भोक्ता भी नही है। यद्यपि यह कहा जाता है कि पुग्गल को सुख वा दुःख का अनुभव होता है, परतु 'पुग्गल' और 'फल' दो भिन्न पदार्थ नही हैं, क्योकि उन विभिन्न तत्त्वो के समुदाय को, जिनसे यह शरीर बना है, सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। यदि इस शरीर के भीतर कोई कर्ता या भोक्ता (कारक, वेदक) हो तो वह कर्म और वेदना से भिन्न नहीं हो सकता। कर्ता कर्म से

न भिन्न है, न अभिन्न। सम्मितीयों का यह कथन विरोधियों के उन तर्क के प्रतिवाद के रूप में था कि शाश्वत आत्मा की भांति अर्ध-शाश्वत 'पुग्गल' में कोई कर्तृत्व या कारित्व नहीं हो सकता। कर्तृत्व (अर्थक्रियाकारित्व) तो केवल अनित्य और क्षणिक आत्मा (या उसे जो भी नाम दिया जाय) में ही हो सकता है।

शांतरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह (३३६–३४९) में लिखा है वात्सीपुत्रीयों का 'पुग्गल' स्कंधों से न भिन्न है, न अभिन्न। कमलशील ने अपनी व्याख्या में कहा है कि वात्सीपुत्रीयों का 'पुद्गल' कर्मों का कर्ता तथा फलों का भोक्ता है। पुनर्जन्म में वह स्कंधों के एक समूह को छोड़कर दूसरे समूह को ग्रहण करता है। वह स्कंधों से पृथक् नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से उसे नित्य मानना पड़ेगा। वह स्कंधों से अभिन्न भी नहीं है (स्वयं स्कंध भी नहीं है), क्योंकि उस अवस्था में उसे एक नहीं, स्कंधों की भांति अनेक मानना पड़ेगा। अतएव वह अनिर्वचनीय है। कमलशील की उक्त व्याख्या का प्रज्ञाकरमति ने अपनी बोधिचर्यावतार की व्याख्या में समर्थन किया है।

इस प्रसंग में कमलशील ने न्यायवार्तिक (३,१,१) में की गई उद्योतकर की इस आलोचना पर भी विचार किया है कि यदि आत्मा स्कंधों से अभिन्न नहीं है तो उसकी पृथक् सत्ता माननी ही पड़ेगी। परंतु चंद्रकीर्ति ने सम्मितीयों के पुद्गलवाद को पूर्णतया निराधार एवं त्याज्य नहीं माना है,[1] प्रत्युत उन्होंने यह कहा है कि बुद्ध ने जिस प्रकार पीछे आदर्शवादी सिद्धांतों (विज्ञानवाद) का उपदेश किया उसी प्रकार उन्होंने पुद्गल-वाद को आवश्यक समझकर उसका उपदेश किया।

'सम्मितीय निकाय शास्त्र' (वेंकटरमण का अनुवाद) में आत्मा के संबंध में सभी संभव मतों का उल्लेख कर उनपर विचार किया गया है। उन मतों का संकलन इस प्रकार है (पृ० २१)—

(१) आत्मा सत् नहीं है।
(२) आत्मा अव्याकृत है।
(३) पंचस्कंध और आत्मा एक ही है।
(४) पंचस्कंध और आत्मा भिन्न-भिन्न है।
(५) आत्मा शाश्वत है।
(६) आत्मा अशाश्वत है।
(७) आत्मा सत् है, यद्यपि नित्य नहीं है।

१ माध्यमिक वृत्ति, पृ० २७६; पृ० १४८ तथा १९२ भी द्रष्टव्य हैं।

इनमें से अंतिम मत सम्मितीयों का है। इस ग्रंथ में अ-सम्मितीय मतों का संक्षेप में बिना किसी टीका-टिप्पणी के उल्लेख कर दिया गया है, परंतु सम्मितीय मत का पूर्ण रूप से विवेचन और प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) पुग्गल पंचस्कंधों से उत्पन्न (निर्मित वा संगठित) है और वह न नित्य है, न अनित्य।

(२) बुद्ध ने आत्मा का अस्वीकार वा अनात्म (अनत्त) सिद्धांत का प्रतिपादन इन भ्रांत मतों के निराकरण के लिए किया था कि आत्मा का आधार मानसिक 'संस्कार' है, अथवा आत्मा शरीर वा पंचस्कंधों से अभिन्न है (शरीर वा पंचस्कंध ही आत्मा है)।

बुद्ध ने अपने शिष्यों को 'मैं' और 'मेरा' (यह 'मैं' हूँ, यह 'मेरा' है) की भावना का त्याग करने का उपदेश दिया, क्योंकि उनके मतानुसार यह भावना एक मिथ्या आत्मा (अहं) की धारणा पर आश्रित है, जिसके प्रति सांसारिक मनुष्यों का दृढ़ राग होता है, परंतु उन्होंने उस आत्मा (पुग्गल) का निर्देश नहीं किया जो वस्तुतः राग का विषय हो ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त, बुद्ध ने अपने वचनों में 'असत्' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रसंगों में किया था। जैसे, उनका कथन था कि कुछ पदार्थ पूर्णतः (निरपेक्ष रूप से) असत् हैं, जैसे आकाश-कुसुम और शश-शृंग, किंतु कुछ पदार्थ परमार्थतः असत् किंतु व्यवहारतः (सापेक्ष रूप से) सत् हैं, जैसे दीर्घ-लघु, बीज-वृक्ष। अतएव उनके, आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने का यह अर्थ नहीं कि उन्होंने 'पुग्गल' के अस्तित्व को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया। पुग्गल को जो कभी-कभी अनिर्वचनीय कहा गया है उसका कारण यह है कि केवल जिन पंचस्कंधों का ही ज्ञान साधारण कोटि के लोगों को हो पाता है उनसे पुग्गल को न भिन्न कहा जा सकता और न अभिन्न। इसके अतिरिक्त यदि पुद्गल को नित्य वा अनित्य, अथवा 'संस्कृत' वा 'असंस्कृत' माना जाय तो वह सत्-वाद और असत्-वाद के दो अति कोटि के मतों में से किसी एक का स्वीकार करना होगा, जिन्हें बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया था। अतएव सापेक्ष रूप में पुग्गल की सत्ता बुद्ध को स्वीकार थी।

सम्मितीयों का तर्क है कि यदि पुग्गल को पूर्ण रूप से असत् माना जाय तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि जीव-हिंसा असत् है, हिंसा करनेवाला असत् है, साधना और सिद्धि असत् है और साधक वा भिक्षु भी असत् है, फिर तो बुद्ध भी असत्, उनके उपदेश भी असत्।

इस ग्रंथ में 'भारहार सूत्र' (दे० पूर्व पृ० २२४) का भी उल्लेख और विवेचन किया गया है और उसमें आए हुए 'पुग्गल' शब्द पर जोर दिया गया है। इस सूत्र के आधार पर सम्मितीयों का कथन है कि बुद्ध ने 'भार' और उसके वाहक (हार) अर्थात् उस भार को वहन करनेवाले व्यक्ति (पुग्गल) में भेद किया है। इस सूत्र से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'हार' अर्थात् पुग्गल, 'भार' अर्थात् स्कंधों से अभिन्न नहीं है, प्रत्युत पुग्गल और स्कंध दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। साथ ही, 'भार' और 'हार' दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते, दोनों अन्योन्याश्रित हैं, इस कारण 'पुग्गल' को स्कंधों से भिन्न वा पृथक् नहीं किया जा सकता।

आगे इस ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि ऐसी बात नहीं है कि राग, तृष्णा आदि दोषों को ग्रहण करना वा उनसे अपने को मुक्त करना अकेले 'पुग्गल' का ही काम है, स्कंधों का नहीं। परंतु उसके साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'पुग्गल' और 'स्कंध' एक दूसरे से न भिन्न हैं और न अभिन्न, क्योंकि बुद्ध जीव और शरीर में न भेद मानते थे और न अभेद (दे० पूर्व पृ० २२५)।

इसके पश्चात् 'पुद्गल' पर तीन पक्षों से विचार किया गया है—

(१) पुद्गल अपने आश्रय के नाम से अभिहित होता है (आश्रयप्रज्ञप्त पुद्गल), अर्थात् कभी-कभी पुद्गल को उसके आश्रय वा आलंबन के आधार पर नाम वा विशेषण दिया जाता है, जैसे अग्नि को उसके ईंधन का नाम वा विशेषण देकर पुकारा जाता है—वन की अग्नि (दावाग्नि), कोयले की अग्नि, इत्यादि। जीवधारियों में उनके 'संस्कार' ईंधन हैं और उनका 'पुद्गल' अग्नि। उस पुद्गल का नाम और गुण उसके संस्कारों के अनुरूप होता है। जीव जिस शरीर को धारण करता है उसी के अनुसार उसका नाम मनुष्य, नाग वा देव होता है। पुद्गल भौतिक शरीर (रूप) को धारण करता है, परंतु पुद्गल और रूप अन्योन्याश्रित एवं अविच्छेद्य होने के कारण एक ही समय में, एक साथ ही आते और जाते हैं। पता नहीं क्यों, चंद्रकीर्ति ने 'माध्यमिक वृत्ति' में लिखा है (पृ० १९२) कि सम्मितीयों का मत है कि स्कंधों को धारण करनेवाला (पुद्गल) स्कंधों को धारण करने के लिए उनसे पहले ही प्रकट होता है।

(२) संक्रमण-कालीन पुद्गल (संक्रमणप्रज्ञप्त पुद्गल), अर्थात् जब पुद्गल एक योनि से दूसरी योनि में प्रवेश करता है। जिस मनुष्य का चित्त वा विज्ञान अपने शील एवं समाधि के प्रभाव को अपने साथ ले जाता है, उसका पुनर्जन्म उच्चतर लोक में होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पंचस्कंध विघटित होकर पुद्गल के साथ उत्तम लोक को जाते हैं। उसके पुण्यकर्म तथा उसकी आध्यात्मिक सिद्धियाँ उसको

धि है जो दूसरे जन्म मे उसके साथ जाती है, अत उसका पुद्गल अकेला नही जाता। दि पुद्गल स्कधो से भिन्न हो तो अगले जन्मो में उसके टिकने के लिए कोई आधार नही मलेगा। इसी प्रकार, यदि पुद्गल सत्य और शाश्वत अथवा मिथ्या और क्षणभगुर ो तो वह एक योनि से दूसरी योनि में सक्रमण के समय अपने साथ कुछ भी नही ले ा सकता।

पुद्गल के सक्रमण की बात बुद्ध के अनेक वचनो में कही गई है। जैसे, उन्होने हा है कि 'मनुष्य उत्तम कर्म करता है तो उसके फलस्वरूप परलोक में सुख भोगता ', 'जो अपनी इद्रियो पर सयम रखता है वह दूसरे जन्म में सुख पाता है', 'मरने- ाला फिर जन्म लेता है', इत्यादि।

बुद्ध प्राय स्वय अपने पूर्व जन्मो की चर्चा किया करते थे, जिनमें उन्होने कई ारमिताओ में सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होने पहले ही अजित से कह दिया था कि मैं ावष्य में मैत्रेय बुद्ध होऊँगा। कुछ अवसरो पर उन्होने कृपण धनपतियो का भी ल्लेख किया है। उन्होने कहा है कि कृपण व्यक्ति अपार धन सचित कर लेता है ारतु जब मृत्यु निकट आती है तब उसे सब कुछ यही छोडकर अकेले, रिक्तहस्त जाना ड़ता है। बुद्ध के इन वचनो से स्पष्ट है कि अगले जन्मो की चर्चा करते समय उनके मन में पुद्गल ही था, जो अपने पूर्व जन्मो के कर्मो के परिणामस्वरूप सचित सस्कारो के साथ एक योनि से दूसरी योनियो में सक्रमण करता है।

(३) निर्वाण की अवस्था मे पुद्गल (निरोधप्रज्ञप्त पुद्गल), अर्थात् जब पुद्गल का ससरण निरुद्ध हो जाता है और फिर उसका जन्म नही होता। ऐसा तब होता है जब वह पूर्ण, अर्हत् हो जाता है और अपने को सपूर्ण दोषो से मुक्त (क्षीणास्रव) करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है, जिसके बाद पुनर्जन्म होता ही नही (नत्थि दानि पुनब्भवो)।

इसी ग्रथ में बुद्ध के एक दूसरे कथन पर विचार किया गया है, जिसमें उन्होने कहा है कि यह भवचक्र या ससारचक्र अनादि है (अनमतग्गोऽय ससारो, दे० पूर्व पृ० २२६), और उस कथन से यह तात्पर्य निकाला गया है कि आदि तो उसका अवश्य है, किंतु अज्ञानियो के लिए वह अगम्य है। इसी प्रकार आत्मा के अनस्तित्व के विषय में भी बुद्ध के कथन का तात्पर्य यह है कि अपूर्ण या अनर्हत् पुरुषो को पुद्गल के अस्तित्व या स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता। ग्रथकर्ता ने यह तर्क उपस्थित किया है कि यदि कोई पदार्थ साधारण बुद्धिवाले मनुष्यो की ज्ञान-सीमा के बाहर है तो इसी कारण से उस पदार्थ के सत् या असत् होने के सबध में सदेह नही करना चाहिए। उससे केवल अपूर्ण या अल्पज्ञ मनुष्य का ज्ञानाभाव ही सूचित होता है, सत् या असत् पदार्थ का अस्तित्व

का अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यह सत्य है कि रूप-लोक के जीवों के लिए अरूप-लोक अज्ञेय है, किंतु उस अज्ञेयता के कारण यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं कहा जा सकता कि अरूप-लोक का अस्तित्व ही नहीं है। इसी प्रकार पुद्गल भी अज्ञानियों के लिए अज्ञेय है, किंतु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि पुद्गल है ही नहीं। [illegible] सूक्ष्म कण, बाल का सिरा, धरती के भीतर की खान, समुद्र के उस पार का तट, पानी में घोला हुआ मुट्ठी भर नमक, भीत के पीछे छिपा हुआ रत्न, प्रेतादि का शरीर, यहाँ तक कि आँख की पलकें भी जो आँखों के इतने निकट हैं, इन साधारण चर्म-चक्षुओं से देखी नही जा सकतीं, किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। इन वस्तुओं को वे ही देख सकते हैं जिनके दिव्य नेत्र हों। इसी प्रकार इस भव-चक्र के आदि का ज्ञान अज्ञानियो के लिए संभव नहीं है, किंतु सम्यक् संबुद्ध, सर्वज्ञ, बुद्ध के लिए वह ज्ञेय है। बुद्ध ने जो यह कहा कि यह संसार अनादि है, वह मुख्यत इस उद्देश्य से कि उनके शिष्य शाश्वतवाद और नास्तिवाद मे विश्वास न करने लगें तथा उनके मन में 'मै था, मै हूँ, मै होऊँगा'—इस प्रकार की भावना न घर कर ले। यदि संसार का आदि आकाश-कुसुम वा शश-शृंग की भांति अस्तित्वहीन होता तो बुद्ध यह न कहते कि संसार अनादि है, क्योंकि कोई यह नहीं कहता कि आकाश-कुसुम या शश-शृंग नहीं हैं। गोलाकार पदार्थ का कही आदि नही होता, किंतु कोई यह नहीं कहता कि ऐसा पदार्थ है ही नही। यही बात ससार के विषय में भी समझनी चाहिए। यदि इस संसार का कोई आदि या अंत न माना जाय तो इसमे और निर्वाण में कोई भेद नही रह जायगा, क्योंकि निर्वाण भी अनादि और अनत है। इन तर्कों के द्वारा सम्मितीय-निकाय-शास्त्र के प्रणेता ने यह सिद्ध किया है कि बुद्ध ने कई विषयो के संबध में अपने गहन विचारो की पूर्ण रूप से व्याख्या नही की थी, उन्ही विषयो में से एक पुद्गल का अस्तित्व भी है। अत इसके विषय में उनके मौन का यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि वे पुद्गल को नही मानते थे।

अध्याय १४

बौद्ध धर्म और चीनी परिव्राजक

भारत मे ई० ४०० से ७०० तक के बौद्ध धर्म के इतिहास के लिए फाहियान, हुएन-साग और इत्सिग द्वारा लिखे गए यात्रा-विवरणो से अधिक अच्छे विवरण प्राप्त नही होते। ये तीनो चीनी यात्री ईसा की पाँचवी और सातवी शती में भारत आए थे। फाहियान ने ई० ३९९ से ४१४ तक भारत और लका मे यात्रा की थी। हुएन-साग ६२९ में चीन से चला और सपूर्ण भारत का भ्रमण कर, देश के विभिन्न भागो में बौद्ध धर्म की स्थिति के सबध में विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त करके ६४५ ई० में अपने देश लौट गया। ऐसा जान पडता है कि हुएन-साग ने फाहियान का यात्रा-विवरण देखा था, क्योकि कई बातो में उसके वर्णन प्राय ज्यो के त्यो फाहियान के ही वर्णनो से मिलते है। इत्सिग भारत में ६७१ से ६९५ ई० तक रहा, परतु उसका ध्यान मुख्यत बौद्ध भिक्षुओ द्वारा पालन किए जाने वाले विनय के नियमो तक ही सीमित रहा। कुछ सामान्य बातें उसने बौद्ध धर्म के भौगोलिक विभाजन के सबध में लिखी है। मध्यकालीन धार्मिक बुद्धि वाले पुरुष होने के कारण ये यात्री उन दिनो बौद्ध लोगो में प्रचलित जनकथाओ और विश्वासो को बहुत महत्त्व देते थे, उन्हे मनगढत वा अविश्वसनीय समझकर उनकी उपेक्षा नही करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी के सबध मे उनके अनुमान सदा ठीक नही पाए जाते, परतु जो कुछ भी उन्होने लिखा है उससे वे जिन स्थानो में गए थे उनकी स्थिति का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

फाहियान की दृष्टि हुएन-साग के जैसी आलोचनात्मक न थी, फिर भी उसने ई० पाँचवी शती के प्रारभ में भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति का जो विवरण दिया है वह सामान्य होने पर भी रोचक है। उत्तर प्रदेश के जिन स्थानो में फाहियान गया उनके सबध में ज्ञात होता है कि पजाब से वह यमुना के किनारे-किनारे दक्षिण-पूर्व की ओर चलता हुआ मथुरा पहुँचा। भारत के मध्यदेश नामक भाग के लोगों के सबध में पहले वह अपनी सामान्य धारणा प्रस्तुत करता है। जैसे, यहाँ का जलवायु समशीतोष्ण है, बस्ती घनी है, लोग सुखी हैं और अन्न का उत्पादन करनेवाले कृषकों को छोडकर अन्य लोगो को राजा को कोई कर नही देना पडता। राज्य के अधिकारियों

को पर्याप्त वेतन मिलता है। अपराधों के कठोर दंड नहीं दिए जाते। लोग जीव-हिंसा नहीं करते, न लहसुन-प्याज या मदिरा का सेवन करते हैं। केवल चाडाल लोग मछली और मास बेचते हैं।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजाओं और सेट्ठियों ने भिक्षुओं के लिए बहुत से विहार बनवा दिए थे और धातु के पत्रों पर दानपत्र खुदवाकर उनके नाम भूमिदान भी किया था। भिक्षु लोग उन विहारों में रहकर सूत्रों का पाठ, ध्यान और धर्म के कार्य करते हैं। आगतुक भिक्षुओं के प्रति वे विनय के नियमों के अनुसार उचित शिष्टता का व्यवहार करते और उन्हे विहार मे ठहरने के लिए सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

राजा लोग भिक्षुओं का उचित सम्मान करते हैं। जब वे किसी भिक्षु के यहाँ जाते हैं तो अपना मुकुट उतार देते हैं और ऊँचे आसन पर न बैठकर धरती पर बिछे हुए कालीन पर बैठते हैं। वे स्वय अपने हाथों से भिक्षुओं को भोजन देते हैं।

लोग सारिपुत्त, मौद्गल्यायन और आनद की स्मृति मे तथा अभिधर्म, विनय एव सूत्रों का पाठ करनेवालों के सम्मानार्थ स्तूपों का निर्माण कराते हैं। वर्षावास के अनतर गृहस्थ लोग भिक्षुओं को भोजन कराने और दान देने के लिए एक दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। सेट्ठि और ब्राह्मण लोग वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं का दान करते हैं। भिक्षु-गण धर्म का उपदेश देते और स्तूपों की पूजा करते हैं। भिक्षुणियाँ आनद के स्तूप की पूजा करती हैं और नए साधकगण राहुल के स्तूप की पूजा करते हैं। अभिधर्म और विनय के शिक्षार्थी अपनी भेंटे अभिधर्म और विनय के शिक्षकों को देते हैं और महायान के शिक्षार्थी प्रज्ञापारमिता, मजुश्री और अवलोकितेश्वर को।

विनय के नियमों और धार्मिक विधियों का पालन बुद्ध के समय से प्रत्येक पीढी मे बराबर एक ही प्रकार से होता आ रहा है।

उस समय बौद्ध धर्म उन्नति पर था। यमुना के दोनो किनारो पर बीस विहार थे जिनमे तीन सहस्र भिक्षु रहते थे।

फाहियान के लगभग दो सौ वर्ष बाद हुएन-साग मथुरा मे आया। उसने यहाँ की जलवायु को उष्ण तथा देश को आर्थिक दृष्टि से सपन्न पाया। उसने लिखा है कि लोग कर्मों के फल में विश्वास करते थे और नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से बहुत उन्नत थे। विहारो की सख्या उसने फाहियान के बराबर ही, अर्थात् बीस, दी है परतु भिक्षुओ की सख्या उसके अनुमान से दो सहस्र ही थी। उसने कितने ही देव-मदिरो तथा बौद्धेतर धर्मानुयायियो को देखा। उसने अशोक द्वारा बनवाए हुए तीन स्तूपो तथा सारिपुत्त, मुद्गलपुत्र, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र, उपालि, आनद और राहुल के अवशेषो पर निर्मित

स्तूपों को भी देखा। पर्व-दिनो तथा वर्षावास के समय मे भिक्षु लोग कई वर्गो मे बँट जाते थे और अपने-अपने वर्ग के पूज्य सतो की पूजा करने में वे एक-दूसरे से होड करते थे। अभिधर्मिक लोग सारिपुत्त की, समाधिवादी मुद्गलपुत्र को, विनयवादी उपालि की, भिक्षुणियाँ आनद की, श्रमण लोग राहुल की तथा महायानी विभिन्न बोधिसत्त्वो की पूजा करते थे। दोनो चीनी यात्रियो के वर्णनो मे इस विषय मे तात्त्विक समानता है, और जिन कारणो से बौद्ध धर्म के अतर्गत अनेक मतो का विकास हुआ उनमें से एक कारण उक्त प्रकार से किसी सत-विशेष की पूजा में कुछ बौद्ध भिक्षुओ की विशेष अभिरुचि होना भी विदित होता है। यह ध्यान देने की बात है कि सारिपुत्त परपरा से अभिधर्म पिटक के प्रतिपादक माने जाते है, अत यह सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि अभिधर्मिक लोग सारिपुत्त की पूजा करे। इसी प्रकार मौद्गल्यायन ने ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त की थी, अत वे समाधि-साधको के पूज्य सत थे। उपालि विनयपिटक का पडित था, अत विनयवादियो का उनकी पूजा करना उचित ही था। भिक्षुणी-सघ आनद के ही प्रयत्नो के फलस्वरूप स्थापित हुआ था, अतएव वह भिक्षुणियो का पूज्य हुआ। राहुल आदर्श श्रमण था, इसलिए वह श्रमणो द्वारा पूजित हुआ, और महायानी लोग मजुश्री तथा अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वो की पूजा करते थे।

चीनी यात्रियो के इन साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० पाँचवी से सातवी शती तक मथुरा महायानियो तथा अन्य सभी बौद्ध मतो के भिक्षुओ का प्रिय आश्रय-स्थान हो गया था,और इसी से हुएन-साग ने लिखा है कि वहाँ दो सहस्र भिक्षु परिश्रमपूर्वक हीनयान और महायान दोनो मतो का अध्ययन करते थे। हुएन-साग ने नटभट विहार का उल्लेख किया है, जहाँ उपगुप्त रहते थे, और उस गुफा का भी उल्लेख किया है जिसमें उनके शिष्यो ने लकडियाँ एकत्र की थी (दे० ऊपर, पृ० २०१)।

फाहियान मथुरा मे सीधे साकास्य गया था, परतु हुएन-साग ने लबा और चक्करदार मार्ग पकडा और मथुरा से उत्तर की ओर स्थानेश्वर, स्रुघ्न, मतिपुर, गोविसाण, अहिच्छत्र, पिलो-शन्-न होते हुए वह साकास्य पहुँचा, जो मथुरा से कुछ ही मील दूर है।

उत्तर प्रदेश के बाहर अबाला जिले के स्थानेश्वर नगर में हुएन-साग ने देखा कि वहाँ के लोग सुखी और सपन्न है और ब्राह्मण धर्म-कर्मों मे उनकी रुचि है। वहाँ तीन विहारो में कुछ हीनयानी बौद्ध भी रहते थे। वहाँ के लोग गीता के सिद्धातो का बडा आदर करते थे।

स्थानेश्वर से उत्तर-पूर्व की ओर चलकर हुएन-साग गगा के पश्चिम स्रुघ्न मे

पहुंचा जिसके उत्तर में ऊँचे-ऊँचे पर्वत थे। यहां के लोगों की आर्थिक और धार्मिक स्थिति स्थानेश्वर के लोगों-जैसी ही थी। यहां पांच विहार थे जिनमें एक सहस्र हीनयानी भिक्षु रहते थे। उनमें कुछ भिक्षु तो बड़े विद्वान् एवं हीनयान सिद्धांतों की व्याख्या में कुशल थे और दूसरे स्थानों के भिक्षु उनके पास अपनी शंकाओं के समाधान के लिए आया करते थे। हुएन-सांग ने दिव्यावदान (पृ० ७८) में विस्तार से वर्णित उस अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार बुद्ध उस स्थान को गए थे और वहां उन्होंने एक ब्राह्मण का अभिमान दूर किया था। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात यह देश ब्राह्मण-धर्मावलंबी हो गया। फिर कुछ समय के बाद ही कुछ प्रवीण बौद्ध आचार्य यहां बौद्ध धर्म की पुनः स्थापना करने में समर्थ हुए।

स्रुघ्न से हुएन-सांग पूर्व की ओर चला और उस स्थान पर पहुंचा जिसे गंगा का उद्गम (गंगाद्वार) कहते थे। संभवतः वह स्थान हरद्वार था। यहां के लोगों का दृढ़ विश्वास था कि गंगा में मज्जन करने से दिव्य लोकों में जन्म होता है। महान् संत और आचार्य आर्यदेव एक बार यहां गए और कुछ लोगों को यह विश्वास करा दिया कि गंगाजल के द्वारा पापों का उद्धार असंभव है। हुएन-सांग जयगुप्त नामक एक सौत्रांतिक आचार्य से शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए यहां कुछ समय तक रहा।

यहां से गंगा पार कर वह उसके पूर्व की ओर मतिपुर नामक स्थान में पहुंचा जिसकी पहचान कनिंघम ने पश्चिमी रुहेलखंड में स्थित मंडावर से की है। यहां उसने उस विहार को देखा जिसमें महान् वैभाषिक आचार्य गुणप्रभ रहते थे। इस स्थान से अनति-दूर वह विहार था जिसमें एक अन्य गंभीर वैभाषिक विद्वान् संघभद्र रहते थे, जो काश्मीरी थे और जो निश्चय ही वहां वसुबंधु के साथ विचार-विमर्श करने के लिए आए रहे होंगे (दे० पृ० २१३)।

हुएन-सांग ने यहां दो स्तूप देखे—एक संघभद्र के अवशेषों पर निर्मित था, दूसरा उनके शिष्य विमलमित्र के। विमलमित्र भी काश्मीरी था और वह वैभाषिक सिद्धांतों का विशिष्ट प्रतिपादक तथा वसुबंधु की सौत्रांतिक सिद्धांतों की ओर प्रवृत्ति का कठोर आलोचक था। हुएन-सांग गुणप्रभ के ग्रंथ 'तत्त्वसंदेश शास्त्र' एवं अन्य अभिधर्म-व्याख्या-ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए कई महीने यहां रहा। वह गुणप्रभ के एक शिष्य मित्रसेन से मिला, जो अत्यंत वृद्ध होने पर भी बड़ा गंभीर विद्वान् था।

मतिपुर से वह उत्तर की ओर चलकर गोविषाण पहुंचा, जिसकी पहचान कनिंघम ने काशीपुर, रामपुर और पीलीभीत से की है। यहां के लोग सत्यशील, धर्मात्मा

तथा ब्राह्मण-धर्म को माननेवाले थे। यहाँ केवल दो विहार थे, जिनमें एक सौ भिक्षु रहते थे।

गोविषाण से हुएन-सांग अहिच्छत्रा (रुहेलखंड का पूर्वी भाग) गया। यहाँ के लोग भी सत्यशील थे और ब्राह्मण-धर्म और दर्शन का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते थे। कुछ लोग पाशुपत मत को माननेवाले तथा शिव के पूजक थे। यहाँ दस विहारों में सम्मितीय मत के बहुत से बौद्ध भिक्षु रहते थे।

अहिच्छत्रा से वह दक्षिण की ओर गया और पि-लो-शन्-न पहुँचा। यहाँ के लोग ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। यहाँ दो विहार थे जिनमें आठ सौ महायानी भिक्षु रहते थे।

पि-लो-शन्-न से हुएन-सांग दक्षिण-पूर्व की ओर चला और कपित्थ या सांकाश्य पहुँचा, जिनका अनुवाद चीनी भाषा में क्वांगमिंग (=प्रकाश, विमलता) किया गया है। फाहियान बुद्ध के त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अवतरण की अनुश्रुति का विस्तार से उल्लेख करता है और कहता है कि अशोक ने सीढ़ियों के पास एक विहार तथा एक प्रस्तर-स्तंभ बनवा दिया, जिसके शीर्ष पर एक सिंह तथा चारों ओर बुद्ध की प्रतिमाएँ बनी हुई थीं। यहाँ एक सहस्र भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहतीं और हीनयान तथा महायान मतों का अध्ययन करती थीं।

हुएन-सांग भी बुद्ध के त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से उतरने की अनुश्रुति का उल्लेख करता है। वह कहता है कि पुरानी निसेनियाँ नष्ट हो गई थीं और उनके स्थान पर नई बनवा दी गई थी। ये निसेनियाँ सत्तर फीट ऊँची थीं और एक विहार में पहुँचती थीं, जिनमें बुद्ध की एक प्रस्तर-प्रतिमा तथा उसके दोनों ओर ब्रह्मा और इन्द्र की प्रतिमाएँ उतरती हुई मुद्रा में बनाई गई थीं। हुएन-सांग ने वहाँ अशोक का स्तंभ भी देखा। वह यह भी लिखता है कि इस स्थान के निवासी अधिकतर शैव थे। वहाँ चार विहार थे जिनमें सम्मितीय मत के एक सहस्र भिक्षु रहते थे। इनमें से एक विहार बड़ा था और उसकी बनावट अत्यंत सुंदर और सुडौल थी। इसमें सम्मितीय भिक्षु रहते थे।

सांकाश्य से दक्षिण-पूर्व की ओर सात योजन चलकर हुएन-सांग गंगातट के नगर कान्यकुब्ज या कन्नौज में पहुँचा। यहाँ उसने केवल दो विहार देखे जिनमें हीनयानी भिक्षु रहते थे। ऐसा जान पड़ता है कि फाहियान के समय तक कन्नौज वह महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका था जो उसे आगे चलकर राजा हर्षवर्धन द्वारा राजधानी बनाए जाने पर प्राप्त हुआ।

हुएन-सांग कन्नौज का दीर्घ विवरण प्रस्तुत करता है और कुब्जा राजकुमारी की कथा का भी उल्लेख करता है जिनके नाम पर उस नगर का नाम कान्यकुब्ज पड़ा। हर्षवर्धन ने किन परिस्थितियों में सिंहासन प्राप्त किया, उसका सैन्य-बल कितना था, कैसे उसने एक विशाल राज्य विजय किया तथा बौद्ध धर्म के घोर शत्रु शशांक को पराजित किया—इन सब बातों का वह बड़े विस्तार से वर्णन करता है। हर्षवर्धन का पिता ब्राह्मण धर्म का अनुयायी एवं सूर्य का उपासक था। हर्षवर्धन यद्यपि बौद्ध धर्म का संरक्षक था, परंतु ब्राह्मणों को बराबर सहायता देता रहा। वह प्रतिदिन एक सहस्र भिक्षुओं और पाँच सौ ब्राह्मणों को भोजन कराता था। उसकी बहिन राज्यश्री सम्मितीय मत की भिक्षुणी बन गई थी। उसके उत्तम शासन के कारण तीस वर्ष तक उसकी प्रजा सुख-शांति से रही। उसने अनेक विहार बनवाए। वह नियमित रूप से प्रति पाँचवें वर्ष बौद्ध भिक्षुओं की सभा किया करता था। विद्वान्, विशेषतः शास्त्रार्थ में निपुण, भिक्षुओं को वह पुरस्कार देता था। उसने असम के राजा भास्करवर्मा को, जिसके निमंत्रण पर हुएन-सांग उसकी राजधानी में गया था, उस चीनी यात्री सहित अपने पास आने के लिए विवश किया। परंतु हुएन-सांग से उसने इसके लिए क्षमा माँगी और उससे उसकी यात्रा तथा उसके राजा और देश की विशद कीर्ति के संबंध में प्रश्न किए।

हर्षवर्धन के बौद्ध धर्म को संरक्षण देने के कारण भिक्षुओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई, क्योंकि हुएन-सांग ने कान्यकुब्ज में एक सौ विहार देखे, जिनमें दोनों यानों के दस सहस्र भिक्षु रहते थे। वहाँ दो सौ देवमंदिर भी थे, जिनमें कई सहस्र पुजारी रहते थे।

हुएन-सांग ने कनौज में तीन मास तक भद्रविहार में रहकर आचार्य वीर्यसेन से असंग के शिष्य एवं वसुबंधु के समसामयिक बुद्धदास द्वारा रचित विभाषाओं का अध्ययन किया।[1]

फाहियान कनौज से तीन योजन दक्षिण-पूर्व चलकर शा-चे (साकेत) आया। उसने यहाँ बुद्ध की दंतकूर्चिका (दतुअन) से एक वृक्ष की अलौकिक उत्पत्ति की कथा का वर्णन किया है।

हुएन-सांग ने दूसरा मार्ग पकड़ा। वह कनौज से चलकर नवदेवकुल संभवतः नवल, जि० उन्नाव गया और वहाँ से दक्षिण-पूर्व की ओर एक लंबी यात्रा के बाद गंगा पार

१ शीफनर, तारानाथ, अध्याय २३।

करके अयोध्या पहुँचा। अयोध्या से हयमुख, प्रयाग, कौशावी आदि होता हुआ वह साकेत आया।

हुएन-साग लिखता है कि अयोध्या नगरी शस्यो और फलो एव पुष्पो से परिपूर्ण थी। वहाँ के निवासियो की सत्कर्मों में रुचि थी और वे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने में दत्तचित्त रहते थे। वह इस नगरी में बुद्ध के आने की अनुश्रुति का तथा उनके अभ्यागम के स्मारक-स्वरूप बनवाए गए अशोक-स्तूप का भी उल्लेख करता है। वसुवधु के विपय मे उसका कथन है कि वह एक प्रसिद्ध सत और विद्वान् था और उसने कई वर्ष अयोध्या में रहकर सर्वास्तिवाद पर दार्शनिक ग्रथो की रचना की थी। वह राजकुमारो तथा विशिष्ट भिक्षुओं एव ब्राह्मणो का गुरु था। स्पष्टत हुएन-साग का सकेत युवराज बालादित्य के शिक्षक के रूप में वसुवधु की नियुक्ति की ओर है (दे० पृ० २१३)।

हुएन-साग ने अपनी भारत-यात्रा के दो सौ वर्ष पूर्व के वसुवधु और असग के विपय मे जो कुछ लिखा है वह केवल सुनी-सुनाई वातो के आधार पर। इस कारण, जैसा कि फ्राउवालनर ने निर्देश किया है, उसने दो वसुवधुओ का वृत्त एक में मिला दिया है (दे० पूर्व पृष्ठ २१४)।

उसने लिखा है कि असग और वसुवधु पेशावर के थे और दोनो ही वडे विद्वान् थे। असग पहले महीशासक मत के अनुवर्ती हुए और वसुवधु महीशासको की सर्वास्तिवादी शाखा के। असग कुछ समय तक अयोध्या में रहे। वे योगाचार दर्शन के एक महान् आचार्य हुए और मैत्रेय की प्रेरणा से उन्होने 'योगाचार-भूमि-शास्त्र' (यह प्रकाशित हो रहा है), 'सूत्रालकार' और 'मध्यान्त-विभाग-शास्त्र' (दोनो प्रकाशित) नामक प्रसिद्ध ग्रथो की रचना की।

असग ने अपने भाई वसुवधु के मन में योगाचार दर्शन के विज्ञानवाद के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी और उन्हें अपने दार्शनिक विचारो का अनुयायी वना लिया। दशभूमिक सूत्र (प्रकाशित) का अध्ययन करने के वाद वसुवधु पक्के महायानी हो गए।

यहाँ विचारणीय केवल यह है कि क्या, जैसा हुएन-साग ने कहा है, असग और महायानी वसुवधु अयोध्या में रहते थे, अथवा हुएन-साग ने हीनयानी वसुवधु के विपय में प्रचलित अनुश्रुतियाँ सुनीं और असग के विपय में जो जानकारी प्राप्त हुई उसे उसने उनके साथ जोड दिया। हुएन-साग ने लिखा है कि प्रसिद्ध सौत्रातिक आचार्य श्रीलाभ भी, जो हीनयानी वसुवधु के समसामयिक थे और जिनके मतो का यशोमित्र ने अपने ग्रथ अभिधर्मकोश व्याख्या में प्राय उल्लेख किया है, कुछ काल तक अयोध्या में रहे थे और उन्होने सौत्रातिक-विभाषा-शास्त्र की रचना की थी।

अयोध्या मे हुएन-साग ने एक सौ विहार देखे, जिनमें हीनयान और महायान दोनो शाखाओ के तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। सभवत उसके समय तक अयोध्या नगरी उक्त दोनो शाखाओ के बौद्ध दर्शनो के प्रमुख आचार्यो का महत्त्वपूर्ण केंद्र हो गई थी।

अयोध्या से हुएन-साग हयमुख गया, जहां के लोगो को उसने आचार-विचार एव आर्थिक स्थिति में अयोध्यावासियो के समान ही पाया। यहां उसने पांच विहार देखे जिनमें सम्मितीय मत के एक सहस्र भिक्षु रहते थे। एक विहार में सर्वास्तिवाद मत का प्रसिद्ध भाष्यकार बुद्धदास रहता था।

हयमुख से वह प्रयाग (इलाहाबाद) गया और वहां का जलवायु अनुकूल पाया। यह देश ब्राह्मण-धर्मानुयायी था और यहां ऐसे लोग थे जो अपने जीवन का अंत करने के लिए कठोर तप करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस पवित्र स्थान में देह-त्याग करने से स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा। हर्षवर्धन प्रति पांचवें वर्ष सभी धर्मों और मतो के सुपात्र विद्वानो एव सतो को पुरस्कार वितरण करने के लिए यहां आया करता और अपनी असीम उदारता के कारण अपना सर्वस्व दान करके यहां से प्राय रिक्तहस्त होकर लौटता था। यहां दो विहारो में कुछ हीनयानी भिक्षु रहते थे। माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का विख्यात शिष्य आर्यदेव यहां रहता था और यही उसने 'शत-शास्त्रवैपुल्य' (क्वाग-पाइ-लुन) ग्रथ की रचना की थी।

प्रयाग से हुएन-साग कौशाबी गया। कोसम के उत्खनन से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि प्राचीन कौशाबी इलाहाबाद जिले में वर्तमान स्थान पर थी। हुएन-साग लिखता है कि यहां के लोग साहसी और धार्मिक प्रवृत्ति के थे और कलाओ में उनकी अभिरुचि थी। यह वत्स राज्य के अधिपति राजा उदयन की राजधानी थी। यहां उसने सेट्ठि घोषित द्वारा बनवाए गए घोषिताराम नामक प्रसिद्ध विहार के खंडहर देखे। उसके कथनानुसार महायानी वसुबधु ने यहां कुछ समय तक रहकर 'विज्ञप्तिमातृका सिद्धि' नामक ग्रथ (अब प्रकाशित) लिखा, जिसमें उसने 'मन और मात्रा' के अस्तित्व का खडन किया और "पदार्थों के फलत परिवर्तन से अप्रभावित एव भ्रम से निर्लिप्त नित्य मन की सत्ता से पृथक् इद्रियानुभव के, मिथ्यात्व" की स्थापना की। हुएन-साग ने ठीक ही बतलाया है कि उक्त ग्रथ का सार 'विज्ञप्तिमात्रता' की नित्यता है। असग ने भी यहां एक ग्रथ रचा था। उसने महा-माया सूत्र में की गई एक भविष्यवाणी का उल्लेख किया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के १,५०० वर्षों के बाद बौद्ध धर्म का अत हो जायगा। हुएन-साग के समय मे कौशाबी के लोग ब्राह्मण धर्म को मानते थे और यहां उस समय केवल दस विहार थे

जिनमें ३०० हीनयानी भिक्षु रहते थे। यहाँ पाए गए एक प्राचीन शिलालेख से विदित होता है कि यहाँ कस्सपिय मत के भिक्षु रहते थे।[1]

हुएन-साग कौशाबी से कासपुर गया, जिसके निकट उसने एक विहार के खँडहर देखे। इस विहार में धर्मपाल रहता था, जिसने अ-बौद्ध आचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। धर्मपाल दक्षिण भारत का निवासी था और वह अपने देश की राजकुमारी से विवाह करने से अपना पिंड छुडाने के लिए भिक्षु हो गया था। वह नालदा का वहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गया और उसने शीलभद्र को अपना शिष्य बनाया। वह गुणमति और स्थिरमति नामक वैभाषिक आचार्यों का तथा महान् माध्यमिक आचार्य भावविवेक का समकालीन था।

कासपुर से वह विशोक गया, जिसकी पहचान फाहियान के सा-चे अथवा साकेत से की गई है और जो सभवत विशाखा का स्वदेश होने के कारण प्यार से उसी के नाम से प्रसिद्ध हो गया था (चीनी अनुवाद में 'विशाखा' का 'विशोक' हो गया है)। यह देश शस्यो से सपन्न था और लोग अध्ययनशील एव सत्कर्मनिष्ठ थे। यहाँ एक विहार था, जिसमें देवशर्मा रहता था, जिसने यही रहकर सर्वास्तिवादियो के अभिधर्मपिटक के 'ग्रथ विज्ञानकायपाद' की रचना की थी (दे० पूर्व पृ० २११)। यहाँ गोप नाम का एक अन्य भिक्षु था, जिसने मन और अ-मन (मन के विषय) के अभाव के सबध में देवशर्मा के मतो का खडन किया। ऐसा जान पडता है कि गोप सम्मितीय सप्रदाय का था जो 'पुद्गल' नाम के एक अनित्य वा क्षणिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता था। धर्मपाल बोधिसत्त्व भी, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, बाद में यही आकर रहने लगा था। उसने यहाँ सात दिनों तक चलने वाले शास्त्रार्थ मे कई हीनयानी आचार्यों को परास्त किया।

आगे हुएन-साग उस अलौकिक वृक्ष का उल्लेख करता है जो फाहियान के उपर्युक्त उल्लेखानुसार बुद्ध की दतकूचिका (दतुअन) से पल्लवित हुआ था।

साकेत में ब्राह्मण धर्म के बहुत से अनुयायी थे। यहाँ केवल वीस विहार थे जिनमें सम्मितीय सप्रदाय के ३,००० भिक्षु रहते थे।

फाहियान साकेत से श्रावस्ती गया, जिसकी पहचान सहेत-महेत से की गई है। उस समय यहाँ वस्ती बहुत कम थी। वह श्रावस्ती का इस प्रकार वर्णन करता है—

नगर के बाहर कोई १,२०० डग पर जेतवन विहार था। यह एक विशाल

१. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाबी, पृ० ५९।

सतमंजिला भवन था और यहां राजा और सामंतगण तथा देश के अन्य लोग उपासना के लिए आते थे। संयोगवश आग लग जाने से यह नष्ट हो गया। यात्री ने यहां दो प्रस्तर-स्तंभ देखे, जिनमें से एक के ऊपर धर्मचक्र बना था और दूसरे के ऊपर एक वृषभ। इस विहार से कुछ दूर पर अंधवन था, जहां भिक्षुगण ध्यान लगाते और ज्ञानचक्षु प्राप्त करते थे। फाहियान और हुएन-सांग दोनों ने इसे 'प्राप्त चक्षुओं का वन' कहा है और इसके विषय में एक दंतकथा का वर्णन किया है जिसके अनुसार यहां कुछ दस्युओं ने बुद्ध के प्रभाव से पुन दृष्टि प्राप्त की थी।

फाहियान ने यहां विशाखा द्वारा बनवाए मिगारमातुपासाद नामक विहार का स्थान देखा और साथ ही वह स्थान भी देखा जहां राजा प्रसेनजित् के पुत्र विरूढक से बुद्ध की भेंट हुई थी।

उसने उन असद्धर्मियों की भी चर्चा की है जिन्होंने सुंदरी और चिंचा की सहायता से बुद्ध को कलंकित करने का षड्यंत्र रचा था और जिनका मठ जेतवन के पास ही था। अंत में उसने देवदत्त का भी उल्लेख किया है जिसके अनुयायी उस समय विद्यमान थे।

जेतवन में फाहियान के ध्यान में पुरानी बातें गूंज रही थीं। वह बुद्ध के जीवन के विषय में तथा पचीस वर्ष तक उनके श्रावस्ती में निवास के विषय में सोचने लगा। फिर उसे अपने उन साथियों का स्मरण हो आया जो मार्ग में ही मर गए थे या स्वदेश लौट गए थे। जेतवन-निवासी भिक्षुओं ने उसका बडे आदर से स्वागत किया। एक विदेशी को बुद्ध तथा बौद्ध धर्म में अनुरक्त देखकर उन्हें बडा आश्चर्य हुआ।

हुएन-सांग फाहियान के ही मार्ग से चलकर साकेत से श्रावस्ती के प्रसिद्ध नगर में पहुँचा। उसने देश को शस्यों से संपन्न तथा वहां के निवासियों को धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए पाया। उसने वहां (१) राजा प्रसेनजित् के बनवाए एक विहार, (२) जेतवन विहार, तथा (३) महाप्रजापति गौतमी के नाम अर्पित एक भिक्षुणी-विहार के खंडहर देखे। जेतवन के पूर्व द्वार पर उसने दो अशोक-स्तंभ देखे। उनमें से एक के शिखर पर धर्मचक्र बना था और दूसरे के शिखर पर एक वृषभ, जैसा कि फाहियान ने भी वर्णन किया है। उसे अनाथपिंडिक, अंगुलिमाल (दे० पूर्व पृष्ठ ८६), सारिपुत्त और बुद्ध की स्मृति में बनवाए गए स्तूप भी मिले।

कहा जाता है कि मूल जेतवन विहार और उसके स्थान पर बनाया गया दूसरा विहार, दोनों ही आग में जलकर नष्ट हो गए। चीनी ग्रंथों के अनुसार यह विहार लगभग १३० एकड क्षेत्र में बना हुआ था और इसमें भोजन, प्रवचन तथा ध्यान के लिए अलग-अलग शालाएँ बनी हुई थीं। उसमें स्नानगृह, चिकित्सालय, पुस्तकालय और

जलाशय भी बने हुए थे और सपूर्ण विहार एक दीर्घ प्राकार से घिरा हुआ था। यहाँ के पुस्तकालयो में बौद्ध ग्रथो के अतिरिक्त वैदिक तथा अन्य बौद्धेतर ग्रथ एव भारतीय कलाओ और शास्त्रो के भी अनेक ग्रथ थे। यह विहार नगर की भीडभाड से बाहर था, साथ ही उससे बहुत दूर भी नही था। यह स्थान अत्यत शात, शीतल और रमणीक तथा पूजा-उपासना के लिए अत्युत्तम था।

ह्वेन-साग ने सारिपुत्त और मौद्गलायन के बीच बल-परीक्षा की कथा का, जिसका मूलसर्वास्तिवाद विनय (भैषज्य-वस्तु, पृ० १६५) में विस्तृत वर्णन है, और बुद्ध के चरित्र को लाछित करने के लिए असद्धर्मियो द्वारा नियुक्त चिचा माणविका का, तथा सघ का प्रधान बनने के लिए देवदत्त की महत्त्वाकाक्षा का भी उल्लेख किया है।

यद्यपि ह्वेन-सांग ने श्रावस्ती के खँडहरो का ब्योरा अधिक दिया है, परतु तत्त्वत उसने फाहियान द्वारा वर्णन की गई बातो को ही दोहराया है।

ह्वेन-सांग के समय में यह स्थान बौद्धो द्वारा त्यक्त हो चुका था, विहार खँडहर हो गए थे और केवल सम्मितीय शाखा के थोडे से भिक्षु रह गए थे। उस समय ब्राह्मण-मदिरो की बहुलता थी और लोग ब्राह्मण धर्म के ही अनुयायी थे।

श्रावस्ती छोडने के बाद फाहियान ने गौतम बुद्ध के पहले के तीन बुद्धो—काश्यप, क्रकुच्छद और कनकमुनि—की स्मृति में बनवाए गए स्तूपो को देखा।

फिर वह कपिलवस्तु गया जिसे उसने सुनसान खँडहरो के रूप में पाया। उसने यहाँ राजकुमार सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उपालि सहित शाक्यो के बौद्ध बनने तक की बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओ से सबद्ध स्थानो को ध्यान से देखा। उसने महाप्रजापति द्वारा दिए गए एक वस्त्र (सघाटी) के दान का तथा विरुद्धक द्वारा शाक्यो के वध का भी उल्लेख किया है। देश उस समय उजडा हुआ था, केवल थोडे से भिक्षु और कुछ गृहस्थ वहाँ रहते थे।

कपिलवस्तु के लुबिनीवन से थोडी ही दूर पर रामग्राम था, जहाँ भगवान् बुद्ध की अस्थियो पर एक स्तूप बना हुआ था। अशोक इस स्तूप से अस्थियो का सग्रह नही कर सका था। इसके चारो ओर झाड-झखाड उगे हुए थे और वन्य पशुओ के अतिरिक्त उसकी रखवाली करनेवाला कोई न था। अत में एक श्रमण ने उसे ढूंढ निकाला, चारो ओर की झाडियाँ काटकर साफ कर दी और उसे पूजन के योग्य बना दिया। उसने वहाँ के एक सामत से कह-सुनकर अपने लिए एक विहार बनवा लिया। फाहियान ने वहाँ कुछ भिक्षुओ को देखा था।

हुएन-साग ने भी कपिलवस्तु को एकदम उजाड़ पाया, केवल राजप्रासाद के प्राकार की ईंटो की नींव दिखाई पड़ती थी। उसने बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सबद्ध स्थानो के वर्णन मे फाहियान का ही अनुसरण किया। उसने ककुच्छन्द और कनकमुनि के स्तूप भी देखे। कनकमुनि के स्तूप के पास उसने एक बीस फुट ऊँचा प्रस्तर-स्तभ देखा जिसके शिखर पर एक सिंह बना था, जिसके पार्श्व में एक लेख खुदा हुआ था। इस लेख के विषय के सबध मे उसका ज्ञान सुनी हुई बातों पर ही निर्भर था। प्रकटत उसने वह अशोक-स्तभ देखा था जिसपर ब्राह्मी यह लेख खुदा हुआ था—"देवानपियेन पियदसिना लजिना चोदसवसाभिसितेन बुधस कोनाक मुनस थुबे दुतिय वढिते विस-तिवसाभिसितेन च अतन आगाच महीयिते सिलाथुभे च उसपापिते।" (देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के द्वारा, जब उसके अभिषेक को चौदह वर्ष हो गए, कनकमुनि बुद्ध का यह स्तूप दूसरी बार विस्तृत किया गया, फिर जब उसके अभिषेक को बीस वर्ष हो गए, तब उसने स्वय जाकर उस स्तूप की आराधना की और वहाँ एक प्रस्तर-स्तभ स्थापित कराया)। हुएन-साग ने बुद्ध के जीवन की घटनाओ का ब्यौरा अधिक दिया है, अन्यथा, उसने फाहियान द्वारा लिखे गए विवरण के अतिरिक्त नई बातें बहुत कम दी है।

यहाँ हुएन-साग ने कई विहारो के खंडहर देखे, केवल एक विहार मे सम्मितीय मत के तीस भिक्षु रहते थे।

कपिलवस्तु से वह रामग्राम गया और वहाँ उसने फाहियान द्वारा लिखी हुई बातों की ही पुनरुक्ति की, केवल राजकुमार सिद्धार्थ की प्रव्रज्या की घटनाओ से सबद्ध स्थानो के विषय में कुछ और बातें जोडी।

रामग्राम से हुएन-साग कुशीनगर गया, जो बुद्ध के महापरिनिर्वाण का पवित्र स्थान था। इस नगर में निवासियो की सख्या बहुत कम थी और भिक्षु भी बहुत थोडे थे। उसने बुद्ध के परिनिर्वाण से सबधित अनुश्रुतियो और तथ्यो का वर्णन किया है, यथा—सुभद्र का दीक्षा ग्रहण करना, देवो द्वारा अर्थी में रखे हुए बुद्ध के शरीर की पूजा तथा आठ सामतो को उनकी अस्थियो का वितरण।

हुएन-साग ने यहाँ का वर्णन अधिक विस्तार से किया है और कुछ नई बातें भी बतलाई है। वह लिखता है कि कुशीनगर जानेवाला मार्ग दस्युओ एव वन्य पशुओ द्वारा आक्रात रहता था। उसने यही नगर की ईंट की बनी पुरानी नीव तथा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप देखा, जो उसी स्थान पर बना हुआ था जहाँ चुड का घर था। इस चुड ने ही बुद्ध को सूकरमद्दव का अतिम भोजन कराया था, जिसे चीनी ग्रथो में

एक प्रकार का भोज्य पदार्थ (छत्राक वा भूफोड) वताया गया है, जिसका उल्लेख प्राय. 'भिक्षुओ का आमिष' कहकर किया गया है।

उसने अजिरवती (हिरण्यवती) नदी के उस पार का शाल-वन तथा एक मदिर भी देखा, जिसमें वुद्ध की एक लेटी हुई प्रतिमा थी, जिसका सिर उत्तर की ओर था। इस प्रतिमा का पता कार्लाइल को सन् १८७०-७५ में लगा था। यह 'मरणोन्मुख वुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है, जो एक ईंट के वने मदिर में लिटाई हुई है, जिसका मुख उत्तर की ओर है। इस मदिर के चारो ओर अनेक स्तूप है।' यहाँ एक वडा सा स्तूप था और उसके पास ही एक दो सौ फुट उँचा अशोकस्तभ था, जिसपर एक लेख खुदा हुआ था। प्राचीन घटनाओ के स्मारक अन्य स्तूपो में से उसने निम्नलिखित स्तूपो का उल्लेख किया है—

(१) सुभद्र का स्तूप, जो वह अतिम व्यक्ति था जिसे वुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के ठीक पहले दीक्षा दी थी, (२) उस स्थान पर बना हुआ स्तूप जहाँ वज्रपाणि मूर्छित हुआ था, (३) उस स्थान पर वना हुआ स्तूप जहाँ महामाया ने स्वर्ग से अव-तरण के वाद रुदन किया था, (४) उस स्थान पर निर्मित स्तूप जहाँ वुद्ध की अस्थियाँ आठ दावेदारो को वाँटी गई थी।

कुशीनगर छोडने के पश्चात् फाहियान वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह और गया होता हुआ वाराणसी पहुँचा। वह ऋषिपत्तन का वर्णन वुद्ध के आविर्भाव पर प्रत्येक वुद्धो के देहत्याग से प्रारभ करता है, तत्पश्चात् वह उन परिस्थितियो का वर्णन करता है जिनमें पाँचो ब्राह्मण तपस्वियो ने वुद्ध का साथ छोड दिया। फिर जिस प्रकार वे उनके सर्वप्रथम शिष्य हुए उसका विवरण प्रस्तुत करता है। उसने भविष्य में वुद्ध के रूप में मैत्रेय के आविर्भाव के विषय में वुद्ध की भविष्यवाणी का भी उल्लेख किया है। कुशीनगर में हुएन-साग ने केवल दो विहार देखे, जिनमें कुछ भिक्षु रहते थे।

कुशीनगर से वह वनो में से होकर सीधे वाराणसी आया। यहाँ के लोगो को उसने वहुत धनसपन्न और उनके घरो को वहुमूल्य सामग्रियो से भरा पाया। वे लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे और विद्या का आदर करते थे। वाराणसी में प्रचुर अन्न, फल और अन्य वनस्पतियाँ उत्पन्न होती थी। राजधानी के उत्तर-पूर्व तथा वरुणा नदी के पश्चिम ओर उसने एक अशोक-स्तूप तथा पालिश किए हुए हरे पत्थर का एक ओपयुक्त स्तभ देखा।

वाराणसी से कुछ ही दूरी पर मृगदाव विहार था, जिसके आठ खड थे और सव एक प्राकार से घिरे हुए थे। उसके प्राकार के भीतर एक विशाल मदिर था जिसमें

उपदेश देते हुए बुद्ध की एक धातु-प्रतिमा थी। मंदिर के दक्षिण-पश्चिम में एक अशोक-स्तूप और स्तंभ था।

विहार के प्राकार के बाहर तीन जलाशय थे—दो पश्चिम की ओर और तीसरा दूसरे जलाशय के दक्षिण में। पुरातत्त्व विभाग के उत्खनन में तीन जलाशयों का पता लग गया है।

इसके बाद हुएनसाग उन स्तूपों का उल्लेख करता है जो महत्त्वपूर्ण घटनाओं के स्मारक थे। वे अधिकतर बुद्ध के पूर्व जन्मों की जातक-कथाओं से संबंधित थे। दो स्तूपों का संबंध उन दो भविष्यवाणियों से था जिनमें से एक काश्यप बुद्ध ने शाक्य-मुनि के आविर्भाव के संबंध में की थी और दूसरी गौतम बुद्ध ने मैत्रेय के भावी जन्म के संबंध में। उपर्युक्त स्तूप की पहचान ओर्टेल ने वर्तमान धमेख स्तूप से की है। यहाँ दो और स्तूप थे—एक उस स्थान पर जहाँ प्रत्येकबुद्धों ने अपना शरीर त्याग किया था और दूसरा उस स्थान पर जहाँ पाँचों ब्राह्मण तपस्या करते थे।

जहाँ तक धार्मिक विश्वासों का संबंध है, हुएनसाग लिखता है कि वाराणसी में सैकड़ों देवालय थे, जिनमें बहुत से पुजारी थे। अधिकांश पुजारी शिव के पूजक थे। शिव के भक्त सिर मुँडाए रहते थे और शिखा रखते थे। उनमें कुछ तो प्राय नग्न रहते थे और कुछ शरीर में भभूत मले रहते थे। बहुत से भक्त मुक्ति के हेतु तपस्या करते थे।

वाराणसी में तीस विहार थे जिनमें सम्मितीय सम्प्रदाय के तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। सारनाथ के विहार में पंद्रह सौ भिक्षु थे।

सारनाथ में कई महायानी मूर्तियाँ पाई गई हैं। इससे विदित होता है कि हुएन-साग के वाराणसी में आगमन के कुछ काल के पश्चात् वहाँ महायान मत का प्रचार हुआ।[1]

---

१. देखिए आगे पृ० २८९-९०।

अध्याय १५

उत्तर प्रदेश के मुख्य बौद्ध केंद्र तथा स्मारक

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक प्रसार का गौरव उस भूभाग को प्राप्त है जो वर्तमान उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग है। प्राचीन कोसल राज्य और उसके आसपास के जनपदो का इतिहास इस दृष्टि से बडे महत्त्व का है। बुद्ध के पूर्व इस क्षेत्र में एक लवे समय तक वैदिक धर्म का जोर रहा। कोसल-नरेश प्रसेनजित् (पसेनदि) स्वय वैदिक कर्म-काड के पोषक थे। ब्राह्मणो की शक्ति प्रवल थी और उनके पाडित्य की धाक उत्तर भारत में अनेक स्थानो में जमी हुई थी।

वोध गया में सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के अनतर वुद्ध ने अपने कार्यक्षेत्र के लिए उत्तर प्रदेश के जिन स्थानो को चुना वे उनसे विशेष रूप से सवधित होने के कारण कालातर में प्रधान वौद्ध तीर्थों के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनमे वौद्ध धर्म, दर्शन और कला का एक लवे समय तक विकास होता रहा। यहाँ वुद्ध के जन्म-स्थान लुविनी तथा अन्य प्रमुख वौद्ध केंद्रो का परिचय दिया जाता है—

१ लुबिनी

लुविनी यद्यपि उत्तर प्रदेश की वर्तमान सीमा के वाहर है, पर वह प्राचीन कोसल राज्य के अतर्गत थी। कपिलवस्तु[1] के जिस शाक्यकुल में वुद्ध उत्पन्न हुए थे उसका छोटा प्रदेश कोसल राज्य में ही सम्मिलित था। लुविनी[2] को 'रुम्मिनदेई' और 'रूपदेई' भी कहते हैं। अशोक के स्तभ-लेख में इसका नाम 'लुमिनि' तथा चीनी ग्रथो में 'लुन-मिन्', 'लुन-मिग', 'ल-फ-नि' आदि नाम पाए जाते हैं।

वौद्ध ग्रथो में लुविनी को वन, प्रमोदवन या राजोद्यान कहा गया है। तिव्वतीय साहित्य में इस सबध में जो अनुश्रुति मिलती है उसके अनुसार देवदह के राजा सुप्रवुद्ध

१. इस स्थान की पहचान उत्तर-पूर्वी रेलवे के नौतनवा स्टेशन से १२ मील उत्तर-पश्चिम तिलौराकोट नामक स्थान से की गई है।

२. यह उत्तर प्रदेश की उत्तर-पूर्वी सीमा के निकट ही नेपाल-तराई में स्थित है। यहाँ पहुँचने का मार्ग नौतनवा स्टेशन से है। नौगढ नामक दूसरे स्टेशन से भी लुविनी पहुँचा जाता है। हाल में ये दोनो रास्ते यात्रा-सुलभ वना दिए गए हैं।

ने इस प्रमोदोद्यान को अपनी लुंबिनी नामक रानी के लिए बनवाया था। इसी से इसका नाम लुंबिनी-उद्यान हुआ। परंतु अन्य कथाओं में यह मिलता है कि लुंबिनी राजा सुप्रबुद्ध के प्रधान मंत्री की पत्नी का नाम था। इस स्थान की स्थिति कपिलवस्तु तथा देवदह के बीच में थी और दोनों नगरों के लोग यहाँ उद्यान-चर्या के लिए आया करते थे।

लुंबिनी को जो विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई वह गौतम बुद्ध का जन्म-स्थान होने के कारण ही। जब मायादेवी का प्रसव-काल निकट आया तब उनके इच्छानुसार उन्हें उनके पितृनगर देवदह की ओर ले जाया गया। लुंबिनी उद्यान की प्राकृतिक मनोहरता को देखकर उन्होंने वहाँ कुछ क्षण विश्राम करने का निश्चय किया। उद्यान के एक वृक्ष[1] को उन्होंने अपने दाएँ हाथ से पकड़ा। उसी समय बालक सिद्धार्थ का जन्म हो गया। जन्म-स्थान होने के कारण लुंबिनी उद्यान का गौरव बहुत बढ़ गया।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद एक बार बुद्ध अपने जन्मस्थान में पधारे। देवदह जाते हुए उन्होंने लुंबिनी में विश्राम किया और यहाँ 'देवदह सुत्त' का उपदेश दिया।

मौर्य सम्राट् अशोक का ध्यान इस पवित्र जन्मस्थान की ओर आकृष्ट हुआ। अपनी धर्मयात्रा में सम्राट् स्वयं यहाँ आए। यहाँ आचार्य उपगुप्त के द्वारा यह बताए जाने पर कि यहीं भगवान् का जन्म हुआ था[2], अशोक बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने वहाँ दान-पुण्य किया और एक चैत्य-निर्माण का आदेश दिया। यात्रा को चिरस्मरणीय बनाने के लिए एक बड़ा पाषाण-स्तंभ भी वहाँ स्थापित किया गया।

ई० पाँचवीं शती में फाहियान लुंबिनी गया, परंतु उसने अशोक के उक्त स्मारकों का कुछ जिक्र नहीं किया। उसने उस सरोवर की चर्चा की है जिसमें अनुश्रुति के अनुसार मायादेवी ने प्रसव के पहले स्नान किया था। उसने लुंबिनी के उस कूप का भी उल्लेख किया है जिसके जल से नागराजों द्वारा भगवान् को स्नान कराया गया था।

सातवीं शती में हुएन-सांग का लुंबिनी में आगमन हुआ। उसने इस स्थान का कुछ विस्तार से वर्णन किया है। सरोवर आदि के साथ उसने अशोक के स्तंभ का भी उल्लेख किया है तथा उन स्मारक-स्तूपों का भी जो निम्नोक्त स्थानों पर बनवाए गए थे—

(१) नागराज का प्राकट्य-स्थान, (२) वह जगह जहाँ उन्होंने गरम तथा ठंडे जल की दो धाराएँ उत्पन्न की थीं, (३) भगवान् बुद्ध को स्नान कराने का स्थान तथा

१. बौद्ध ग्रंथों में इसे शाल या प्लक्ष का पेड़ कहा गया है।
२ "अस्मिन् महाराज, प्रदेशे भगवान् जात.।"

(४) वह स्थान जहाँ जन्मोपरात बालक को इद्र तथा अन्य देवो ने अपने हाथो पर उठा लिया था।

वु-कुग नामक एक अन्य चीनी यात्री ७६४ ई० में लुंविनी गया। उसके वाद लुंविनी के सबध में जानकारी नही मिलती। मध्यकाल में जन्म-स्थान घने जगलो से आच्छादित हो गया होगा।

१८९६ ई० में डा० फुहरर ने लुंविनी के अशोक-स्तभ का पता लगाया। इस स्थान की पहचान जन्म-स्थान से की गई। नेपाल सरकार द्वारा घने जगल को साफ कराया गया और जन्म-स्थान के पास की भूमि में उत्खनन-कार्य भी हुआ। यह कार्य हाल में भी कराया गया है, जिससे लुंविनी एक आकर्पक स्थान वन गया है। सड़को के ठीक हो जाने से अव लुंविनी पहुँचने में पहले-जैसी कठिनाई नही होती। लुंविनी मे यात्रियो के ठहरने की भी समुचित व्यवस्था कर दी गई है।

वर्तमान समय में लुंविनी की दर्शनीय वस्तुओ में प्रमुख अशोक का अभिलिखित स्तभ है। ई० सातवी शती के पूर्व ही विजली गिरने के कारण यह स्तभ खडित हो चुका था। जो भाग इस समय वचा है उसकी परिधि ७$\frac{1}{4}$ फुट तथा ऊँचाई १३$\frac{1}{2}$ फुट है। इस खभे का लगभग १० फुट भाग जमीन के अदर गडा है। हुएन-साग ने इसके शिखर पर अश्व की मूर्ति देखी थी, जो अव अप्राप्य है। इस स्तभ पर अशोक का एक लेख खुदा है। लेख की पक्तियाँ विलकुल सीधी हैं और अक्षरो की लिखावट अत्यत सुदर हैं। इसे देखने से लगता है मानो यह लेख अभी लिखकर तैयार किया गया हो।

इस लेख के अनुसार सम्राट् अशोक ने अपने राज्यारोहण के बीसवें वर्प जन्म-स्थान की यात्रा की और यहाँ एक शिलास्तभ तथा सभवत एक मूर्ति की स्थापना की। लुंविनी के ग्रामवासियो को कर-भार से भी मुक्त किया गया।

अशोक-स्तभ के निकट एक छोटा मदिर है। इसमे एक प्राचीन पापाण-प्रतिमा स्थापित है। मूर्ति का विपय बुद्ध-जन्म है। माता मायादेवी वृक्ष के नीचे दक्षिणोन्मुख खडी हैं। एक हाथ से वे वृक्ष की शाखा थामे हैं और दूसरे से अपने वस्त्र ठीक कर रही हैं। उनकी वगल मे नवजात शिशु है। समीप मे अन्य लोग दिखाए गए है, जिनमें प्रजापति गौतमी तथा इद्र भी हैं।

वर्तमान मदिर सभवत प्राचीन जन्म-मदिर के ही आधार पर बना है। उत्खनन में एक वडे विहार या चैत्य का अश भी निकला है। उसके समीप एक शुष्क तालाव है। जनश्रुति के अनुसार जन्मोपरात बुद्ध को इसी के जल से स्नान कराया गया था। नेपाल सरकार द्वारा यहाँ प्राचीन सामग्री के आधार पर दो स्तूप वनवा दिए गए हैं।

२. सारनाथ

बौद्ध धर्म के इतिहास मे सारनाथ का अत्यत गौरवपूर्ण स्थान है। यहीं भगवान् बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश किया। इसी केंद्रबिंदु से धर्म का चक्र चतुर्दिक् प्रवर्तित हुआ। यही बौद्धसघ की स्थापना हुई। बुद्ध के समय से लेकर लगभग १८ वीं सदी तक सारनाथ में बौद्ध धर्म, दर्शन, कला और साहित्य पल्लवित-पुष्पित होते रहे।

सारनाथ के अभिज्ञान के लिए विद्वानो को वैसा परिश्रम नहीं करना पडा जैसा कि अन्य कतिपय स्थानो के सबध मे। चीनी यात्रियो ने इस स्थान की दूरी काशी नगरी से १० ली (लगभग २ मील) बताई है। परन्तु वर्तमान काशी से सारनाथ लगभग ५ मील उत्तर पडता है। प्राचीन काल मे जो सडक काशी से मृगदाव (सारनाथ का प्राचीन नाम) को मिलाती थी उसके चिह्न आज भी दिखाई पडते हैं।

'सारनाथ' नाम अधिक प्राचीन नहीं है। जनरल कनिंघम का मत है कि यह पहले स्थानीय शिव-मदिर का नाम था। वे इस नाम की व्युत्पत्ति 'सारङ्गनाथ' से करते हैं, जो शिव तथा बुद्ध दोनो के लिए प्रयुक्त हो सकता है। बौद्ध ग्रथो में इस स्थान के नाम 'इसिपत्तन' (ऋषिपत्तन) तथा 'मिगदाव' या 'मिगदाय' (मृगदाव, मृगदाय) मिलते हैं।[1] द्वितीय नाम का आधार 'निग्रोध मृग जातक' की कथा है। उसके अनुसार एक बार बुद्ध तथा उनके अनुयायियो ने इसी स्थान पर मृग-योनि में जन्म लिया था। बोधिसत्त्व मृगराज से प्रसन्न होकर काशी के राजा ने उन्हें अभयदान दिया और इस वन-खड को उनके हेतु सुरक्षित कर दिया। इसीलिए यह स्थान 'मृगदाव' या 'मृगदाय' कहलाया।[2] सारनाथ से प्राप्त अभिलेखो में इस स्थान का नाम 'धर्मचक्र या सद्धर्म-चक्रप्रवर्तन विहार' भी मिलता है। यह नाम वस्तुत यहाँ के एक विहार का था, जो बाद में समस्त सारनाथ का सूचक हो गया।

१ ऋषिपत्तन का अर्थ 'ऋषियो का निवास-स्थान' है। परन्तु कुछ बौद्ध ग्रथो में इसका अर्थ 'ऋषि का पतन' किया गया है। इन ग्रथो के अनुसार प्रत्येकबुद्ध ने यहाँ निर्वाण प्राप्त किया था। 'दिव्यावदान' में 'ऋषिवदन' पाठ भी मिलता है और यह पाठ चीनी ग्रथो में भी मिलता है।

२. जिनप्रभसूरि के 'विविध तीर्थकल्प' से पता चलता है कि काशी से तीन कोस दूर सारनाथ 'धर्मेक्षा' नाम से प्रसिद्ध था, जहाँ बोधिसत्त्व का गगनचुबी आयतन था—'अस्या. क्रोशत्रितये धर्मेक्षा नाम सनिवेशो यत्र बोधिसत्वस्योच्चैस्तरशिखर-चुबितगगनमायतनम्।' 'धमेख' नाम का स्तूप आज भी यहाँ विद्यमान है। (विविधतीर्थकल्प, सिंघी जैन ग्रथमाला, स० १९९१, पृ० ७४।)

सारनाथ का महत्त्व बुद्ध के समय में ही हो गया। सम्यक् सबुद्ध तथागत ने इसी स्थान को अपने प्रथम उपदेश के लिए चुना। उन्होने अज्ञात कौंडिन्य तथा उसके चार साथियो को यहाँ 'धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र' का उपदेश दिया। यह बुद्ध जी के जीवन की एक महान् घटना हुई, जिसका विस्तृत विवरण बौद्ध साहित्य में मिलता है और जिसका आलेखन कितने ही शिल्पियो ने करके अपनी कला को सार्थक माना। सारनाथ से प्राप्त एक शिलापट्ट पर यह दृश्य अत्यत प्रभावोत्पादक ढग से उत्कीर्ण है। भगवान् मध्य मे 'धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा'[1] में आसीन हैं। उनके अगल-बगल पचभद्रवर्गीय भिक्षु हैं। आसन के सामने प्रथम उपदेश का चिह्न धर्मचक्र बना है, जिसके दोनो ओर हरिण हैं।

सारनाथ मे निवास कर बुद्ध सद्धर्म का उपदेश देते रहे। उनके अनुयायियो की सख्या में अनुदिन वृद्धि होने लगी। तीन मास के अनतर जब उन्होने सघ की स्थापना की उस समय ६० अनुयायी थे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध के जीवनकाल मे ही इस पवित्र स्थल पर दो विहारो का निर्माण किया गया। इनमें से एक के निर्माण का श्रेय बनारस के धनी व्यापारी नदिय को दिया जाता है।[2]

मौर्य सम्राट् अशोक के समय से सारनाथ की प्रसिद्धि बढी। अशोक अपने धर्मगुरु उपगुप्त के साथ तीर्थ-यात्रा में यहाँ भी आए। उन्हें बताया गया कि यही वह स्थान है जहाँ बुद्ध द्वारा धर्मचक्र का प्रवर्तन किया गया—"अस्मिन् प्रदेशे महाराज भगवता . धर्मचक्र प्रवर्तितम्।"

अशोक के आज्ञानुसार उपदेश-स्थान पर एक विशाल स्तभ[3] स्थापित किया गया, जिसके शीर्ष को चार सिंह-मूर्तियाँ अलकृत कर रही थी। एक धातु चैत्य का भी सम्राट् ने निर्माण कराया।

शुग-काल (ई० पूर्व द्वितीय-प्रथम शती) में सारनाथ में एक वेदिका का निर्माण कराया गया, जिसके कुछ अवशेष सारनाथ सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। इसी काल मे एक अर्द्धचद्राकार मदिर का निर्माण यहाँ किया गया, जिसकी अब केवल नीव बची है। अनेक खडित मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनपर चिकनी पालिश (ओप) है।

१ द्रष्टव्य 'बौद्ध मूर्तिकला', अध्याय १६, पृ० २८१।

२. परतु उस काल की इमारतो का कोई चिह्न अवशिष्ट नही। सभवतः बुद्ध के समय में भिक्षु पर्णशालाओं में रहते थे। इन पर्णशालाओं के स्वरूप का पता साँची, सारनाथ, मथुरा, अमरावती आदि की कला में मिलता है।

३. इस स्तभ पर के अभिलेख में संघ-भेद पैदा करनेवालो के विरुद्ध राजाज्ञा है।

कुषाण-काल (१–१८० ई०) में सारनाथ में बुद्ध तथा बोधिसत्व की अनेक प्रतिमाएँ बनाई गईं। प्रारंभिक मूर्तियाँ मथुरा-शैली पर आधारित हैं, जिनका एक उत्कृष्ट नमूना सारनाथ में प्राप्त भिक्षु बल की अभिलिखित मूर्ति है।

गुप्त-हर्ष-काल (३२०–६५० ई०) सारनाथ के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण युग है। इस काल में यहा आए हुए प्रथम चीनी परिव्राजक फाहियान ने सारनाथ में चार विशाल स्तूपो तथा दो संघारामो को देखा। दूसरे यात्री हुएन-सांग ने यहाँ ३० संघाराम पाए, जिनमे १,५०० भिक्षु रहते थे। वे सब सम्मितीय संप्रदाय के अनुयायी थे। मृग-दाव की इमारतें उस समय आठ भागों में विभक्त थीं और वे एक ही प्राकार से घिरी थीं। हुएन-सांग ने कलापूर्ण चैत्यों, स्तूपों और मंदिरों का वर्णन किया है। एक विशाल बौद्ध मदिर २०० फुट ऊँचा था। उसका निचला भाग पत्थर का और ऊपरी ईंटो का बना था। अशोककालीन स्तंभ की ऊँचाई हुएन-सांग ने ७० फुट लिखी है और भग्नावशिष्ट स्तूप की १०० फुट। उसने अनेक स्मारक-स्तूपों की भी चर्चा की है।[1]

सारनाथ को गुप्त नरेशो तथा सम्राट् हर्ष का साहाय्य प्राप्त था। कुछ बौद्ध प्रतिमाओ की प्रतिष्ठापना संभवत गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त के द्वारा की गई। इस काल की अनेक कलाकृतियां शारीरिक गठन तथा भाव-सौंदर्य की दृष्टि से उच्च कोटि की है।[2]

हर्षवर्धन के पश्चात् सारनाथ कनौज के गुर्जर-प्रतीहार शासन के अतर्गत रहा। उस समय का कोई लेख यहाँ नही मिला। प्रतीहारो के बाद यहाँ पाल शासको का आधिपत्य रहा। एक अभिलेख १०२६ ई० का और दूसरा १०५८ ई० का मिला है। प्रथम लेख में स्थिरपाल तथा वसतपाल नामक दो बधुओ के द्वारा सारनाथ के धर्मराजिका स्तूप तथा धर्मचक्र के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। इस लेख मे यह भी पता चलता है कि उस समय सारनाथ पाल साम्राज्य के अतर्गत था। दूसरे लेख के समय (१०५८ ई०) में सारनाथ पर चेदि राजा कर्ण का राज्य था।

ई० बारहवी शती मे सारनाथ को गाहडवाल नरेशो का सरक्षण प्राप्त हुआ। सम्राट् गोविंदचद्र की बौद्ध रानी कुमारदेवी ने यहाँ की कई प्राचीन इमारतो का जीर्णोद्धार कराया तथा एक बड़े विहार का निर्माण भी कराया। ११९४ ई० मे गाहडवाल शासक जयचद्र मुहम्मद गोरी के द्वारा मारा गया और काशी नगरी की बडी बर्बादी हुई।

१. वाटर्स, आन युवान च्वाग, जिल्द २, पृ० ४८ तथा आगे।

२. इनके सबध में द्रष्टव्य 'बौद्ध मूर्तिकला', अध्याय १६, पृ० २८६।

सारनाथ भी न बच सका। यहाँ की अनेक विशाल इमारतें नष्ट की गईं। सारनाथ के बौद्ध भिक्षु या तो मारे गए या अन्यत्र चले गए। धीरे-धीरे यह स्थान पूर्णतया निर्जन वन गया। यहाँ तक कि कालांतर में लोग इसके अस्तित्व तक को भूल गए। मुगल काल में यहाँ के टीलो पर एक इमारत बनी, जिसे 'चौखंडी' कहते हैं।

१७९४ ई० में काशी के जगतसिंह द्वारा जब धर्मराजिका स्तूप की ईंटें निकलवाई जा रही थी तब हरे पाषाण की मंजूषा में कुछ अस्थि-खंड प्राप्त हुए। अस्थियो को गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। परंतु लोगो का ध्यान इस प्राचीन स्थान की ओर आकृष्ट हो गया और यत्र-तत्र खुदाई की गई। इससे बडी हानि हुई। अनेक प्राचीन मूर्तियो को वरुणा नदी के पुल के निर्माण में लगा दिया गया।

१८३५ ई० में कनिंघम के द्वारा सारनाथ की पहचान की गई[1] और उसने इस स्थान के संरक्षण की ओर ध्यान दिया। वैज्ञानिक ढंग से इस स्थान की खुदाई १९०४ ई० में प्रारंभ हुई और कई वर्ष तक जारी रही। इसके परिणामस्वरूप अनेक प्राचीन भग्नावशिष्ट इमारतें प्रकाश में आई तथा पुरातत्त्वीय महत्त्व की अन्य बहुत सी सामग्री मिली।[2] अब भी यहाँ की भूमि के अंतराल में न जाने कितनी वस्तुएँ छिपी पडी है।

सारनाथ के गौरव के रक्षार्थ स्व० अनागरिक धर्मपाल तथा भारत की महाबोधि सभा के प्रयत्न विशेष रूप से सराहनीय हैं। उनके प्रयत्नो से १९३१ ई० में नवीन मूलगंधकुटी विहार बनकर तैयार हुआ, जो एक बडी भव्य इमारत है। इसकी दीवारें प्रसिद्ध जापानी कलाकार कोसेत्सु-नोसु के चित्रो से सुशोभित हैं। बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाएँ इन चित्रो के विषय हैं। ब्रह्मा, चीन तथा तिव्वत के बौद्धो द्वारा भी यहाँ पृथक्-पृथक् मंदिरो का निर्माण किया गया है। भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा सारनाथ में प्राय सभी आधुनिक सुविधाओं का प्रबंध किया गया है।

१. कनिंघम, आर्केओलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द १ (१८७१), पृ० १०५ तथा आगे।

२. ऐनुअल रिपोर्ट, आर्के० सर्वे ऑव इंडिया, १९०४-०५, पृ० ५९ तथा आगे; १९०६-०७, पृ० ६८ तथा आगे, १९०७-०८, पृ० ४३ तथा आगे; १९१४-१५, पृ० ९७ तथा आगे; १९१९-२०, पृ० २६—, १९२१-२२, पृ० ४२—; १९२७-२८, पृ० ९५—। खुदाई में प्राप्त अधिकांश वस्तुएँ स्थानीय संग्रहालय में हैं। सारनाथ के अवशेषों के संबंध में द्रष्टव्य 'मूर्तिकला' तथा 'वास्तुकला' संबंधी अध्याय।

३ साकाश्य या सकस्स (सकिसा)

प्राचीन साकाश्य की पहचान सकिसा नामक गाव से की गई है। यह गाव फर्रुखाबाद, एटा तथा मैनपुरी जिलो की सीमा पर २७ २०' उ० अक्षाश तथा ७९ २०' पू० देशातर पर स्थित है। इसके समीप काली नदी बहती है, जिसका प्राचीन नाम 'इक्षुमती' था। आजकल सकिसा पहुँचने के लिए एक मार्ग शिकोहाबाद-फर्रुखाबाद रेलवे लाइन के मोटा नामक स्टेशन से है, जहा से सकिसा लगभग चार मील है। अधिक सुकर मार्ग पखना स्टेशन से है, जहाँ से सकिसा दक्षिण-पश्चिम ७ मील दूर है।

प्राचीन साहित्य मे साकाश्य या सकस्स नगर के अनेक उल्लेख मिलते है। 'वाल्मीकि रामायण'[1] में सीता के पिता मिथिला-नरेश सीरध्वज जनक के भाई कुशध्वज जनक का वृत्तात मिलता है। जिस समय मिथिला में सीरध्वज जनक का शासन था उस समय साकाश्य के राजा सुधन्वा थे। कुछ कारणो से उन दोनो राजाओ के बीच युद्ध छिड गया, जिसमे सुधन्वा की पराजय हुई। सीरध्वज ने अपने छोटे भाई कुशध्वज को साकाश्य का अधिकारी बनाया। फर्रुखाबाद जिले में जनखद (जनक क्षेत्र) नामक एक अन्य प्राचीन स्थान है। इसका सबध भी जनक के साथ बताया जाता है। सीता के विवाह के अवसर पर उसमें सम्मिलित होने के लिए कुशध्वज अपनी लडकियो सहित साकाश्य से मिथिला गए।

पाणिनि ने अपने ग्रथ अष्टाध्यायी[2] मे साकाश्य का उल्लेख किया है। महात्मा बुद्ध के समय मे इस नगर का महत्त्व बढा। जो स्थान बुद्ध के जीवन मे विशेष रूप से सबधित है उनमे एक साकाश्य भी है। प्रसिद्ध है कि यही पर बुद्ध भगवान् त्रयस्त्रिश स्वर्ग से सीढी द्वारा उतरे थे। उनके एक ओर इद्र तथा दूसरी ओर ब्रह्मा उतरे थे। अवतरण का यह स्थान सकिसा गाँव के पास बिसहरी देवी के मदिर के समीप माना जाता है। इसकी बौद्ध लोग बडी श्रद्धा के साथ प्रदक्षिणा करते है। बौद्ध साहित्य में सकस्स-अवतरण की चर्चा बहुत मिलती है। भारतीय एव यूनानी कलाकारो ने साकाश्य मे बुद्ध के अवतरण का चित्रण उनके जीवन की अन्य प्रमुख घटनाओ के साथ बहुसख्यक कलाकृतियो मे किया है।

प्राचीन काल में साकाश्य नगर, कनौज तथा अतरजी नगरो के बीच मे पडता था। मथुरा से भी यहाँ को एक मार्ग जाता था। ई० चौथी शती के अत मे फाहियान

१ आदिकाड, अ० ७०।
२ अष्टाध्यायी ४,२,८०।

मथुरा से सकिसा पहुँचा था। दूसरा चीनी यात्री हुएन-साग ६३६ में 'पीलोशन' (सभवत- अतरजी खेडा) से साकाश्य पहुँचा। इस यात्री ने इस नगर का नाम 'कीपिथ' (कपित्थ) दिया है। उसने इस नगर का तथा उस राज्य का, जिसकी यह राजधानी था, विस्तार से वर्णन किया है।

हुएन-साग के विवरण से तत्कालीन साकाश्य के सबध में कई बातो का पता चलता है। उस समय वहाँ बौद्ध धर्म के साथ-साथ शैव मत का प्रचलन था। नगर में अनेक विशाल मठ तथा मदिर विद्यमान थे। लोग साकाश्य को बहुत पवित्र स्थल मानते थे। मौर्य सम्राट् अशोक तथा उसके बाद के राजाओ ने इस नगर को अनेक सुदर इमारतो और कलाकृतियो से विभूषित किया था।

वर्तमान समय में प्राचीन स्मारको के जो अवशेष सुरक्षित है उन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि अशोक के समय से लेकर प्राय गुप्त-काल के अत तक साकाश्य में स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास होता रहा। चीनी यात्री हुएन-साग ने अशोक के एक स्तभ का उल्लेख किया है। वह पूरा खभा दुर्भाग्य से अभी तक प्राप्त नही हो सका। केवल उसका शीर्ष मिला है, जो आज भी सकिसा में विद्यमान है। इसपर हाथी की मूर्ति तथा विविध कलात्मक अलकरण है। यह शीर्ष विसहरी देवी के मदिर के समीप रखा है।

सकिसा के टीलो में चाँदी और ताँबे के आहत (पचमार्क्ड) सिक्के तथा कुषाण एव पचाल राजाओ के सिक्के अधिकता से प्राप्त होते हैं। कुछ दिन पूर्व यहाँ से एक महत्त्वपूर्ण ईंट (११″ × ६″) मिली है, जिसपर ई० पूर्व दूसरी शती की ब्राह्मी लिपि में यह लेख खुदा है—

'भदसमस सवजीवलोके पुठगोरथस
भटिकपुतस जेठस भगविपुतस।'

लेख की भाषा प्राकृत है। उसमें भटिक तथा भार्गवी के पुत्र दानदाता जेठ का नाम आया है।

सकिसा गाँव ऊँचे टीले पर बसा है। अन्य टीलो की शृखला गाँव के बाहर काफी दूर तक फैली है।[1] इसकी लबाई १,५०० फुट और चौडाई १,००० फुट है। लोग इसे 'किला' कहते हैं। सकिसा गाँव के पूर्व लगभग दो फर्लांग दूर 'चौखडी' नामक

१. इन टीलो तथा सकिसा के अन्य प्राचीन स्थानो आदि के सबंध में द्रष्टव्य कनिंघम, आ० स० रि०, जिल्द १, पृ० २७१-७९; जिल्द ११, पृ० २२ तथा आगे; आ० स० इं०, ऐ० रि०, १९२५-२६, पृ० ११०।

स्थान है। यहां खुदाई करते समय पुरानी ईंटें बड़ी संख्या में मिली थीं। चौखंडी के दाईं ओर की भूमि 'पथवाली' कही जाती है। उसके आगे दक्षिण की तरफ 'नौबी का कोट' है। चौखंडी से लगभग दो फर्लांग उत्तर-पूर्व की ओर 'कुम्हार गढ़' के खेत और टीले हैं। बरसात में यहां मिट्टी की मूर्तियां और मुद्राएं प्रायः मिलती हैं। कुछ दूर पर 'टेढ़ा महादेव' का प्रसिद्ध मंदिर है। १६ फुट से अधिक लम्बी पत्थर की एक लाट को 'टेढ़ा महादेव' कहते हैं। इस लाट का व्यास ३८ इंच है। इसके समीप ही मथुरा के लाल बलुए पत्थर का बना एक वेदिका-स्तम्भ (ऊंचाई ७' ३") है। यह अठपहलू ढंग का बना है और इसका निर्माण-काल लगभग ई० पूर्व १०० है। संकिसा के टीलों से पाषाण और मिट्टी की मूर्तियों, मुहरों, सिक्कों आदि के रूप में महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। अभी यहां के टीलों में उत्खनन की बड़ी आवश्यकता है। जो सामग्री यहां बिना खुदाई के प्राप्त होती रहती है उसका भी समुचित संरक्षण अपेक्षित है। बौद्धों का तीर्थस्थल होने के साथ संकिसा हिंदुओं के लिए भी एक पवित्र स्थान है।

संकिसा में यात्रियों के पहुंचने तथा उनके ठहरने की बड़ी असुविधा थी। हाल में पखना स्टेशन से लेकर संकिसा तक का मार्ग पक्का कर दिया गया है। ठहरने के लिए एक आवास-गृह का भी निर्माण किया गया है। यहां से प्राप्त कुछ कलाकृतियों को भी प्रदर्शित करने की व्यवस्था की जा रही है, जिससे लोग प्राचीन नगर के वैभव की झांकी प्राप्त कर सकें।

४ कुशीनगर (कसिया)

जिस स्थान को भगवान् बुद्ध का पुनीत निर्वाण-स्थल होने का गौरव प्राप्त है वह देवरिया जिले का कसिया[1] नामक स्थान है। प्राचीन कुशीनगर से इसका अभिज्ञान विल्सन तथा कनिंघम ने किया था, जिसकी पुष्टि यहां प्राप्त हुए प्राचीन अवशेषों से हुई।

बुद्ध के पूर्व यह नगरी 'कुशावती' तथा 'कुशीनारा' (कुसीनारा) नामों से प्रसिद्ध थी। यह प्राचीन मल्ल राष्ट्र[2] (मल्लरट्ठ) की राजधानी थी। मल्ल राष्ट्र दो भागों में विभाजित था—एक की राजधानी पावा और दूसरी की कुशावती थी। इन दोनों

१. कसिया देवरिया से २१ मील उत्तर और गोरखपुर से ३३ मील पूर्व है। दोनों स्थानों से यहां तक अच्छी पक्की सड़कें हैं। कसिया वर्तमान देवरिया जिले की एक तहसील है।

२. महाभारत, ६, ९, ३४।

भागो की सीमा ककुत्था नदी (वर्तमान कुकु) थी। बौद्ध साहित्य मे कुशीनगर के अन्य नाम 'कुशीनगरी' तथा 'कुशीग्राम' भी मिलते हैं। महापरिनिव्वान सुत्तत के अनुसार मल्लो का शालवन तथा कुसीनारा का उपवत्तन (उपनगर) हिरण्यवती नदी के समीप थे।[1] विसेंट स्मिथ ने इस नदी की पहचान गडक से की थी। उनका अनुमान था कि कुसीनारा छोटी राप्ती और गडक के सगम पर नेपाल में वसा हुआ था।[2] परतु जब कसिया के निर्वाण-मदिर के पीछे वडे स्तूप से अभिलिखित ताम्रपत्र[3] निकला तव स्मिथ को भी यह स्वीकार करना पडा कि कसिया ही प्राचीन कुशीनगर (कुसीनारा) है।[4]

अपनी चरम समृद्धि की दशा में कुशीनगर वारह योजन लवा तथा सात योजन चौडा था। सातवी शती में हुएन-साग के समय में उसका विस्तार केवल १० ली (लगभग २ मील) रह गया।

वुद्ध के समय में कुशीनगर मुख्य स्थल-मार्ग पर स्थित था। नगर के समीप विस्तृत शालवन का एक भाग प्रमोद उद्यान था, जिसके नाम उपवत्तन, देववन तथा वलिहरण वन थे। उस समय मल्ल लोग वहुत शक्तिशाली थे।[5] उनके राज्य की गणना तत्कालीन सोलह वडे जनपदो में की जाती थी।

पहले कुशीनगर में नृपतत्र था और वहाँ महासम्मत वश का शासन था। इस वश के प्रमुख शासको के नाम इक्ष्वाकु, कुश तथा महासुदर्शन मिलते हैं। दीपवश के अनुसार तक्षशिला के शासक 'तलिस्सर' के वशजो ने वारह पीढी तक कुशीनगर पर शासन किया। यह वताना कठिन है कि यहाँ मल्लो का अधिकार कव से हुआ तथा किस समय से यहाँ गणतत्र की स्थापना हुई।[6]

१. दीघ निकाय, २, १३७; जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी १९०६, पृ० ६५९।

२. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इडिया, (तृतीय संस्करण), पृ० १५९, नोट। हिरण्यवती वास्तव में छोटी गंडक है।

३. इस ताम्रपत्र पर 'परिनिर्वाण चैत्ये ताम्रपट्ट' यह लेख लिखा है। द्र० आर्केलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९११-१२, पृ० १७ तथा आगे।

४. चीनी यात्री हुएन-साग ने 'कौ-शिह-नकलो' नाम दिया है, जो 'कुशीनगर' का चीनी रूप है।

५. कौटिल्य ने मल्लों की गणना 'राजशव्दोपजीवी' सघो के अंतर्गत की है। (अर्थशास्त्र, ११, १, ६)।

६. मज्झिम निकाय (१, २३१) तथा अन्य कई बौद्ध ग्रथो में कुशीनगर के गणतत्र का उल्लेख मिलता है।

[illegible]

१. [illegible] २२, पृ० [illegible]।

२. [illegible] ४-८।

३. अंगुत्तर निकाय १,२७४, ५,७१, मज्झिम निकाय २,२३८ तथा [illegible]।

४. [illegible] (योग० २,१८६, १९०)।

थी, और रात-दिन 'दस शब्दों' मे गुजायमान रहती थी।[1] इसके चार द्वार तथा सात प्राकार थे। महासुदस्सन सुत्तत में यहाँ के राजभवन, सरोवर तथा शाल-कुजो के अतिरिक्त राजकीय वैभव का भी अतिरजित वर्णन किया गया है।

बुद्धघोष की 'सुमगलविलासिनी' के अनुसार तथागत ने निम्नोक्त तीन कारणो से कुशीनगर को परिनिर्वाणार्थ चुना था—(१) महासुदस्सन सुत्तत के उपदेश के लिए यही उपयुक्त स्थान था, (२) सुभद्र की प्रव्रज्या यहीं सभव थी तथा (३) अस्थि-विभाजन की समस्या को हल करनेवाला द्रोण नामक ब्राह्मण वही उपस्थित था। इनके अतिरिक्त पूर्व जन्मो मे इसी स्थान पर भगवान् का सात बार शरीरात हो चुका था।[2]

तथागत ने अपना अतिम वर्षाकाल वैशाली में व्यतीत किया। वहाँ पर वे अस्वस्थ हो गए। उन्हें यह भी आभास मिल गया कि जीवन-काल के केवल तीन मास शेप रह गए हैं।[3] वैशाली से चलकर भडग्राम, हस्तिग्राम, अवग्राम, जवुग्राम तथा भोगनगर होते हुए वे पावा पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने चुड लोहकार का आतिथ्य स्वीकार किया। यह बुद्ध जी का अतिम भोजन था। इसके पश्चात् ही उन्हें रक्तातिसार हो गया। परतु उन्होंने यात्रा भग न होने दी और कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। शालवन पहुँचकर उन्होने आनद से दो शालवृक्षो के मध्य (यमक सालान अतरे) स्थित मच पर अपने वस्त्र विछा देने के लिए कहा। फिर उसी पर दाहिनी करवट, उत्तर दिशा की ओर सिर रखकर, लेट रहे। बुद्ध जी जानते थे कि उसी दिन उनका शरीरात होगा, अत उन्होंने आनद द्वारा मल्लो से कहला भेजा—"वाशिष्ठो! आज रात्रि के अतिम प्रहर में तथागत का परिनिर्वाण होगा तुमको पीछे पश्चात्ताप न करना पडे कि तुम लोगो के ग्राम में ही तथागत का परिनिर्वाण हुआ, फिर भी तुम उनका अतिम दर्शन न कर सके।" यह सदेश पाते ही मल्लगण शोकाकुल हो उठे। आवालवृद्ध स्त्री-पुरुप सव के सव रोते-कलपते शालवन पहुँचे। आनन्द ने उन सवको

१. ये नगर की समृद्धि एवं वैभव सूचक हस्ति, अश्व, रथ, भेरि, मृदङ्ग, वीणा, गीत, शंख, ताल तथा 'खाओ पिओ' (अस्नाथपिवथखादथाति) के शब्द थे। द्रष्टव्य दीघ० २, १४६-४७, १६९ तथा आगे; सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, ११, पृ० १००-०१; २४८-८८।

२. दीघ० २, पृ० १९८।

३. वही, २, पृ० १०६।

कुशीनगर अब तीर्थ रूप मे परिणत हो गया। समय-समय पर यहाँ स्तूप, विहार तथा चैत्य बनते रहे। परतु प्राचीन साधनो के अभाव में बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् कुशीनगर का ठीक इतिहास ज्ञात नही। मल्लराष्ट्र मगध की साम्राज्यवादी नीति का शिकार हुआ और उसकी राजधानी का वैभव भी क्षीण हुआ। तथापि शालवन और मकुट बधन के चैत्यो की प्रसिद्धि बहुत समय तक बनी रही। वे दूर-दूर से देश-विदेश के यात्रियो को आकृष्ट करते रहे।

दिव्यावदान से विदित होता है कि ई० पू० तृतीय शताब्दी में आचार्य उपगुप्त के साथ महाराज अशोक यहाँ आए। जैसे ही उन्होंने सुना कि इसी स्थान पर भगवान् का परिनिर्वाण हुआ था, वे मूर्छित हो गए।[1] तदनतर वहाँ चैत्य-निर्माणार्थ उन्होने एक लक्ष मुद्राएँ प्रदान की। सम्राट् के आज्ञानुसार, अन्य धातु-चैत्यो की भाँति, कुशीनगर का स्तूप भी तोडा गया। उन्होने भगवान् की अवशिष्ट अस्थियो को ८४,००० भागो में विभाजित किया और उनके लिए साम्राज्य भर में उतने ही स्तूपो की रचना की गई। कुशीनगर में भी नवीन स्तूप का निर्माण हुआ। हुएन-साग के समय तक वहाँ पर अशोक निर्मित तीन स्तूप तथा दो स्तभ विद्यमान थे। मौर्यकालीन स्मारको के कुछ अवशेष पुरातत्त्व विभाग द्वारा की गई खुदाई में भी प्राप्त हुए हैं।

कुशीनगर का यह वैभव चिरस्थायी न रह सका। पाँचवी शताब्दी में फाहियान ने इस प्रात को परित्यक्त तथा निर्जन पाया। शालवन के विहार में उस समय भी भिक्षु रहते थे। परिनिर्वाण स्तूप के अतिरिक्त चार अन्य स्तूप भी थे, जो निम्नोक्त स्थानो पर बने हुए थे—(१) जहाँ सुभद्र को अर्हत्-पद प्राप्त हुआ था, (२) जहाँ वज्रपाणि यक्ष की गदा गिरी थी, (३) जहाँ मल्लो ने भगवान् बुद्ध के शरीर का सप्ताह पर्यंत पूजन किया था तथा (४) जिस स्थान पर उनकी अस्थियो का विभाजन हुआ था।

दो शताब्दी पश्चात् हुएन-साग ने भी कुशीनगर को प्राय वैसी ही स्थिति मे पाया। मौर्यो के अगार स्तूप से लेकर शालवन तक दुर्गम्य वन था, जिसमें जगली पशुओ के अतिरिक्त चोर और डाकुओ का भी भय रहता था। इस प्रदेश के नगर तथा ग्राम उजड गए थे। कुशीनगर की जनसख्या बहुत कम थी। इसका मध्य भाग तो नितात निर्जन था। नगर का प्राचीन प्राकार भी भग्न हो गया था। हुएन-साग ने यहाँ के विहारो की भिक्षु-सख्या का उल्लेख नही किया। परतु उसके भ्रमण-वृत्तात से हमें

१. दिव्यावदान, पृ० ३९४।

तत्कालीन इमारतों का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उनमें सर्वप्रमुख था ईंटों का वह विशाल मंदिर जिसमें बुद्ध जी की परिनिर्वाण-मूर्ति स्थापित थी। उसके समीप ही अशोक-निर्मित स्तूप था, जो भग्नावस्था में होते हुए भी २०० फुट से अधिक ऊँचा था। उसके सम्मुख मौर्यकालीन प्रस्तर-स्तंभ था, जिसपर परिनिर्वाण-वृत्तान्त उत्कीर्ण था। इनके अतिरिक्त शालवन में विभिन्न घटनाओं के स्मारक-स्वरूप स्तूप बने थे। दो का सम्बन्ध तो बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथा से था, अन्य स्तूप सुभद्र के निर्वाण, वज्रपाणि यक्ष के गदापतन, देवताओं द्वारा तथागत के शरीर-पूजन तथा महामाया के विलाप आदि स्थानों पर निर्मित थे।[1]

नगर के उत्तर में, नदी पार ३०० पग चलकर वह स्थान था जहाँ तथागत का दाह-संस्कार हुआ था। वहाँ भी एक स्तूप बना हुआ था। उसके निकट अन्य स्तूप भी थे। एक तो उस स्थान पर था जहाँ महाकाश्यप ने अंतिम बार भगवान् की पद-वंदना की थी। दूसरा स्तूप अशोक का बनवाया हुआ था। यह उस स्थान पर था जहाँ भगवान् की अस्थियों का विभाजन हुआ था। उसके सामने एक स्तंभ था जिसपर उपर्युक्त घटना का वृत्तांत उत्कीर्ण था। श्रद्धालु भिक्षु ने लिखा है कि चिता-भूमि में उस समय भी कोयले तथा भस्म के टुकडे विद्यमान थे और जो व्यक्ति वहाँ पर विश्वासपूर्वक आराधना करते थे उन्हें भगवान् के अवशेष अवश्य प्राप्त हो जाते थे।

कार्लायल के द्वारा हुएन-सांग द्वारा वर्णित स्तूपों को ढूंढ निकालने का सराहनीय प्रयत्न किया। परंतु उस समय से अब तक कुशीनगर की भूमि में महान् परिवर्तन हो चुका है। नदियों की धाराएँ बदल गई है, प्राचीन इमारते नष्ट हो चुकी है। यही नही, उनके खँडहरो पर बनी हुई इमारतें भी टीलो मे परिवर्तित हो गई है। बहुत से टीलो को कृषको ने तोडकर खेत बना डाला है। दोनो स्तंभ भी अब तक अप्राप्य है। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक प्राचीन स्मारक का स्थान निर्धारित करना असंभव हो गया है।

सातवीं शताब्दी के अंत में एक अन्य चीनी परिव्राजक इत्सिंग का आगमन यहाँ हुआ। उस समय कुशीनगर की अवस्था कुछ सुधरी हुई थी। इसका कारण संभवत हर्ष का संरक्षण था। शालवन तथा मकुट बंधन चैत्य प्रमुख तीर्थ थे। वहाँ दूर-दूर

१. हुएन-सांग ने चुंद के निवास-स्थान के निकट एक स्तूप का उल्लेख किया है, परंतु अन्यान्य ग्रंथो से विदित होता है कि वह पावा का निवासी था। हुएन-सांग के वर्णन के लिए द्रष्टव्य वाटर्स, युवान च्वांग, २, पृ० २५–४५।

से सहस्रो की सख्या में यात्री आया करते थे, विशेषतया शरद् और वसत ऋतुओ में। स्थानीय विहार में लगभग एक सौ भिक्षु रहा करते थे। उन लोगो को आगतुक भिक्षुओ का स्वागत-सत्कार करने में किसी प्रकार की कठिनाई न होती थी। कुशीनगर के सघाराम मे समय की गणना किस प्रकार की जाती थी, इत्सिग ने इसका भी उल्लेख किया है। उसके साथ एक अन्य यात्री, ता-च्यँग-टेंग भी आया था। वह कुशीनगर पहुँचकर अस्वस्थ हो गया और वही महापरिनिर्वाण विहार में उसकी मृत्यु हो गई।

ग्यारहवी-वारहवी शताव्दी मे कुशीनगर पर कलचुरी नरेशो का आधिपत्य था। कार्लायल को १८७५ ई० मे एक खडित शिलालेख प्राप्त हुआ था। इस राजवश के इतिहास का वही एक मात्र साधन है। इस लेख का अभिप्राय क्या था तथा किस राजा के शासन-काल में वह लिखा गया था, यह अज्ञात है। इसमें कोई तिथि भी नही है। अनुमान है कि इसका सवध उसी सघाराम से था जिसके खँडहरो से यह प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख शकर, पार्वती, तारा तथा वुद्ध की स्तुति से आरभ होता है और इस भाँति प्राचीन भारत में धार्मिक सद्भावना का अत्युत्तम प्रमाण उपस्थित करता है। कसिया के ध्वसावशेषो से प्राप्त विष्णु, गणेश, गरुड आदि की मूर्तियाँ भी उसी भावना की प्रतीक है। इत्सिग के समय में भी कुशीनगर तथा अन्यान्य सघारामो में महाकाल की पूजा होती थी, जो महेश्वर (शिव) परिवार का देवता था।

तेरहवी शताव्दी के लगभग कुशीनगर पर मुसलमानो का आक्रमण हुआ। कार्लायल को यहाँ अग्नि तथा असि द्वारा सपादित विध्वस काड के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त हुए। इन खँडहरो में इस वात का भी प्रमाण उपलव्ध है कि अतिम विनाश से पूर्व, पाँचवी शताव्दी के लगभग भी, यहाँ अग्निकाड हुआ था। सभव है यह हूण आक्रमण-कारियो का कार्य रहा हो। तेरहवी शती के वाद कुशीनगर परित्यक्त तथा विस्मृत हो गया, यहाँ तक कि इसका अस्तित्व भी कालातर म विवाद का कारण वन गया। १८६०-६१ ई० में कनिंघम को यहाँ पर माथाकुँवर का कोट तथा रामाभार नामक दो वडे टीले एव कुछ छोटे-छोटे टीले मिले। यह भू-भाग उस समय वनाच्छादित था। निकटवर्ती ग्रामो के निवासी यहाँ के खँडहरो से ईंटें निकाला करते थे। प्राचीन स्मारको का दुरुपयोग भी हो रहा था। भगवान् वुद्ध के चिता-स्तूप के ऊपर रामाभार भवानी का मदिर वन चुका था, और एक अन्य स्तूप पर किसी नट की समाधि थी।

आधुनिक युग में सर्वप्रथम वुकनन तथा लिस्टन ने कसिया के अवशेषो का वर्णन किया, परतु ये विद्वान् उसके इतिहास से अवगत न थे। १८६० ई० में जव

कनिंघम ने यह विचार प्रकट किया कि कसिया ही प्राचीन कुशीनगर है,तब से इति
प्रेमियो का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। कनिंघम के पश्चात् कार्लायल ने १८
७७ ई० में यहाँ अनुसधान-कार्य किया। १८९३ ई० में भारत सरकार ने इस स्थान
अपने अधिकार में लिया। इस बीच कई व्यक्तियो ने यहाँ खनन-कार्य कराए,
पुरातत्त्व विभाग द्वारा वैज्ञानिक ढग से उत्खनन १९०४ ई० में आरभ हुआ,
१९१२ ई० तक चलता रहा। बहुत से स्तूप, विहार तथा चैत्यो के अवशिष्ट
टीलो के गर्भ से निकालकर प्रकाश में लाए गए। ये स्मारक एक-दूसरे के सान्नि
ही नही, वरन् ऊपर-नीचे भी बने हुए हैं। तिथि तथा सवत् युक्त लेखो के अभ
प्रत्येक स्मारक का इतिहास निर्धारित करना कठिन है। भगवान् बुद्ध के परिनि
के पश्चात् ही यहाँ स्मारक बनने लगे थे और यह क्रम बारहवी शती तक चलता
प्रयुक्त ईंटो के आकार-प्रकार विभिन्न इमारतो के समय निर्धारित करने में सहायक

कुशीनगर के अवशेष मुख्यत दो स्थानो पर केंद्रित हैं—एक शालवन में,
भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे, और दूसरे मकुटबधन चैत्य में, जहाँ उनका
सस्कार किया गया था। परिनिर्वाण-स्थल अब माथा-कुँवर के कोट के नाम से
है। दूसरे स्थल का प्रतिनिधित्व करता है रामाभार का टीला। मल्लो का प्र
नगर सभवत उस स्थान पर था जहाँ वर्तमान अनिरुधवा गाँव है। यह गाँव प्र
टीलो पर ही बसा हुआ है और कोट से लगभग २५,००० फुट दक्षिण-पूर्व की ओर
है। अनिरुधवा के उत्तर-पूर्व भाग में एक ऊँचा टीला है। कनिंघम के अनुसा
मल्लो के राजप्रासाद का अवशेष है। नगर के बाह्य भाग में ही बौद्ध-स्मारक
रचना हुई थी। इसकी प्राचीर के कुछ अश भी प्राप्त हुए है।

तथा मल्लिका की प्रतिमाएँ हैं। इसी पटिया पर पाँचवीं शती की लिपि में यह लेख उत्कीर्ण है—

'देयधर्म्मोयं महाविहार स्वामिनो हरिवलस्य ।
प्रतिमा चेयं घटिता दिन्नेन माथुरेण ॥'

स्पष्ट है कि इस मूर्ति का प्रतिष्ठापक था स्वामी हरिवल और शिल्पी था मथुरा का दिन्न। यह मूर्ति टीले की ऊपरी सतह से १० फुट नीचे प्राप्त हुई थी। उस समय यह अत्यधिक टूटी हुई थी। कार्लायल ने मंदिर तथा मूर्ति की मरम्मत कराई। यह मंदिर मूर्ति के बाद का बना हुआ है। इसके नीचे प्राचीन मंदिरों के अवशेष विद्यमान हैं। परिनिर्वाण-मूर्ति ही कुशीनगर में सबसे अधिक पूज्य थी। इसी प्रकार की अन्य छोटी मूर्तियाँ भी खुदाई में मिली हैं।

मंदिर के पृष्ठ भाग में, परंतु उसी वेदी पर, परिनिर्वाण स्तूप बना हुआ है। इसको भी कार्लायल ने ही खोदकर निकाला था। उस समय यह बहुत ही जीर्णशीर्ण दशा में था। इसका अंड भाग तो बिलकुल ही नष्ट हो चुका था, केवल नीचे का भाग ही बच रहा था। इसके नीचे भी अन्य प्राचीन स्तूपों के अवशिष्ट भाग दबे हुए थे। हीरानंद शास्त्री ने इसके भीतरी भाग की परीक्षा की थी। ऊपर से पाँच फुट की गहराई पर उन्हें ईंटों के बने हुए दो स्वस्तिक-चिह्न मिले। कुछ और नीचे १४ फुट की गहराई पर एक वृत्ताकार कमरा-सा मिला। इसमें एक ताम्रघट रक्खा हुआ था, जिसका मुँह एक ताम्रपत्र द्वारा बंद था। घट में बालू, जले हुए कोयले, कौडी, मोती, माणिक तथा ताँबे की दो नलियाँ पाई गईं। एक नली तो छूते ही टूट गई, परंतु दूसरी से राख, मोती, पन्ना और सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के ६ सिक्कों के साथ एक छोटी सी चाँदी की डिबिया भी प्राप्त हुई। उसके अंदर एक सोने की नली थी, जिसमें किसी तरल पदार्थ की दो बूँदें तथा भूरे रंग का कोई अन्य पदार्थ रक्खा था। ताम्रपत्र पर संस्कृत में 'निदान सूत्र' लिखा है। उसके अंत में स्वामी हरिवल का नाम आता है और यह भी उल्लिखित है कि यह ताम्रपत्र परिनिर्वाण चैत्य में स्थापित किया गया था। स्पष्टतः यह स्तूप भी पाँचवीं शती में बना था। अधिक नीचे खोदने पर, शिखर से ३४ फुट की गहराई पर, एक लघु स्तूप मिला। उसके एक पार्श्व में छोटा-सा आला था, जिसमें भगवान् बुद्ध की मृन्मयी मूर्ति आसीन थी। स्तूप के भीतरी भाग में मिट्टी का एक पात्र था, जिसमें मिट्टी और जले हुए कोयले थे। संभवतः वे किसी भिक्षु की चिता से लाकर रक्खे गए थे। यह छोटा स्तूप पाँचवीं शताब्दी से कुछ ही पहले का प्रतीत होता है।

कनिंघम ने यह विचार प्रकट किया कि कसिया ही प्राचीन कुशीनगर है, तब से इतिहास-प्रेमियों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। कनिंघम के पश्चात् कार्लायल ने १८७५-७७ ई० में यहाँ अनुसंधान-कार्य किया। १८९३ ई० में भारत सरकार ने इस स्थान को अपने अधिकार में लिया। इस बीच कई व्यक्तियों ने यहाँ खनन-कार्य कराया, परंतु पुरातत्त्व विभाग द्वारा वैज्ञानिक ढंग से उत्खनन १९०४ ई० में आरंभ हुआ, जो १९१२ ई० तक चलता रहा। बहुत से स्तूप, विहार तथा चैत्यों के अवशिष्ट भाग टीलों के गर्भ से निकालकर प्रकाश में लाए गए। ये स्मारक एक-दूसरे के सान्निध्य में ही नहीं, वरन् ऊपर-नीचे भी बने हुए हैं। तिथि तथा संवत् युक्त लेखों के अभाव में प्रत्येक स्मारक का इतिहास निर्धारित करना कठिन है। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ही यहाँ स्मारक बनने लगे थे और यह क्रम बारहवीं शती तक चलता रहा। प्रयुक्त ईंटों के आकार-प्रकार विभिन्न इमारतों के समय निर्धारित करने में सहायक हैं।

कुशीनगर के अवशेष मुख्यत दो स्थानों पर केंद्रित हैं—एक शालवन में, जहाँ भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे, और दूसरे मकुटबंधन चैत्य में, जहाँ उनका दाह-संस्कार किया गया था। परिनिर्वाण-स्थल अब माथा-कुँवर के कोट के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे स्थल का प्रतिनिधित्व करता है रामाभार का टीला। मल्लों का प्राचीन नगर संभवत उस स्थान पर था जहाँ वर्तमान अनिरुधवा गाँव है। यह गाँव प्राचीन टीलों पर ही बसा हुआ है और कोट से लगभग २५,००० फुट दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित है। अनिरुधवा के उत्तर-पूर्व भाग में एक ऊँचा टीला है। कनिंघम के अनुसार यह मल्लों के राजप्रासाद का अवशेष है। नगर के बाह्य भाग में ही बौद्ध-स्मारकों की रचना हुई थी। इसकी प्राचीर के कुछ अंश भी प्राप्त हुए हैं।

मायाकुँवर के कोट के गर्भ में परिनिर्वाण मंदिर तथा स्तूप छिपे हुए थे। मंदिर को १८७६-७७ ई० में कार्लायल ने खोदकर निकाला। मंदिर की दीवारें तो कुछ ऊँचाई तक बच रही थीं, परंतु उसकी छत बिल्कुल ही नष्ट हो गई थी। उसके भीतर एक ऊँचे मंच पर भगवान् बुद्ध की २० फुट लंबी परिनिर्वाणमूर्ति स्थापित थी। बुद्ध जी दाहिनी करवट लेटे हैं। सिर उत्तर की ओर है। दक्षिण बाहु सिर के नीचे रखा है और दूसरा हाथ जंघा पर है। पैर एक-दूसरे के ऊपर स्थापित हैं। सिंहासन के अग्र-भाग में एक पटिया पर तीन शोकग्रस्त मूर्तियाँ अंकित हैं।[1] वे संभवत आनंद, सुभद्र

१. इसी प्रकार की एक विशाल मूर्ति अजंता की २६ संख्यक गुफा में भी दिखता है।

तथा मल्लिका की प्रतिमाएँ हैं। इसी पटिया पर पाँचवी शती की लिपि मे यह लेख उत्कीर्ण है—

'देयधर्म्मोय महाविहार स्वामिनो हरिबलस्य ।
प्रतिमा चेय घटिता दिन्नेन माथुरेण ॥'

स्पष्ट है कि इस मूर्ति का प्रतिष्ठापक था स्वामी हरिबल और शिल्पी था मथुरा का दिन्न। यह मूर्ति टीले की ऊपरी सतह से १० फुट नीचे प्राप्त हुई थी। उस समय यह अत्यधिक टूटी हुई थी। कार्लायल ने मदिर तथा मूर्ति की मरम्मत कराई। यह मदिर मूर्ति के बाद का बना हुआ है। इसके नीचे प्राचीन मदिरो के अवशेष विद्यमान हैं। परिनिर्वाण-मूर्ति ही कुशीनगर में सबसे अधिक पूज्य थी। इसी प्रकार की अन्य छोटी मूर्तियां भी खुदाई मे मिली हैं।

मदिर के पृष्ठ भाग मे, परतु उसी वेदी पर, परिनिर्वाण स्तूप बना हुआ है। इसको भी कार्लायल ने ही खोदकर निकाला था। उस समय यह बहुत ही जीर्णशीर्ण दशा में था। इसका अड भाग तो बिलकुल ही नष्ट हो चुका था, केवल नीचे का भाग ही बच रहा था। इसके नीचे भी अन्य प्राचीन स्तूपो के अवशिष्ट भाग दबे हुए थे। हीरानद शास्त्री ने इसके भीतरी भाग की परीक्षा की थी। ऊपर से पाँच फुट की गहराई पर उन्हें ईंटो के बने हुए दो स्वस्तिक-चिह्न मिले। कुछ और नीचे १४ फुट की गहराई पर एक वृत्ताकार कमरा-सा मिला। इसमें एक ताम्रघट रक्खा हुआ था, जिसका मुँह एक ताम्रपत्र द्वारा बद था। घट में बालू, जले हुए कोयले, कौडी, मोती, माणिक तथा ताँबे की दो नलियाँ पाई गई। एक नली तो छूते ही टूट गई, परतु दूसरी से राख, मोती, पन्ना और सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के ६ सिक्कों के साथ एक छोटी सी चाँदी की डिबिया भी प्राप्त हुई। उसके अदर एक सोने की नली थी, जिसमे किसी तरल पदार्थ की दो बूंदें तथा भूरे रग का कोई अन्य पदार्थ रक्खा था। ताम्रपत्र पर सस्कृत में 'निदान सूत्र' लिखा है। उसके अत में स्वामी हरिबल का नाम आता है और यह भी उल्लिखित है कि यह ताम्रपत्र परिनिर्वाण चैत्य मे स्थापित किया गया था। स्पष्टत यह स्तूप भी पाँचवी शती में बना था। अधिक नीचे खोदने पर, शिखर से ३४ फुट की गहराई पर, एक लघु स्तूप मिला। उसके एक पार्श्व में छोटा-सा आला था, जिसमें भगवान् बुद्ध की मृन्मयी मूर्ति आसीन थी। स्तूप के भीतरी भाग में मिट्टी का एक पात्र था, जिसमें मिट्टी और जले हुए कोयले थे। सभवत वे किसी भिक्षु की चिता से लाकर रखे गए थे। यह छोटा स्तूप पाँचवी शताब्दी मे कुछ ही पहले का प्रतीत होता है।

परिनिर्वाण मंदिर तथा स्तूप के सान्निध्य मे समय-समय पर स्तूप, मंदिर तथा विहार बनते रहे। कुछ इमारतें विश्रामालय अथवा पाकशाला प्रतीत होती है। स्तूप भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के हैं। कतिपय स्तूपो से प्राचीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं और एक के अंदर मे मिट्टी का घट मिला है। अन्य स्तूप स्मारक मात्र थे, अथवा श्रद्धालु उपासकों द्वारा स्थापित हुए थे। विहार अन्यान्य स्थानो के विहारो की भांति ही बने हुए थे। उनमें से कुछ तो बहुत ही विस्तृत तथा भव्य रहे होंगे। उनकी दीवारों की मोटाई से ही विदित होता है कि उनपर एक से अधिक खंड थे। कई प्राचीन विहारों के कुएँ तथा नालियां भी प्राप्त हुई हैं।

भगवान् बुद्ध के दाह-स्थान पर भी अनेक स्मारक बने, जिनमे मकुट बंधन नामक विहार तथा चैत्य प्रमुख थे। आजकल यह स्थान 'रामाभार का टीला' नाम से विख्यात है। रामाभार झील के पश्चिमी किनारे पर एक विशाल स्तूप के अवशेष हैं। कनिंघम के समय में इसकी ऊँचाई ४९ फुट थी। यहाँ पर १८७७ मे खुदाई हुई थी, परंतु मिट्टी की कतिपय मुहरो के अतिरिक्त और कुछ न मिल सका। १९१०-१२ मे इसकी पुनः खुदाई हुई। तब मौर्यकालीन ईंटें प्राप्त हुईं, जो इसकी प्राचीनता का परिचय देती हैं। अवशिष्ट भाग से यह भी विदित होता है कि यह स्तूप परिनिर्वाण स्तूप की अपेक्षा अधिक विशाल था।[1]

कसिया के वर्तमान ध्वंसावशेष आज भी कुशीनगर के विगत वैभव एवं समृद्धि का परिचय दे रहे हैं। वे इस बात के भी साक्षी हैं कि प्राचीन काल मे बौद्ध जनता के लिए इस स्थान का कितना महत्त्व था। इसके खंडहरों मे बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई है, जिनमे पाषाण की मनिया, मिट्टी की तथा धातुनिर्मित मुद्राएँ एवं मुहरें, विभिन्न प्रकार के पात्र, अस्त्र-शस्त्र, चित्रित प्रस्तरखंड तथा नक्काशीदार ईंटें सम्मिलित हैं। कुछ ऐसी ईंटें भी प्राप्त हुई हैं जिनके नीचे-ऊपर रखने से कई प्रकार की आकृतियां बन जाती हैं। अधिकतर मूर्तियां मिट्टी की अथवा पाषाण की हैं। उनमें बुद्ध तथा बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का बाहुल्य है। एक मूर्ति मायादेवी की है और एक अन्य संभवतः नागार्जुन की है। इनके अतिरिक्त विष्णु, गणेश, सूर्य आदि पौराणिक देवताओं की मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है। इन मूर्तियों में सबसे अधिक विख्यात [illegible] बुद्ध की परिनिर्वाण प्रतिमा ही है, जिसका विवरण दिया जा

[1] पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई के विवरणों के लिए १९०४-०५, १९०५-०६, १९०६-०७ तथा १९१०-१२ की वार्षिक रिपोर्टें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

चुका है। एक अन्य बुद्धमूर्ति भी उल्लेखनीय है। श्याम पाषाण की यह खडित मूर्ति अब 'माथाकुँवर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना कलचुरी-कालीन विहार मे हुई थी। इसके पाद-पीठ पर ११ वी शताब्दी की लिपि में एक लेख भी उत्कीर्ण है, जिसके अक्षर अब मिट गए हैं। कुछ लाल पत्थर की मूर्तियाँ भी हैं, जो मथुरा से लाई गई थी। प्राचीन युग मे मथुरा मूर्ति-कला का प्रधान केंद्र था और वहाँ के शिल्पियो द्वारा निर्मित देवमूर्तियो की सर्वत्र माँग रहती थी। मृन्मूर्तियो मे कुछ पशु-पक्षियो की भी हैं।

खुदाई में धातु तथा पाषाण के बने हुए कुछ पात्र एव अन्य उपयोगी वस्तुएँ भी प्राप्त हुई है, जैसे—पत्थर की चक्की, सिल, नाँद, तश्तरी इत्यादि। धातुपात्रो मे लोटा, कटोरी, कटोरा, चम्मच, घडा, घटा, धूपदान इत्यादि सम्मिलित हैं। लोहे के चाकू, कीलें, खूँटियाँ तथा कुछ अस्त्र-शस्त्र भी प्राप्त हुए हैं। परिनिर्वाण स्तूप से स्वर्ण, रजत तथा ताम्र की लघुमजूषाएँ भी मिली है, जिनमें धातुखड रक्खे हुए थे। मिट्टी की बनी हुई वस्तुओ की सख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इनमें विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन, दीपक, मिट्टी की गोलियाँ तथा मनुष्य अथवा पशु आकृतिवाले बर्तन उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ मूँगा, मोती, माणिक, हाथीदांत की मोहरें तथा कौडियाँ भी प्राप्त हुई है, यद्यपि उनकी सख्या बहुत ही अल्प है।

कसिया की मृन्मयी मुद्राएँ विशेषत द्रष्टव्य हैं। वे सहस्रो की सख्या मे प्राप्त हुई हैं। उनमे से अधिकाश तो कुशीनगर के ही दो प्रमुख सघारामो की हैं। कुछ एरड, विष्णुद्वीप प्रभृति अन्यान्य विहारो की अथवा विशिष्ट व्यक्तियो की मुद्राएँ हैं। एक कुमारामात्य के अधिकरण की मुद्रा है। कुशीनगर के महापरिनिर्वाण एव मकुट बधन विहारो की प्राथमिक मुद्राओ पर अलग-अलग लेख तथा चिह्न अकित हैं। एक पर दो शालवृक्षो के मध्य में बुद्ध जी का मृत शरीर एव 'श्रीमहापरिनिर्वाण-महाविहारीयार्य भिक्षु सघस्य' आदि वाक्य लिखे है। दूसरे पर प्रज्वलित चिता तथा 'श्रीमकुट-बन्धन सघ' तथा 'श्रीबन्धन-महाविहारे-आर्यभिक्षु सघस्य' लेख है, परतु दोनो ही विहारो की उत्तरयुगीन मुद्राएँ धर्मचक्र एवम् हिरण-चिह्न से अलकृत है। वास्तव मे यह सारनाथ-विहार का चिह्न था, परंतु क्रमश सभी विहारो में इसका प्रचलन हो गया। एक मुद्रा पर 'आर्य अष्ट वृद्धयै' शब्द उत्कीर्ण है। सभवत यह उन आठ स्तूपो की प्रतीक है जिनमें सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के धातु-खड रक्खे गए थे। मिट्टी की छोटी-छोटी पट्टियाँ भी प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हुई हैं। उनपर बौद्ध 'धम्म परियाय' उत्कीर्ण है। किसी-किसी पट्टिया पर इसके साथ ही बुद्ध या बोधिसत्त्व की मूर्ति अथवा

स्तूप, चक्र आदि चिह्न भी अंकित हैं। कई पटियों पर मनुष्य का जर्जरित अस्थिपंजर मात्र बना हुआ है। अनुमान किया जाता है कि यह बुद्ध जी की तपस्या-मूर्ति है। ऐसी मूर्तियां गांधार कला में प्रायः पाई जाती हैं।

कुशीनगर में कुछ सिक्के भी मिले हैं, परंतु उनकी संख्या बहुत कम है। प्राचीनतम सिक्के जो यहां प्राप्त हुए हैं वे कुषाण शासक कैडफाइसेस द्वितीय तथा कनिष्क प्रथम के हैं। इनके अतिरिक्त गुप्त शासक चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम एवं शक क्षत्रप दामसेन के भी सिक्के मिले हैं। जयगुप्त नामक एक राजा के भी सिक्के पाए गए हैं।

सिक्कों की अपेक्षा उपलब्ध अभिलेखों की संख्या अधिक है। यद्यपि किसी भी लेख में तिथि अथवा संवत् का उल्लेख नहीं है, तथापि उनकी लिपियों से स्पष्ट है कि वे विभिन्न युगों के हैं। अधिकांश लेख मुद्राओं, मुहरों तथा पटियों पर उत्कीर्ण हैं। कुछ मूर्तियों पर अंकित हैं। बुद्ध की विशाल परिनिर्वाण-मूर्ति के लेख का वर्णन हो चुका है। इस मूर्ति के रचयिता शिल्पी दिन्न का नाम एक अन्य मूर्ति के पादपीठ पर भी उल्लिखित है। इस मूर्ति का प्रतिष्ठापक भदंत सुवीर था। लेख इस प्रकार है—"देयधर्मोयं शाक्यभिक्षोः भदन्त सुवीरस्य कृतिर्दिन्नस्य।" यहां के मुख्य स्तूप के अंदर से एक ताम्रपत्र मिला था। इसपर निदान-सूत्र काली स्याही में लिखा हुआ है। केवल अंतिम पंक्ति ही उत्कीर्ण है। इसके अंत में लिखा है—"(दे) य धर्मोय अने (क) (विहा) र स्वामिनो हरिबलस्य य (दत्र) पु(ण्यम्) तद् (भ) वतु सर्वसत्वानाम् अनुत्तरज्ञानावाप्तये (महापरि नि) र्वाण चैत्ये ताम्रपट्ट इति।" यह हरिबल स्वामी संभवतः वही हैं जिन्होंने परिनिर्वाण-प्रतिमा की स्थापना कराई थी। एक अन्य ताम्रपत्र पर तीन पंक्तियों में 'धम्म-परियाय' उत्कीर्ण है। ऐतिहासिक महत्त्व का केवल एक ही अभिलेख उपलब्ध हुआ है और वह भी खंडित है। यह लेख कुशीनगर के कलचुरी शासकों का है। जिस प्रस्तर-पट पर यह उत्कीर्ण है वह अब लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कसिया के खंडहरों से उपलब्ध सामग्री उसके महत्त्व एवं ख्याति के अनुपात में बहुत कम है। इसी कारण कतिपय विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि यहां के निवासी भिक्षु अपने मठों और विहारों के खंडहरों में से सारी बहुमूल्य सामग्री अन्यत्र उठा ले गए थे। परन्तु यह भी संभव है कि इन आततायियों ने ही उनको नष्ट कर दिया हो।

बौद्धों के ह्रास से कुशीनगर का नाम-नाश पुनः प्रारंभ हुआ। आज फिर

वहाँ का वातावरण भगवान् बुद्ध की वाणी से निनादित हो रहा है। इस शुभ परिवर्तन का मुख्य श्रेय भिक्षु महावीर को है। १८९० से १९२० में अपनी मृत्यु पर्यंत यह कर्मठ भिक्षु कुशीनगर के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील रहा। तत्पश्चात् महाथेरा चद्रमणि ने उस भार को ग्रहण किया। इन दोनो व्यक्तियो ने इस प्राचीन तीर्थ की सर्वांगीण उन्नति के लिए अथक परिश्रम किया। इस सुकार्य में उन्हे ब्रह्मदेश के यू-फोच्यू तथा चटगाँव के खी-जरी—जैसे दानशील व्यक्तियो से यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई। सर्वप्रथम उन्होंने भिक्षुओ के रहने के लिए एक नवीन विहार का निर्माण कराया। तत्पश्चात् प्राचीन परिनिर्वाण मदिर एव उसके समीपस्थ परिनिर्वाण स्तूप का जीर्णोद्धार कराया गया। यह कार्य १९२६-२७ मे पूर्ण हुआ। इस समय स्तूप की ऊँचाई ७५ फुट है और परिधि १६५ फुट। ब्रह्मदेश के बौद्ध यात्रियो ने इस स्तूप को तथा बुद्ध की परिनिर्वाण मूर्ति को भी सुवर्णान्वित करा दिया है। लगभग उसी समय माथाकुँवर नामक बुद्ध-मूर्ति के लिए भी प्राचीन आधार पर मदिर का निर्माण हुआ। इस समय यह स्तूप तथा मदिर ही कसिया के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थान है। साथ ही यह बौद्ध तीर्थ शिक्षा एव सस्कृति का भी केंद्र बन गया है। यहाँ पाठशाला, स्कूल तथा कालेज और पुस्तकालयो की स्थापना हो चुकी है और प्रतिवर्ष बुद्ध जयती के अवसर पर मेला लगता है, जिसमें बहुसख्यक व्यक्ति सम्मिलित होते है। उस समय बुद्ध-पूजा, रथयात्रा, धर्मोपदेश आदि का आयोजन किया जाता है। इस महोत्सव का प्रारभ १९२४ में हुआ था। आगतुक यात्रियो के लिए अनेक धर्मशालाएँ बन गई है, जिनमे बिडला द्वारा निर्मित 'आर्य विहार' मुख्य है। अन्य आवश्यक सुविधाएँ भी शासन द्वारा की गई है।

५ श्रावस्ती (सहेत-महेत)

कर्निघम ने श्रावस्ती (सावत्थी) की पहचान सहेत-महेत (जि० गोंडा-बहराइच) से की थी। यह स्थान उत्तर-पूर्वीय रेलवे के बलरामपुर स्टेशन से पक्की सडक के रास्ते दस मील दूर है। बहराइच से इसकी दूरी २९ मील है।

श्रावस्ती नगरी प्राचीन उत्तर कोसल राज्य की राजधानी थी। विष्णुपुराण (अध्याय २, अश ४) के अनुसार सूर्यवशी राजा श्रवस्त या श्रावस्तक के द्वारा इसकी स्थापना हुई। श्री राम ने अपने पुत्र लव को श्रावस्ती का शासक बनाया।

बौद्ध तथा जैन साहित्य में सावत्थि या सावत्थिपुर नाम से इस नगर की चर्चा बहुत मिलती है। पाली टीकाओ मे नगर के नाम के सबध में लिखा गया है कि

जहाँ पर सब वस्तुएँ सुलभ हों वह नगर सावत्थी है (सब्ब एत्थ अत्थीति सावत्थी)।[1] 'श्रावस्ती' का ही बिगड़ा हुआ रूप 'सहेत' है।[2]

भगवान् बुद्ध के समय मे उत्तर भारत के प्रमुख छ नगरो में श्रावस्ती की गणना थी। अन्य पाँच नगर चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशावी तथा वाराणसी थे। उस समय श्रावस्ती में बडे धनाढच श्रेष्ठी (सेट्ठि) रहते थे, जिनके पास करोडो की सपत्ति थी। अनेक प्रकार के उद्योग-धधे इस नगर में उन्नति पर थे। प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण श्रावस्ती नगरी वस्तुओ के आयात-निर्यात का प्रमुख केंद्र थी।

बुद्ध के समय में उत्तर कोसल का शासक प्रसेनजित् (पसेनदि) था। जब बुद्ध राजगृह में निवास कर रहे थे, तब महाराज प्रसेनजित् ने वहाँ जाकर उनके दर्शन किए। बुद्ध ने उन्हें कुमारदृष्टात सूत्र का उपदेश दिया।

बौद्ध ग्रथो में प्रसेनजित् के पुत्र राजकुमार जेत और श्रावस्ती के धनी सेठ (महासेट्ठि) सुदत्त की कथा मिलती है। सुदत्त का दूसरा नाम अनाथपिंडिक था। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उसकी प्रबल इच्छा थी कि महात्मा बुद्ध के निवास के लिए श्रावस्ती नगरी के निकट एक सुदर विहार का निर्माण कराए। उसने इसके लिए नगरी के दक्षिण एक मील दूर राजकुमार जेत के उद्यान को सबसे उपयुक्त समझा। जेत से सुदत्त ने प्रार्थना की कि वह विहार के लिए उपवन की भूमि दे दे। राजकुमार इस शर्त पर राजी हुआ कि जितनी भूमि पर सुदत्त सोने के सिक्के बिछा देगा उतनी उसे प्राप्त हो जायगी। सुदत्त ने गाडियो में भरकर स्वर्ण-मुद्राएँ मँगाई और उन्हें भूमि पर बिछाकर १८ करोड मे उद्यान को खरीद लिया। फिर उसने वहाँ सारिपुत्त के निरीक्षण में अनेक शालाओ से युक्त विशाल जेतवन विहार का निर्माण कराया। महात्मा बुद्ध को आदरपूर्वक बुलाकर उसने उन्हें यह विहार अर्पित किया। इस प्रसिद्ध विहार मे अनेक दर्शनीय कुटियाँ थी।

भगवान् बुद्ध को जेतवन विहार बहुत प्रिय था। यहाँ उन्होंने पच्चीस वर्ष तक निवास कर भिक्षुओं एव गृहस्थ स्त्री-पुरुषो को उपदेश दिए। उनके द्वारा ४१६

१. पपचसूदनी (१, पृ० ५९) में 'सावत्थी' नाम की व्याख्या इस प्रकार दी है—"य किंच मनुस्सान उपभोग परिभोग सब्ब एत्थ अत्थीति सावत्थी। सत्थ समायोगे च 'किं भण्ड अत्थीति' पुच्छिते सब्ब अत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी।"

२. एक अनुश्रुति के अनुसार श्रावस्ती के महाश्रेष्ठि (महासेट्ठि) सुदत्त के नाम पर उसका नाम सहेत-महेत हो गया।

जातक कथाएँ एव अनेक सूत्र इसी स्थान पर कहे गए। इस विहार में सहस्रो भिक्षु निवास करते थे। गधकुटी में स्वय भगवान् बुद्ध का निवास था। अन्य कुटियो के नाम करेरि कुटी, कोसव कुटी, चदनमाला तथा सललघर थे। अतिम का निर्माण सभवत महाराजा प्रसेनजित् के द्वारा कराया गया था और अन्य का सुदत्त के द्वारा। बौद्ध साहित्य से यह भी पता चलता है कि जेतवन की भूमि के मूल्य रूप में १८ करोड़ की जो सपत्ति राजकुमार जेत को प्राप्त हुई थी तथा पेडो की बिक्री का जो धन मिला था उसे उसने एक विशाल भवन के निर्माण में व्यय किया। इस भवन को उसने बौद्ध धर्म के लिए समर्पित कर दिया।

जेतवन विहार के उत्तर-पूर्व में भगवान् बुद्ध की समृद्ध शिष्या विशाखा ने 'पूर्वाराम' नामक एक बौद्ध सघाराम का निर्माण कराया। इसका निर्माण मोग्गलायन की अध्यक्षता में सपन्न हुआ। अन्य विहार 'राजकाराम' तथा 'मल्लिकाराम' थे।

बुद्ध से शत्रुता रखनेवाले देवदत्त ने श्रावस्ती में कई बार बुद्ध के प्राण लेने की चेष्टा की, परतु वह अपने प्रयत्नो में विफल रहा। उसकी मृत्यु श्रावस्ती में ही हुई।

प्रसेनजित् का पुत्र विडूडभ बौद्ध धर्म से चिढता था। उसकी माँ शाक्यवशीय महानाम की दासी से उत्पन्न पुत्री थी। विडूडभ शाक्यो से बडा द्वेष मानता था। उसने मौका पाकर बहुसख्यक शाक्यो का वध कराकर अपने क्रोध को शात किया।

बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यो आनद, कुमार काश्यप आदि ने श्रावस्ती तथा कोसल के अन्य स्थानो में बुद्ध की शिक्षा का प्रचार जारी रक्खा। सम्राट् अशोक के समय में भी जेतवन की बडी प्रसिद्धि थी। अशोक अपनी धर्म-यात्रा में जेतवन भी गया और उसने वहाँ उन चार स्तूपो की पूजा की जो सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप तथा आनद की स्मृति में बनाए गए थे।

बौद्ध ग्रथ महावश से ज्ञात होता है कि सिहल के शासक दुट्ठगामनि के राज्यकाल में जेतवन विहार से एक सहस्र भिक्षु महाथेर पियदस्सि की अध्यक्षता में लका गए।

भारहुत तथा बोधगया के कई शिलापट्टो पर भगवान् बुद्ध के समय की घटनाएँ प्रदर्शित हैं। जेतवन विहार के सुदत्त द्वारा क्रय किए जानेवाला दृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपवन की भूमि पर सिक्के बिछाए जा रहे हैं। पास में सिक्को से भरी हुई बैलगाडियाँ दिखाई गई हैं। भूमि-दानार्थ एक व्यक्ति जल का कमडलु लिए हुए खड़ा है। आश्चर्य-चकित दर्शक यह दृश्य देख रहे हैं। अन्य पाषाण-फलको पर

महाराजा प्रसेनजित् के बुद्ध के सम्मानार्थ गमन,[1] बुद्ध के चिह्नो की पूजा आदि दृश्य अंकित हैं।

कुषाणकाल मे भी श्रावस्ती उत्तर भारत का एक प्रमुख नगर था। बल नामक भिक्षु के द्वारा बनवाई गई एक विशालकाय बोधिसत्त्व-प्रतिमा श्रावस्ती में प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा मथुरा के कलाकारो द्वारा निर्मित हुई और वहाँ से श्रावस्ती भेजी गई। इस मूर्ति के लेख से पता चलता है कि ईसवी प्रथम शताब्दी में जेतवन विहार सर्वास्तिवादी बौद्धो के अधिकार में था। भिक्षु बल की दो अन्य मूर्तियाँ सारनाथ तथा मथुरा मे प्राप्त हुई हैं। इनके लेखो से विदित होता है कि सर्वास्तिवादी मत का प्रचार इस काल में सारनाथ तथा मथुरा में भी हो गया था।

कुषाणकाल के पश्चात् श्रावस्ती की अवनति आरभ हुई। जब पाँचवी शती के आरभ में फाहियान श्रावस्ती आया तब उसने देखा कि इस नगर में केवल २०० परिवार के लगभग रह गए थे। विहारो के स्थान पर नए मदिर बन गए थे। समृद्ध नगरी अब उजाड हो गई थी। उसके दक्षिण में जेतवन विहार था, जिसका कुछ वर्णन इस यात्री ने किया है। उसने लिखा है कि विहार के समीप स्वच्छ जल के तालाब थे। उपवन में विविध रग के फूलवाले लतावृक्ष थे। उसने जेतवन विहार को सात-मजिली इमारत कहा है और लिखा है कि अकस्मात् आग लगने के कारण वह नष्ट हो गई। उसने बुद्ध की एक चदन की मूर्ति का भी उल्लेख किया है, जो श्रावस्ती में विद्यमान थी। इस यात्री के समय में केवल जेतवन विहार में भिक्षुओ की काफी सख्या थी। इस विहार से कुछ दूर विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम विहार अब बिलकुल उजड गया था। हिंदुओ ने श्रावस्ती मे अपने अनेक मदिर बना लिए थे।

सातवी शती में जब हुएन-साग श्रावस्ती आया तब उसने इस नगर को बिलकुल उजडी अवस्था में पाया। नगर-दीवार लगभग २० ली (३ मील) के विस्तार में थी। नगर के निवासियो की सख्या बहुत घट गई थी। यद्यपि बौद्ध सघारामो की सख्या कई सौ थी, पर उनमें निवास करनेवाले बहुत थोडे लोग थे। देवमदिरो की सख्या १०० के आसपास थी, जिनमें बहुत से उपासक रहते थे। हुएन-साग ने श्रावस्ती के प्राचीन भग्नावशेषो का जिक्र किया है। इनमें कई स्तूपो तथा विहारो के चिह्न एव राजा

१. प्रसेनजित् की श्रद्धा वैदिक धर्म और कर्मकाडी पुरोहितों पर अधिक थी और बुद्ध के उपदेशों से वह बहुत कम प्रभावित हो सका। परंतु बुद्ध के प्रति वह बराबर सम्मान का भाव रखता था।

प्रसेनजित् के महल का अश भी था। जेतवन विहार का उल्लेख करते हुए इस यात्री ने लिखा है कि वह नगरी से लगभग एक मील दक्षिण में था। उसके पूर्वी दरवाजे पर ७० फुट ऊँचे दो अशोक-स्तभ थे। बाएँ खभे के ऊपर एक चक्र था और दाएँ के ऊपर बैल की मूर्ति। जेतवन विहार के पास स्थित कई भग्नावशिष्ट स्तूपो का उल्लेख ह्वेन-साग ने किया है। जेतवन से लगभग आधा मील पश्चिम-उत्तर अधवन नामक वन था, जिसमें भक्त लोगो ने अनेक स्तूपो का निर्माण कराया था और अभिलेख लिखवाए थे।

आठवी-नवी शती के कुछ अभिलेख श्रावस्ती से मिले है, जिनसे पता चलता है कि इस काल में भी जेतवन बौद्ध धर्म का केंद्र था। बारहवी शती तक यहाँ पर बौद्ध भिक्षुओ के निवास का पता चलता है। इन भिक्षुओ को कनौज-शासन का सरक्षण प्राप्त था।

इस प्रकार हम देखते है कि बुद्ध के समय से लेकर बारहवी शती तक श्रावस्ती बौद्ध धर्म के एक महान् केंद्र के रूप में प्रसिद्ध रही। बारहवी शती के बाद श्रावस्ती के सबध मे कोई विवरण उपलब्ध नही है। सभवत इसके बाद ही बौद्ध भिक्षु राजनैतिक परिस्थितियो के कारण जेतवन विहार छोडकर चले गए और यह स्थान फिर पूर्णत निर्जन हो गया।

गत शताब्दी में प्राचीन श्रावस्ती नगरी के अभिज्ञान की ओर यूरोपीय विद्वानो का ध्यान गया। १८६३ ई० मे जनरल कनिघम ने सहेत-महेत के कुछ टीलो की खुदाई कर अपना यह मतव्य प्रकट किया कि यही प्राचीन श्रावस्ती थी। सहेत की खुदाई मे उन्हें विशालकाय बोधिसत्त्व मूर्ति मिली, जिसे भिक्षु बल ने श्रावस्ती में स्थापित कराया था। जहाँ यह मूर्ति मिली, उसे कनिघम ने कोसब कुटी का स्थान अनुमान किया। १८७६ में कनिघम ने फिर उत्खनन का कार्य किया, जिसमें उन्हे १६ स्तूपादि इमारतो के भग्नावशेष मिले। कोसब कुटी के उत्तर में प्राप्त इमारत के खँडहर की पहचान उन्होने गध कुटी से की, जिसमें भगवान् बुद्ध स्वय रहते थे।[1]

डा० हॉय द्वारा १८७५-७६ में महेत में खुदाई का कार्य कराया गया। उन्हे यहा जैन तीर्थकरो की कई प्रतिमाएँ मिली। जैन अनुश्रुति के अनुसार श्रावस्ती एक बडे जैन तीर्थ के रूप में भी प्रसिद्ध था। इसका सबध कई तीर्थकरो के साथ रहा है।

१ आर्कओलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया, जिल्द ११, पृ० ७८ तथा आगे; जिल्द १, पृ० ३३० तथा आगे।

डा० हॉय ने उत्खनन-कार्य १८८४-८५ में भी जारी रखा। उसके फलस्वरूप उन्हे ३४ प्राचीन इमारतो के अवशेष प्राप्त हुए।[1]

कनिंघम तथा हॉय द्वारा खुदाई में कई शिलालेख, मूर्तियाँ, मिट्टी की मुहरें तथा ताम्र-मुद्राएँ प्राप्त हुईं। अधिकाश वस्तुएँ अब लखनऊ तथा कलकत्ता के सग्रहालयो में सुरक्षित है।

१९०७-८ तथा १९१०-११ में भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा फिर से श्रावस्ती में खुदाई का कार्य कराया गया।[2] महेत की खुदाई से ३०० से अधिक गुप्तकालीन मृन्मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। इनमें से कुछ पर रामायण तथा पुराणो के दृश्य हैं। अनेक मृत्फलक कला की दृष्टि से अत्यत सुदर हैं। ये लखनऊ सग्रहालय में है।

भगवान् बुद्ध की २५०० जयती के अवसर पर श्रावस्ती में आनेवाले बहुसख्यक यात्रियो की सुविधा के लिए भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा आवश्यक प्रबध किए गए हैं। बलरामपुर स्टेशन से सहेत के आगे तक ११ मील की सडक कोलतार की बना दी गई है। वहाँ से महेत तक पक्की सडक बनाई गई है। आगत यात्रियो के लिए एक नलकूप का भी प्रबध किया जा रहा है। बलरामपुर स्टेशन के विश्रामगृह को विस्तृत बनाया गया है। श्रावस्ती में एक जैन धर्मशाला है जिसमें यात्री ठहरते है। सरकार द्वारा भी यात्रियो के ठहरने की उचित व्यवस्था की जा रही है।

---

१. डब्ल्यू हॉय, 'सेत महेत', जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, जिल्द ६१, भाग १ (१८९२), पृ० १–६४।

२ आर्केओलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया, एनुअल रिपोर्ट १९०७-०८, पृ० ८१ तथा आगे, १९१०-११, पृ० १ और आगे।

अध्याय १६

बौद्ध मूर्तिकला

बौद्ध मूर्तिकला का प्रारभ सम्राट् अशोक के समय से मिलता है। उसके शासन-काल से बौद्ध मत भारत का एक लोकधर्म हो गया। अशोक ने उसके प्रसार में बहुमुखी योग दिया। मूर्ति एव वास्तुकला का भी उपयोग इसके लिए किया गया।

अशोक के स्तभ कला के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। उत्तर प्रदेश में ये स्तभ पूरे या खडित रूप में सारनाथ, कौशावी, प्रयाग और सकिसा में विद्यमान हैं। नेपाल राज्य की तराई में स्थित लुबिनी तथा निगलीवा गाँवो मे भी ये स्तभ है। ये सभी चुनार के पत्थर के बने हैं। अशोक को यह पाषाण बहुत पसद था। स्तभो के दो भाग हैं—एक नीचे की लाठ और दूसरा ऊपर का शीर्ष या परगहा। इन दोनो पर बहुत बढिया पालिश (ओप) मिलती है।[1]

स्तभो के लाठ गोलाकार तथा चढाव-उतारदार है। ऊँचाई में ये ४०-५० फुट तक है। प्रत्येक का वजन लगभग ५० टन है। लाठ के ऊपर के शीर्ष के पाँच भाग है—(१) इकहरी या दुहरी पतली मेखला जो लाठ के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर कमल-पखडियो का अलकरण जो घटाकृति-जैसा है, (३) उसके ऊपर कठा, (४) गोल या चौखूँटी चौकी, तथा (५) उसके सिरे पर बैठे हुए एक या अधिक पशु। अन्य अलकरणो मे तो सुदरता है ही, पर विशेष उल्लेखनीय पशुओ की आकृतियाँ हैं। इलाहाबाद और रामपुरवा के स्तभो के ऊपर बैलो की आकृतियाँ बनी हैं। साथ में कमल आदि जो अलकरण चुने गए है वे भी अत्यत सजीव हो उठे है। शीर्ष के सिरे पर के जानवरो को चारो ओर से कोरकर गढा गया है। ये जानवर सिंह, हाथी[2], बैल या घोडा है। इन चारो का सबध भगवान् बुद्ध के साथ माना जाता है।

१. इस ओप के विधान के सबध में कई मत है। कुछ लोगों का विचार है कि यह वज्रलेप या अन्य कोई मसाला है। दूसरे मतानुसार यह पत्थर की घुटाई के कारण उत्पन्न हुई है। दूसरा मत ही ठीक ज्ञात होता है। द्रष्ट० राय कृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला (काशी, स० १९९६), पृ० २४। यह विचार कि इस ओप को ईरान या यूनान से लिया गया, युक्तिसगत नहीं है।

२. परगहो के अतिरिक्त उडीसा के धवली नामक स्थान में हाथी की एक प्रतिमा चट्टान में कोरकर बनाई गई है, जो अशोक के समय की है।

सारनाथ के शीर्ष या परगहे की चौकी सबसे सुदर है। उसपर उक्त चारो जानवर चार पहियो के बीच उभारकर बनाए गए हैं। चारो पहिए धर्मचक्र को सूचित करते है, जिसका प्रवर्तन सबसे पहले भगवान् बुद्ध द्वारा सारनाथ में किया गया। सिरे की चार सिंहाकृतियो के ऊपर भी एक धर्मचक्र था, जिसके टुकडे प्राप्त हुए हैं। इस धर्मचक्र का व्यास दो फुट नौ इच था। सिरे पर के सिंहो का अकन अत्यत सजीव है। चारो को पीठ से पीठ मिलाए हुए दिखाया गया है। उनके अग-प्रत्यग गठीले हैं और बडी सफाई से गढकर बनाए गए हैं। लहरदार बालो की बारीकी भी दर्शनीय है। पहले इन सिहो की आँखो मे सभवत मणियाँ जडी हुई थी। यह परगहा निस्सदेह भारतीय मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है।[1] अशोक के समय की मूर्तिकला की यह विशेषता है कि उसमें सजीवता और निखारपन मिलता है और कही भी भद्दी या बेडौल रचना नही मिलती।

मौर्यकालीन और परवर्ती भारतीय कला में अनेक ऐसे अभिप्राय या अलकरण मिलते है जो सुमेर, असीरिया, ईरान आदि की कलाओ में भी उपलब्ध हैं। इनमे से कुछ ये हैं—सपक्ष सिंह या बैल, नर-मकर, नर-अश्व, मेष-मकर, गज-मकर, वृष-मकर, सिंह-नारी आदि। इनके सबध में कुछ पाश्चात्य विद्वानो की यह मान्यता रही है कि भारतीय कलाकारो ने उन्हें ईरान या अन्य किसी पश्चिमी देश से लिया। डा० आनद कुमार स्वामी ने ऐसे अभिप्रायो की एक लबी सूची दी है और अपना यह विचार व्यक्त किया है कि भारत का पश्चिमी (लघु) एशिया से व्यापारिक सबध बहुत पुरातन रहा है, अत इसमे कोई आश्चर्य नही यदि अन्य क्षेत्रो की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुत सी बाते एक-दूसरे से साम्य रखती हुई पाई जायें।[2] सभव है कि उक्त अलकरणो आदि का भारत तथा ईरान आदि देशो में आयात एक ही स्थान से हुआ हो।[3]

चिह्नो या प्रतीको की पूजा

अशोक के समय से लेकर ई० पू० प्रथम शती के अत तक भगवान् बुद्ध की मूर्तिपूजा नही मिलती। बुद्ध तथा धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्त करने के लिए कुछ साकेतिक

१ इसके अनुकरण पर सांची, मथुरा आदि स्थानो में भी सिंह-शीर्षों का निर्माण किया गया, पर उनकी कला निम्न कोटि की है।

२ आनद के० कुमार स्वामी—हिस्ट्री ऑव इडियन ऐंड इडोनेशियन आर्ट, पृ० ११–१४।

३ अशोक की कृतियों के अतिरिक्त मथुरा, पटना आदि से जो विशालकाय यक्ष-प्रतिमाएँ मिली हैं वे विशुद्ध भारतीय शैली की हैं। उनमें विदेशीपन नहीं है।

चिह्नो की कल्पना कर ली गई थी। ये चिह्न धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, स्तूप, उष्णीष, भिक्षा-पात्र आदि थे। सारनाथ में बुद्ध द्वारा धर्म का जो प्रथम उपदेश दिया गया था उसे एक चक्र द्वारा व्यक्त किया जाता था। यह नया धर्म 'धम्मचक्कपव्वत्तनसुत्त' की सज्ञा द्वारा अभिहित हुआ। परवर्ती कला में इसकी अभिव्यक्ति इस रूप में मिलती है कि भगवान् बुद्ध बाएँ हाथ की उँगलियो के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियाँ इस प्रकार रखते हैं मानो वे चक्र घुमा रहे हो। बोधगया में जिस पीपल के पेड के नीचे उन्हें बुद्धत्व या सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई उसकी सज्ञा 'बोधिवृक्ष' प्रसिद्ध हुई। इस वृक्ष का चित्रण भी प्रारभिक कला मे मिलता है। प्राय वृक्ष को एक बाडे के अदर दिखाया जाता है, जिसे 'वेदिका' कहते हैं। तीसरा मुख्य चिह्न स्तूप था। बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यो के अवशेष स्तूपो के नीचे रखे जाते थे। अत स्तूप भी पूजा का एक प्रमुख चिह्न हो गया। इसी प्रकार बुद्ध की उष्णीष (पगडी), भिक्षापात्र आदि का पूजन भी साकेतिक चिह्नो के अतर्गत था।

साँची, भारहुत और बोधगया से जो प्रारभिक कलाकृतियाँ मिली हैं उनमे उक्त चिह्नो का ही पूजन मिलता है। उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के दो प्रमुख कला-केंद्रो, मथुरा तथा सारनाथ, से ई० पूर्व के जो बौद्ध कलावशेष मिले है उनपर भी ये चिह्न ही मिलते है, मूर्त रूप में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा नहीं उपलब्ध होती। इसका एक मुख्य कारण यह है कि अशोक के समय में और उसके बाद उत्तर भारत में प्राय थेरवादी (हीनयानी) बौद्धो का जोर था। वे लोग प्रतीको या स्मारको की पूजा में ही विश्वास करते थे, मूर्ति-पूजा में नही। विभज्यवादिन्, सर्वास्तिवादिन् आदि इनकी अनेक शाखाएँ थी। इनके मुकाबले में महासघिक (महायान) मतवाले खडे हुए। ये लोग मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण के पक्ष में थे। प्रारभ में इनकी सख्या और शक्ति अधिक नही थी, अत प्रतिमा-पूजन का प्रचलन न हो सका। मथुरा से शक-शासक राजुवुल और उसके पुत्र शोडास के समय (ई० पूर्व प्रथम शती) का एक परगहा मिला है,[1] जिसपर खरोष्ठी लिपि में कई लेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखो से ज्ञात होता है कि उस समय मथुरा में थेरवाद मतवाले बौद्धो की सर्वास्तिवादिन् शाखा का जोर था। इनमे तथा महासघिक लोगो में प्राय धार्मिक विवाद होते रहते थे। एक बार सर्वास्तिवादियो ने महासघिको से शास्त्रार्थ करने के लिए नगर नामक स्थान (अफगानिस्तान के जलालाबाद जिले में) मे एक प्रसिद्ध विद्वान् को बुलाया था।

१. यह महत्त्वपूर्ण परगहा अब ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में है। इसकी एक प्रतिकृति मथुरा सग्रहालय में सुरक्षित है।

बुद्ध प्रतिमा का प्रारभ

परतु मानुषी रूप मे बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण अधिक समय तक रोका न जा सका। उत्तर भारत में शुग-काल मे भक्ति की लहर प्रवल हो चली थी। विदेशी लोग तक विष्णु के भक्त होने लगे थे। यूनानी राजा अतलिकित के शासन-काल में हेलियोदोर नामक यवन ने बेसनगर में विष्णु के गरुड-स्तभ की स्थापना की। हिंदू देवो[1] तथा जैन तीर्थंकरो की प्रतिमाओ का निर्माण शुग-काल में होने लगा था। भक्ति की जो धारा इस युग मे वही उससे बौद्ध धर्म अछूता न रह सका। अपने धर्म की ओर अधिक लोगो को उन्मुख करने के लिए बौद्धो ने यह आवश्यक समझा कि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण किया जाय।

ई० सन् के आरभ से उत्तर भारत मे कुषाण राजाओ का शासन भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने मे सहायक सिद्ध हुआ। कुषाण-सम्राट् कनिष्क (७८-१०१ ई०) बौद्ध मत का पोषक होने के साथ-साथ कला-प्रेमी था। उसके समय मे मथुरा के शिल्पियो को बडा प्रोत्साहन मिला। मथुरा बौद्ध धर्म तथा मूर्ति कला का एक बडा केंद्र बन गया। विविध धर्मों से सबधित सैकडो मूर्तियो का निर्माण कुषाण-काल में यहाँ हुआ।[2] मथुरा की बनी हुई मूर्तियो की माँग बाहर भी बढी और वे सुदूर स्थानो तक भेजी जाने लगी।[3]

बोधिसत्त्व तथा बुद्ध प्रतिमाएँ

कनिष्क के शासन-काल के प्रारभ से बोधिसत्त्व और बुद्ध की विशाल प्रतिमाओ

१ मथुरा से प्राप्त ई० पूर्व दूसरी शती की बलराम की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह इस समय राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है। जैन तीर्थंकर प्रतिमाओ का निर्माण भी ईसवी सन् के पहले प्रारभ हो गया था, जिसके प्रमाण मथुरा कला में उपलब्ध हैं।

२ कनिष्क और उसके वशजो के समय की निर्मित बहुसख्यक बुद्ध-मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। इनपर के लेखो से ज्ञात होता है कि इस काल में यहाँ अनेक बौद्ध स्तूपो, चैत्यो, विहारो के अतिरिक्त पुण्यशाला, पुष्करिणी, कूपादि का बड़ी संख्या में निर्माण किया गया। इन लेखो से तत्कालीन धार्मिक एव आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश पडता है।

३ मथुरा-कला में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व-प्रतिमाएँ सारनाथ, कौशाबी, श्रावस्ती, साँची, तक्षशिला तक में मिली हैं, जिनमे इस बात की पुष्टि होती है।

का निर्माण होने लगा। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की मिली हैं—एक खड़ी हुई और दूसरी पद्मासन पर स्थित। ज्ञान या संबोधि-प्राप्ति के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्त्व' थी और उसके बाद 'बुद्ध' हुई। इन दोनों की प्रतिमाओं में अंतर यह है कि बोधिसत्त्व को मुकुट, ग्रैवेयक आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राजवेश में दिखाया जाता है, पर बुद्ध को इनसे रहित केवल वस्त्र (चीवर) धारण किए हुए। बुद्ध के सिर पर बालों का जटाजूट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व या ज्ञानसंपन्नता का सूचक है। महायान सम्प्रदाय वालों की यह मान्यता है कि जीवों पर कृपा करके तथागत का पृथ्वी पर आगमन बोधिसत्त्व-रूप में होता है और फिर वे बुद्धत्व या निर्वाण को प्राप्त होते हैं। भागवत मत के अवतारवाद से यह विचार बहुत मिलता-जुलता है। गौतम बुद्ध से पहले अनेक बुद्धों के होने की कल्पना बौद्ध मत में है। अशोक के समय में और उसके बाद भी यह विश्वास मिलता है। अशोक ने कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की मरम्मत कराई थी और नेपाल तराई के निगलीवा स्थान पर एक स्तंभ भी उनके सम्मान में बनवाया था। ये कनकमुनि गौतमबुद्ध के पहले बुद्ध हुए थे।

मथुरा-कला

कुषाण-काल में मथुरा में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व की जो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं वे प्रायः विशाल और हृष्ट-पुष्ट हैं।[1] उन्हें चारों ओर से कोर कर निर्मित किया गया है, जिससे उनका दर्शन चारों ओर से सुलभ हो।[2] उन्हें प्रायः योगी रूप में प्रदर्शित किया गया है। मुख पर मूँछें नहीं मिलतीं। परंतु पश्चिमोत्तर भारत की गांधार कला की मूर्तियों पर मूँछें दिखाई जाती हैं।

अब प्रश्न यह है कि भारत में सबसे पहले बुद्ध-मूर्ति का निर्माण कहाँ हुआ। इस विषय को लेकर विद्वानों में काफी विवाद हुआ है। एक मत के अनुसार भारत के

१. मथुरा संग्रहालय में कई ऐसी प्रतिमाएँ हैं। मथुरा के बल भिक्षु द्वारा निर्मित जो विशालकाय प्रतिमाएँ सारनाथ तथा श्रावस्ती में मिली हैं उनमें भी ये लक्षण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

२. गुप्तकालीन प्रतिमाओं में प्रायः सामने का ही भाग दिखाया जाता था; मूर्तियों को कोर कर गढ़ने की प्रथा नहीं मिलती।

जिस पाषाण का प्रयोग मथुरा की मूर्तियों में किया गया वह लाल बलुआ पत्थर है, जिसपर सफेद चित्तियाँ होती हैं। यह पत्थर मथुरा के समीप रूपवास, ताँतपुर, बयाना आदि में मिलता है।

पश्चिमोत्तर गधार प्रदेश मे प्रचलित कला मे सर्वप्रथम बुद्ध-मूर्ति का निर्माण हुआ। दूसरा पक्ष इसका श्रेय मथुरा-कला को देता है। प्रथम मत के पोषक फूशे, विन्सेंट स्मिथ तथा जॉन मार्शल हैं। इनका कहना है कि गाधार शैली, जोकि पूर्णतया यूनानी कला की उपज है, बुद्ध-मूर्ति की जन्मदात्री है तथा मथुरा-कला का स्रोत भी वही है।

दूसरा मत इसके प्रतिकूल है। इसके समर्थक डा० कुमारस्वामी, हेवेल, जायसवाल आदि हैं। इन लोगो की मान्यता है कि भारतीय कला के वस्तु-विषय तथा उपादान कुषाणो के समय गधार पहुँचे। दूसरा दल यह मानता है कि पद्मासन में स्थित योगी-रूप मे बुद्ध-मूर्ति का निर्माण बिलकुल भारतीय कल्पना है। इन विद्वानो ने इस बात की पुष्टि की है कि बुद्ध-मूर्ति का निर्माण मथुरा कला में आरभ हुआ। मथुरा की कला-शैली मध्यभारत की भारहुत तथा साँची की शैली के साथ-साथ चल रही थी। शुगकाल की तथा कुषाणकाल के आरभ की जो मूर्तियाँ मथुरा में मिली है उनपर प्राचीन यक्ष-प्रतिमाओ[1] तथा सांची और भारहुत की कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। यह कलाशैली गाधार की वास्तविकता-प्रधान शैली से भिन्न है। पद्मासन में बैठी हुई बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाएँ उस परपरा की हैं जिसे हम भारतीय साहित्य मे तथा मोहेंजोदडो से लेकर प्राचीन जैन मूर्तियो में पाते हैं। इन बातो को देखते हुए यह माना नहीं जा सकता कि मथुरा की मूर्तिकला पर मूलत गाधार कला की छाप है। मथुरा-शैली में थोडी-सी मूर्तियाँ ऐसी अवश्य मिली हैं जिनपर गाधार शैली का प्रभाव दिखाई पडता है, परतु वे अपवाद रूप हैं। ऐसी दो विचारधाराओ या कला-शैलियो के बीच आदान-प्रदान का होना स्वाभाविक ही है जो एक ही देश-काल मे साथ-साथ विकसित हो रही हो।

मथुरा-कला की कुषाणकालीन बुद्ध-मूर्तियो मे मस्तक प्राय मुँडा हुआ रहता है। गुप्तकालीन प्रतिमाओ में सिर पर कुचित या घुँघराले केश दिखाए जाते हैं। ललाट के बीच मे गोल ऊर्णा मिलती है, जो कभी-कभी एक छोटे गड्ढे के रूप में प्रदर्शित की जाती है। इस गर्त में मूल्यवान् रत्न लगा रहता है। मथुरा कला की कुषाणकालीन उत्कृष्ट बुद्ध तथा बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ, जो स्थानीय सग्रहालय मे सुरक्षित हैं, सख्या ए० १, ए० २, ए० ४० तथा २७९८ है।[2]

१ प्राचीन यक्ष-मूर्तियाँ मथुरा जिले के परखम नामक गाँव से (मथुरा सग्रहालय, स० सी० १) तथा अन्य कई स्थानो से प्राप्त हुई हैं।

२. लखनऊ, सारनाथ तथा कलकत्ता (इंडियन म्यूजियम) के सग्रहालयो में भी

मुद्राएँ

वोधिसत्त्व तथा वुद्ध-प्रतिमाएँ हाथो के द्वारा अनेक भावो को व्यक्त करती है। उन भाव-विशेपो को 'मुद्रा' कहते हैं। मथुरा-कला में निम्नलिखित चार मुद्राएँ मिलती हैं—

(१) **ध्यान मुद्रा**—इसमें वोधिसत्त्व या वुद्ध पद्मासन में वैठे हुए तथा वाएँ हाथ के ऊपर दायाँ रखे हुए ध्यानमग्न दिखाए जाते हैं।

(२) **अभय मुद्रा**—इसमें वे दाएँ हाथ को उठाकर उसे कधे की ओर मोडकर श्रोताओ या दर्शको को अभय-प्रदान करते हुए दिखाए जाते हैं।

(३) **भूमि-स्पर्श मुद्रा**—इसमें ध्यानावस्थित वुद्ध दाएँ हाथ से भूमि को छूते हुए प्रदर्शित किए जाते हैं। जब वोधगया में उनके तप को नष्ट करने का प्रयत्न कामदेव द्वारा किया गया तव वुद्ध ने इस वात की साक्षी के लिए कि उनके मन में कोई भी काम-विकार नही, पृथिवी का स्पर्श कर उसका आह्वान किया था, जिसे उक्त मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

(४) **धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा**—इसमें भगवान् वाएँ हाथ की उँगलियो के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियो को इस प्रकार रखते हैं मानो वे चक्र घुमा रहे हो। यह दृश्य सारनाथ में उनके द्वारा धर्म के सर्वप्रथम उपदेश को सूचित करता है। यही से उन्होंने ससार में एक नए धर्म का प्रवर्तन किया।

इसके अतिरिक्त एक 'वरद मुद्रा' भी है, जो मथुरा में नही मिलती। इसमें भगवान् का दायाँ हाथ हथेली को इस प्रकार सामने किए नीचे लटकता है मानो वे वरदान दे रहे हो।

वुद्ध के जीवन की घटनाएँ

गौतम वुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओ को मथुरा-कला में प्रदर्शित किया गया

मथुरा की कुषाणकालीन वुद्ध एव वोधिसत्त्व प्रतिमाओ के सुंदर उदाहरण हैं। हाल में अहिच्छत्रा (जि० वरेली) से मथुरा-कला की दो अत्यत कलापूर्ण वुद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो अव राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं। इनमें से एक पर कुषाणकालीन ब्राह्मी लेख है।

है। इनमें लुबिनी मे बुद्ध का जन्म, बोधगया में ज्ञानप्राप्ति (तथा मार का दमन), सारनाथ में धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा कुशीनगर मे परिनिर्वाण मुख्य हैं। इन चार प्रमुख घटनाओ के अतिरिक्त बालक बुद्ध का नागो द्वारा स्नान, इद्रशैल गुफा में स्थित बुद्ध के प्रति इद्र का सम्मान-प्रदर्शन, ब्रह्मा और इद्र के साथ त्र्यस्त्रिश स्वर्ग से बुद्ध का अवतरण, लोकपालों द्वारा बुद्ध को भिक्षा पात्र-समर्पण आदि अन्य कई घटनाओ का चित्रण भी मथुरा-कला में मिलता है।

जातक कथाएँ

भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ 'जातक' कहलाती हैं।[1] इन कथाओ के अनुसार गौतम के रूप में जन्म लेने के पूर्व बुद्ध अनेक योनियो में विचरे थे। मथुरा-कला में कच्छप जातक, उलूक जातक, व्याघ्री जातक, वेस्सतर जातक, रोमक जातक, सुत-सोम जातक आदि की कहानियाँ बडे मनोरजक ढग से उत्कीर्ण मिलती हैं।

वेदिका स्तंभ

मथुरा की बौद्ध कला में यहाँ के वेदिका-स्तभो का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेदिका के खभों पर कुषाणकालीन लोक-जीवन का बहुमुखी चित्रण मिलता है। इनपर विविध आकर्षक मुद्राओं में स्त्रियो को अकित किया गया है। वे अनेक प्रकार के आभूषण—यथा कर्णकुडल, एकावली, गुच्छक हार, केयूर, मेखला, नूपुर आदि धारण किए हुए दिखाई गई हैं। उनकी विविध ललित क्रीडाओं को भी इन स्तभो पर चित्रित किया गया है। कही कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कदुक क्रीडा में लग्न है (जे० ६१)। कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताडित कर उसे पुष्पित कर रही है (स० २३२५)। कोई निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरात तन ढँक रही है (जे० ४)। किसी के हाथ में वीणा (जे० ६२) और किसी के वशी है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुदरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड रही है और नीचे हस उन पानी की बूँदो को मोती समझकर अपनी चोच खोले खडा है (१५०९)। किसी स्तभ (जे० ५) पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी पर सगीतोत्सव का तो

१. बौद्ध ग्रथो के अनुसार अधिकाश जातक कथाएँ भगवान् बुद्ध द्वारा उस समय कही गई जब वे जेतवन विहार (श्रावस्ती) में निवास कर रहे थे।

किसी पर मवुपान का (१५१)। इस प्रकार लोकजीवन के कितने ही दृश्य इन स्तभो पर चित्रित मिलते हैं। कुछ पर भगवान् वुद्ध के पूर्व जन्मो से सवधित विभिन्न जातक कहानियाँ (स० जे० ४ का पृष्ठ भाग) और कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य (स० १५१) भी है। कुछ पर वुद्ध या वोधिसत्त्व की प्रतिमाएँ है, तो कही पूजक लोगों की। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तभो पर वडे प्रभावपूर्ण ढग से उत्कीर्ण किए गए हैं। इन वेदिका-स्तभो को शृगार और सौंदर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिनपर कलाकारो ने प्रकृति तथा मानव जगत् की सौंदर्य-राशि उपस्थित कर दी है।

यक्ष, किन्नर, गधर्व आदि

मथुरा-कला में यक्ष, किन्नर, गधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओ की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि है। सगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विपय हैं। यक्षो की प्रतिमाएँ मथुरा-कला में अधिक मिली हैं।[1] इनमें सवमे महत्त्वपूर्ण परखम नामक गाँव से प्राप्त तृतीय श० ई० पू० की विशालकाय यक्ष मूर्ति (सी० १) है। यह सभवत माणिभद्र यक्ष की प्रतिमा है। ऐसी एक दूसरी वडी मूर्ति मथुरा के वडौदा गाँव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ कोर कर वनाई गई हैं। कुपाणकाल में ऐसी ही मूर्तियो के समान विशालकाय वोविमत्त्व तथा वुद्ध की प्रतिमाएँ निर्मित की गई।

यक्षो में कुवेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्यान प्रवान है। उनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा मे प्राप्त हुई हैं। कुवेर यक्षो के अविपति तथा धन के देवता माने गए हैं। वौद्ध, जैन तथा हिंदू—इन तीनो धर्मों में इनका पूजन मिलता है। वौद्ध धर्म में इनकी 'जभाल' सज्ञा प्रसिद्ध है। कुवेर जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में इनकी अधिकाश मूर्तियाँ मिली हैं। संग्रहालय में सख्या सी० २, सी० ५ तथा सी० ३१ कुवेर की उल्लेखनीय मूर्तियाँ है जिनमें वे सुरापान करते हुए चित्रित किए गए है।

१. भगवान् वुद्ध के समय मथुरा में यक्ष-पूजा का वड़ा जोर था। जव वुद्ध यहाँ आए तव एक नग्न यक्षिणी के द्वारा उनको अपमानित करने की चेष्टा की गई। वुद्ध ने मथुरा के गर्दभ आदि यक्षो का दमन किया। मथुरा-निवासियों द्वारा वुद्ध के सम्मान में ३,५००विहार वनवाने की बात वौद्ध ग्रंथो में मिलती है। द्रष्ट०नलिनाक्ष दत्त, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १।

इनके हाथो में सुरापात्र, विजौरा-नीबू तथा रत्नो की थैली या नेवला रहता है। कुछ वर्ष पूर्व कुबेर की एक सुदर अभिलिखित मूर्ति (स० ३२३२) मथुरा से प्राप्त हुई है, जो ई० तीसरी शती की है। कुबेर के साथ उनकी स्त्री हारीती की भी मूर्ति मिलती है। यह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है और मथुरा-कला में उसका चित्रण प्राय बच्चो को गोद में लिए हुए मिलता है।

मथुरा-कला मे अन्य यक्षियो का चित्रण भी मिलता है। इनके अतिरिक्त पूज्य प्रतिमाओ के साथ विविध अलकरणो के रूप में किन्नर, गधर्व, अप्सरा, सुपर्ण, विद्याधर आदि भी मिलते हैं। किन्नर स्त्री-पुरुषो को आधा मानव और आधा अश्व के रूप में दिखाया जाता है, जो सभवत स्फूर्ति और शक्ति का प्रतीक है। गधर्व गान-विद्या-विशारद माने जाते हैं और अप्सराएँ नृत्य-कुशला। सुपर्णों को सपक्ष पुरुष रूप में आलेखित किया गया है। विद्याधर-मिथुन पुष्प-वृष्टि करते हैं। मथुरा, सारनाथ आदि की अनेक प्रतिमाओ के ऊपर पुष्पो की डलिया लिए हुए विद्याधरो को दिखाया गया है।

नाग-मूर्तियाँ

यक्षो के समान प्राचीन मथुरा में नागो की पूजा भी मिलती है। इनका भी सबध विविध धर्मों से पाया जाता है। भगवान् कृष्ण के भाई बलराम को शेषनाग का अवतार माना जाता है। विष्णु की शय्या भी अनत नागो की बनी हुई कही गई है। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न नाग हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार मुचुलिंद नामक नाग ने भगवान् बुद्ध के ऊपर छाया की थी तथा नद और उपनद नागो ने उन्हें स्नान कराया था। रामग्राम स्तूप की रक्षा भी नागो द्वारा की गई थी।[1] इस प्रकार भारतीय धर्मों में नागो का उच्च स्थान है।

नागो की मूर्तियाँ पुरुषाकार तथा सर्पाकार—दोनो रूपो में मिलती हैं। शेषावतार रूप में बलराम की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनके गले में वैजयती माला आदि आभूषण तथा हाथो में मूसल और वारुणीपात्र दिखाए जाते हैं। मथुरा सग्रहालय में इस प्रकार की कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुदर मूर्तियाँ (स० १३९९, ३२१०, सी० १९ तथा ४३५) हैं। नाग की सबसे विशाल मूर्ति सख्या सी० १३ है, जो पौने आठ फुट ऊँची है। यह छडगांव, (जि० मथुरा) से प्राप्त हुई थी। इसमें नाग की कुडलियाँ बडे ओजपूर्ण तथा ऐंडदार ढग मे दिखाई गई हैं। इस मूर्ति की पीठ पर खुदे हुए लेख से

१ द्रष्टव्य मथुरा शिलापट्ट, स० आइ० ९।

ज्ञात होता है कि यह महाराजाधिराज हुविष्क के समय चालीसवें वर्ष (सन् ११८ ई०) में सेनहस्ती तथा भोणुक नामक दो मित्रो के द्वारा बनवाकर प्रतिष्ठापित की गई। भूमिनाग (स० २११) तथा दधिकर्ण नाग[1] (स० १६१०) की भी मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित है। बलदेव में दाऊजी की प्रसिद्ध विशालकाय मूर्ति भी कुषाणकाल की उल्लेखनीय कृतियो में है।

शक-कुषाण राजाओ की प्रतिमाएँ

मथुरा से शक-कुषाण राजाओ तथा अभिजात्य वर्ग की कई अत्यत महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली है, जैसी कि भारत में अन्यत्र नही मिलती। मथुरा से लगभग ८ मील दूर माट नामक स्थान में कुषाण राजाओ का एक देवकुल था, जहाँ से इन राजाओ की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। दूसरा देवकुल सभवत यमुना-तट पर गोकर्णेश्वर टीला पर था।

विम कैडफाइसिस की मूर्ति (स० २१५)—इस विशालकाय मूर्ति में, जिसका सिर नही है, महाराज विम सिंहासनारूढ दिखाए गए है। वे लबा चोगा, गुलूबद, सलवारनुमा पायजामा तथा चमडे के तसमो से कसे हुए मोटे जूते पहने है। मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

कनिष्क की प्रतिमा (स० २१३)—कनिष्क कुषाण वश का सब से प्रतापी सम्राट् था। उसकी वेशभूषा विम से बहुत मिलती-जुलती है। उसके दाएँ हाथ में राजदड तथा बाएँ में तलवार है। मोटे जूते, जिन्हें गिलगिटी जूते कहते है, दर्शनीय है। इस मूर्ति पर भी राजा का नाम उसकी उपाधियो सहित लिखा है।

चष्टन की मूर्ति (स० २१२)—चष्टन पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप-वंश का जन्मदाता था। इस मूर्ति की भी वेशभूषा उपर्युक्त मूर्तियो के समान है। इसका चोगा जरीदार है तथा कमरबद भी अलकृत है।

इन मूर्तियो के अतिरिक्त यथोक्त वेशभूषा धारण किए हुए अनेक शक राजकुमारो तथा सरदारो की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है।

गाधार कला में शक महिषी की मूर्ति (स० एफ ४२)—यह मूर्ति यमुना-किनारे स्थित सप्तर्षि टीले से प्राप्त हुई है और नीले सिलेटी पत्थर की बनी है। यद्यपि यह गाधार कला की कृति है, जो मथुरा-कला से भिन्न है, तथापि मथुरा में इसका पाया

१. इस दधिकर्ण नाग का मथुरा में एक मंदिर भी था।

जाना बड़े महत्त्व की बात है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्ठी के एक शिलालेख से ज्ञात हुआ है कि शक-शासक राजुवल तथा उसकी पत्नी कमुइअ (कबोजिका) ने मथुरा में गुहा-विहार का तथा एक बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया। इस मूर्ति को उसी कबोजिका की अनुमान किया जाता है।

गुप्तकालीन कला

गुप्त-काल (३००–६०० ई०) में मथुरा-कला चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इस समय की बुद्ध की जो प्रतिमाएँ मिली हैं उनमें सुरुचिपूर्ण अग-विन्यास के साथ करुणा, शाति और आनद का अद्भुत समन्वय मिलता है। भिक्षु यशदिन्न द्वारा प्रतिष्ठापित अभय-मुद्रा में बुद्ध-मूर्ति (मथुरा सग्रहालय ए० ५) ऐसी ही है। उसे देखने से पता चलता है कि मथुरा के गुप्तकालीन शिल्पी शारीरिक सौंदर्य के साथ लोकोत्तर भाव की अभिव्यक्ति किस सहज रूप में करते थे। दूसरी ऐसी ही सर्वांग सुदर प्रतिमा राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली में है। इन दोनो मूर्तियो के सिर के पीछे कलापूर्ण प्रभामडल है। पत्रावलियो आदि से अलकृत प्रभामडल गुप्तकाल की विशेषता है। कुषाणकालीन प्रभामडल सादे मिलते हैं।

श्रीकृष्ण के प्रसिद्ध जन्मस्थान के निकट कटरा केशवदेव में एक बौद्ध विहार था, जिसका नाम 'यशाविहार' था। इसका पता वहाँ से प्राप्त बुद्ध की एक अभिलिखित मूर्ति से चला है, जिसे जयभट्टा नामक महिला ने दान में दिया था। यह मूर्ति सपूर्ण है और गुप्त-कला का एक अच्छा उदाहरण है।[1]

गुप्तकालीन बुद्ध एव बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ मथुरा के जमालपुर, जयसिंहपुरा, कटरा, चौबारा आदि स्थानो से प्राप्त हुई हैं। इन स्थानो में इस काल के अत तक कई बौद्ध विहार थे।[2] अनेक विशाल जैन तथा हिंदू इमारतें भी इस समय विद्यमान थी।

मध्य काल

छठी शती के प्रारभ में हूणो के आक्रमण के कारण मथुरा को बडी क्षति पहुँची।

१. इस समय यह प्रतिमा राजकीय सग्रहालय, लखनऊ में है।

२. फाहियान ने मथुरा में यमुना के दोनों तटो पर २० सघारामो का उल्लेख किया है, जिनमें लगभग ३,००० भिक्षु रहते थे। सातवीं शती में हुएन-साग के समय में भी २० विहार थे, जिनमें रहनेवालो की संख्या घटकर २,००० रह गई थी।

कितनी ही इमारतो को ढहा दिया गया और मूर्तियो को नष्ट किया गया। मथुरा में बौद्ध धर्म को इस आक्रमण से गहरा धक्का पहुँचा। छठी शती बाद की बौद्ध मूर्तियाँ मथुरा में नाममात्र को ही मिली हैं और उनकी कला में वह सजीवता तथा मौलिकता नही दिखाई देती जो कुषाण एव गुप्तकालीन कला में है। पौराणिक हिंदू धर्म का उत्थान भी मथुरा में बौद्ध धर्म और कला के ह्रास का कारण था। मध्य काल में जिन स्थानो में बौद्ध धर्म की अवनति आरभ हुई उनमें एक मथुरा भी था। महमूद गजनवी के आक्रमण (१०१७ ई०) ने मथुरा में बौद्ध धर्म की रही-सही सत्ता को समाप्त कर दिया। उसके बाद यहाँ के बौद्ध विहार उजाड हो गए और भिक्षु लोग अन्यत्र चले गए।

सारनाथ

उत्तर प्रदेश का दूसरा बडा केंद्र, जो बौद्ध मूर्तिकला के लिए प्रसिद्ध है, सारनाथ है। यहाँ अशोक के समय से लेकर लगभग ई० बारहवी शती तक बौद्ध कला का विकास होता रहा। मथुरा के कलाकार मूर्ति-निर्माण के लिए रूपवास, बयाना आदि स्थानो में उपलब्ध लाल बलुए पत्थर का प्रयोग करते थे। सारनाथ में हमें चुनार के लाल पत्थर का प्रयोग मिलता है, जो पहले की अपेक्षा कही अधिक स्थायी और मूर्ति-निर्माण के लिए उपयुक्त है। अशोक के समय से सारनाथ में चुनार के इसी पत्थर का प्रयोग किया गया। सारनाथ से प्राप्त मूर्तियाँ वहाँ के सग्रहालय में प्रदर्शित है।

शुग तथा कुषाण काल में सारनाथ में जो इमारतें बनी उनके अवशेष वेदिकास्तभ तथा अन्य शिलापट्टो के रूप में मिले हैं। शुगकालीन अवशेषो पर चिह्नो के रूप में बुद्ध का पूजन मिलता है। उक्त स्तभो पर स्तूप, धर्मचक्र, त्रिरत्न, पूर्णघट, कमल आदि का चित्रण बडे प्रभावोत्पादक ढग से किया गया है। मत्स्य-पुरुष, किन्नर, पशु-पक्षी आदि का आलेखन भी सुदर है। शुगकालीन एक यक्ष-मूर्ति (डी०-एच० ५) यहाँ भी मिली है। कुछ मौर्यकालीन ओपयुक्त सिर भी प्राप्त हुए हैं। इनमें घुटे हुए सिर (बी० १), विदेशी का लबी ऐंठदार मूछोवाला चेहरा (डबल्यू० ४) तथा स्त्रियो के दो शुगकालीन सिर (२२१ और २२९) दर्शनीय हैं। शोकमग्ना स्त्री की भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जो वेदना की प्रतिमूर्ति-सी जान पडती है। उसके केशविन्यास तथा वस्त्रो को कलापूर्ण ढग से दिखाया गया है। शुगकाल का एक परगहा भी मिला है, जिसपर सनाल कमलो के बीच भागते हुए एक घुडसवार दिखाया गया है। दूसरी ओर हाथी की पीठ पर बैठे हुए दो पुरुष अकित हैं। इनमें से एक के हाथ में झडा है। सारनाथ की शुग-

कालीन कला में उसी प्रकार का चिपटापन और चेहरे की गोल आकृति मिलती है जैसी कि साँची, भारहुत, मथुरा आदि की तत्कालीन कला मे। कुछ तोरण के टुकडे भी इस काल के मिले है, जिनपर धर्म-चक्र, त्रिरत्न, गज आदि के अलकरण हैं।

कुषाणकालीन मूर्तियाँ

कुषाणकाल के आरभ की एक मूर्ति सारनाथ की खुदाई में मिली थी। यह मूर्ति उसपर लिखे हुए ब्राह्मी लेख के अनुसार कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष (८१ ई०) में मथुरा-निवासी त्रिपिटकाचार्य बल के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी। इस मूर्ति के साथ एक छत्र भी था, जिसकी यष्टि पर मिश्रित सस्कृत और प्राकृत भापा में दस पक्तियो में यह लेख खुदा है—

१ महाराजस्य काणिष्कस्य स ३ हे ३ दि २२
२ एतये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्यबुद्धयस्य सद्ध्येवि—
३ हारिस्य भिक्षस्य वलस्य त्रैपिटकस्य
४ वोधिसत्वो छत्रयष्टि च प्रतिष्ठापितो
५ वाराणसीये भगवतो चकमे सहा मात (ा)–
६ पितिहि सहा उपाध्याया चेरेहि सद्ध्येविहारि—
७ हि अन्तेवासिकेहि च सहा वुद्धमित्रये त्रैपिटिक–
८ ये सहा क्षत्रपेन वनस्परेन खरपल्ला—
९ नेन च सहा च च (तु) हि परिशाहि सर्वमत्वानम्
१० हितसुखारत्य (र्त्थं) म्।

(अर्थात् महाराज कनिष्क के तीसरे राज्यवर्प (८१ ई०), तृतीय शरद (मास) के वाईसवें दिन पुष्यवृद्धि के शिष्य त्रिपिटिकाचार्य भिक्षु वल ने वोधिसत्त्व की मूर्ति, छत्र और दड सहित, काशी में भगवान् के घूमने के स्थान में, अपने माता-पिता, उपाध्याय, अतेवासी (शिप्य), त्रिपिटिकाचार्य वुद्धमित्र, क्षत्रप वनस्पर और खर-पल्लान तथा चतुर्वर्ग (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) के साथ सव जीवो के कल्याण और आनद के लिए प्रतिप्ठापित किया।)

यह प्रतिमा कई दृष्टियो से वडे महत्त्व की है। इसके सारनाथ में मिलने से यह पता चला है कि मथुरा-कला में निर्मित विशाल वोधिसत्त्व प्रतिमाएँ सुदूर स्थानो में भेजी जाती थी। इसपर जो तिथि सहित लेख है उससे यह ज्ञात होता है कि कनिष्क की ओर

से क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लान बनारस के प्रशासक नियुक्त थे। उस समय के भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रसार में किस प्रकार योग देते थे, इसका पता भी इस लेख से चलता है। जिस त्रिपिटिकाचार्य बल के द्वारा इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना की गई उसी ने मथुरा, श्रावस्ती आदि स्थानों में भी इस प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित कराई। लेख में मूर्ति को 'बोधिसत्त्व' कहा गया है, यद्यपि उसमें राजकीय वेश-भूषा का अभाव है। बल की अन्य मूर्तियो के लेखो में तथा मथुरा से प्राप्त कई अन्य बुद्ध-मूर्तियो को भी उनके लेखो में 'बोधिसत्त्व' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरभ में बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की प्रतिमाओ में शास्त्रीय सज्ञा-भेद को अधिक महत्त्व नही दिया जाता था।

सारनाथ के शिल्पियो के समक्ष बल द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्ति का आदर्श उपस्थित हुआ। उन्होंने उसी के अनुरूप अनेक प्रतिमाओ का निर्माण किया, जिनमें से कई सारनाथ सग्रहालय में प्रदर्शित हैं।[१]

कुषाणऔर गुप्त-काल के बीच संक्राति-काल की भी एक उल्लेखनीय मूर्ति सारनाथ सग्रहालय में है (सख्या बी- (बी) १)। इसमें भगवान् बुद्ध को अभय मुद्रा में दिखाया गया है। सिर पर कुचित केश और उष्णीष है और पीछे गोल प्रभामडल दिखाया गया है।

गुप्तकालीन प्रतिमाएँ

गुप्त-काल मे सारनाथ की मूर्तिकला बहुत उन्नत हुई। मूर्तियो मे अब विभिन्न अवयवो के कलापूर्ण अकन के साथ-साथ आध्यात्मिक भाव का चित्रण मिलता है। इस काल की जो अनेक मूर्तियाँ सारनाथ मे मिली है उनमें कलाकारो की वही विशेषताएँ दिखाई पडती है जो मथुरा-कला में है। पद्मासन में बैठे हुए धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में भगवान् बुद्ध की जो मूर्ति सारनाथ में मिली है (सख्या बी-(बी) १८१), वह भारतीय कला की इनी-गिनी उत्कृष्ट प्रतिमाओ में है। अर्धोन्मीलित-नेत्रयुक्त भगवान् बुद्ध की इस मूर्ति को देखकर कलाकार की शतमुख से सराहना करनी पडती है। मूर्ति के पीछे कलापूर्ण प्रभामडल है। चौकी पर वे भिक्षु बने है जिन्हे सारनाथ मे बुद्ध ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था। दाहिनी ओर शिशु सहित एक स्त्री की भी मूर्ति है।

१. सारनाथ संग्रहालय की बी-(ए) २ और ३ सख्यक मूर्तियाँ इसी प्रकार की है और कुषाणकालीन कृतियो में विशेष उल्लेखनीय है।

सभवत उसी स्त्री के द्वारा यह मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी। चौकी के बीच में धर्म-चक्र की पूजा है।

गुप्त-काल की अन्य अनेक मूर्तियां सारनाथ में मिली है, जिनमे बुद्ध को विभिन्न मुद्राओ में दिखाया गया है। उत्तर गुप्तकाल तथा मध्यकाल के प्रारभ में सारनाथ में अनेक देवी-देवताओ की प्रतिमाओ का निर्माण हुआ, इनमें मैत्रेय (बी–डी–२), लोकनाथ (बी–डी–१), सिद्धैकवीर (बी–डी–६), नीलकठ (बी–डी–३), तारा (बी–एफ–१), मारीची (बी–एफ–२३) आदि की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। कई प्रतिमाओ की चौकी पर लेख भी मिले हैं।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ तथा जातक कहानियाँ

सारनाथ मे अनेक शिलापट्ट ऐसे मिले हैं जिनपर बुद्धजन्म, तपस्या, धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण—ये मुख्य चार घटनाएँ दिखाई गई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गौण घटनाएँ भी चित्रित है। इनमें स्वर्गावतरण, श्रावस्ती का चमत्कार, नालागिरि हस्ती का दमन तथा वानरेंद्र का मधुदान उल्लेखनीय है।

अनेक जातक कथाएँ भी सारनाथ के शिलापट्टो पर उत्कीर्ण हैं। एक बडी सुहावटी (डी–डी–१) पर क्षातिवादी जातक की कथा है। इसके अनुसार बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में क्षातिवादी नामक तपस्वी हुए। उन्होने बनारस के राजा की स्त्रियो को उपदेश देकर उन्हे भिक्षुणी बनाया और इसके बदले में दडस्वरूप राजा के द्वारा अपना दाहिना हाथ कटवाया। इसी प्रकार व्याघ्री जातक आदि की कथाएँ भी सारनाथ कला में मिलती है।

उत्तर मध्यकाल

उत्तर मध्यकाल मे वज्रयान सम्प्रदाय के उत्थान के फलस्वरूप सारनाथ की कला भी प्रभावित हुई। यहाँ वज्रयान मत की अनेक मूर्तियां मिली है, जिनमें मजुवर, हेरुक, वज्रघट, मारीची, सरस्वती, वसुधारा, चुडा आदि की प्रतिमाएँ हैं। लगभग बारहवी शती के अत तक बौद्ध कला का सारनाथ में विकास होता रहा। उत्तर मध्यकाल की जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं उनमे पाल-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

अन्य स्थानो से प्राप्त बौद्ध मूर्तियाँ

उत्तर प्रदेश मे अन्य जिन स्थानो से बौद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुई है उनमे मुख्य श्रावस्ती

सकिसा, कौशावी, कसिया, अहिच्छत्रा और महोवा है। श्रावस्ती से भिक्षु बल वाली प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य अनेक सुदर मूर्तियाँ मिली हैं, जो कलकत्ता और लखनऊ के सग्रहालयो में है। इनमें से कुछ अभिलिखित है।

सकिसा (प्राचीन साकाश्य) से भी विविध बौद्ध कलाकृतियाँ प्राप्त हुई है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अशोक-स्तभ का शीर्ष है, जिसपर चमकीली ओप है। कमल-पुष्प तथा पीपल के पत्तो का आलेखन इस शीर्ष पर अत्यत सुदर है। ऊपर सूँडरहित हाथी की मूर्ति है। इस शीर्ष के पास ३ फुट ७ इच ऊँची एक पुरुष-प्रतिमा है, जो शुगकालीन यक्ष-प्रतिमाओ से मिलती-जुलती है। एक वेदिका-स्तभ तथा बुद्ध की अनेक खडित प्रतिमाएँ सकिसा से प्राप्त हो चुकी है। हाल में यहाँ से बुद्ध का एक सुदर सिर मिला है। अनेक प्रकार की मृन्मूर्तियाँ, मिट्टी की मुहरे तथा सिक्के भी यहाँ प्राप्त हुए है।

बौद्ध कला के केंद्र के रूप मे कौशावी का नाम बहुत प्रसिद्ध है।[1] कनिष्क के राज्य-वर्ष २ (८० ई०) की बुद्ध की अभिलिखित मूर्ति यही से मिली थी। यह तथा अन्य अनेक बौद्ध मूर्तियाँ प्रयाग सग्रहालय में है। हाल में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा कौशावी में खुदाई का जो कार्य कराया गया है उसमें घोषिताराम-विहार के नाम सहित एक शिलापट्ट मिला है। दूसरी-तीसरी शती के कई अन्य बौद्ध अभिलेख इस खुदाई में मिले है, जो बडे महत्त्व के है। उत्तर-गुप्तकाल में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उच्च कोटि की है। कुछ प्रतिमाएँ चुनार-पत्थर की और शेष लाल बलुए पत्थर की बनी है।

कसिया (कुशीनगर) के शालवन तथा मकुटबधन चैत्य मे कई बुद्ध-मूर्तियाँ तथा अन्य अवशेष मिले है। परिनिर्वाण-मदिर के भीतर बुद्ध की २० फुट लबी लेटी हुई प्रतिमा अप्रतिम कही जा सकती है। भगवान् दाहिनी करवट लेटे है और दक्षिण भुजा के ऊपर उनका सिर रखा हुआ है। लबी चौकी के अगले भाग मे तीन शोकमग्न मूर्तियाँ बनी है, जो सभवत आनद, सुभद्र तथा मल्लिका की प्रतिमाएँ है। चौकी पर गुप्त-कालीन लिपि मे जो लेख खुदा है उससे ज्ञात होता है कि महाविहार मे इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना स्वामी हरिबल ने की थी और उसका निर्माण मथुरा के शिल्पी दिन्न ने किया

१. भगवान् बुद्ध के समय में कौशांबी में घोषिताराम, कुक्कुटाराम तथा पावारिक अबवन—इन तीन प्रमुख विहारो के निर्माण का पता चलता है। अशोक ने अपना अभिलिखित स्तंभ यहाँ लगवाया। कुषाण तथा गुप्त काल में कौशांबी में बौद्धकला की उन्नति हुई।

था।[1] इस प्रसिद्ध मूर्ति के अतिरिक्त कुशीनगर से अन्य कई मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इनमें 'माथाकुँवर' नाम से विख्यात मूर्ति उल्लेखनीय है। यह काले पाषाण की बनी हुई खंडित प्रतिमा है। इसकी स्थापना कलचुरि-कालीन विहार में हुई थी। मूर्ति की चौकी पर ११ वीं शती का ब्राह्मी लेख था, जिसके अक्षर अब बहुत मिट गए हैं। मथुरा के लाल बलुए पत्थर की कई मूर्तियां भी कुशीनगर में मिली हैं, जिनमें मथुरा-शैली की छाप स्पष्ट है। ये मूर्तियां मथुरा से यहाँ लाई गई होंगी।

अहिच्छत्रा नगर उत्तर पंचाल की राजधानी था।[2] यहाँ से बोधिसत्त्व मैत्रेय की एक कलापूर्ण अभिलिखित मूर्ति मिली है, जो ई० ३०० के लगभग की है।[3] कुछ वर्ष पूर्व एक यक्ष-प्रतिमा भी यहाँ मिली थी, जिसपर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख में अहिच्छत्रा में 'फरगुल' नामक बौद्ध विहार का पता चला है, जो यहाँ कुषाण-काल में था।[4] हाल में बुद्ध की दो सुंदर मूर्तियां अहिच्छत्रा से मिली हैं। इनमें से एक पर ई० दूसरी शती का लेख है। दोनों मूर्तियां मथुरा शैली की हैं और लाल बलुए पत्थर की बनी हैं।[5] अहिच्छत्रा से प्राप्त प्रारंभिक गुप्तकाल के एक शिलापट्ट पर बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं को बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से दिखाया गया है।[6] गुप्त-काल की बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की कुछ अन्य प्रतिमाएँ भी अहिच्छत्रा से मिली हैं।

बुंदेलखंड के महोबा नगर (जि० हमीरपुर) से मध्यकालीन बौद्ध मूर्तियां मिली हैं। इनमें सिंहनाद अवलोकितेश्वर की प्रतिमा बेजोड़ है। यह हलके भूरे बलुए पत्थर की बनी है और चरण-चौकी पर अंकित लेख के अनुसार ई० ११ वीं शती की कृति है। सिंह के ऊपर शांत भाव में बैठे हुए अवलोकितेश्वर दिखाए गए हैं, मानो करुण और शांत रस मूर्तिमान कर दिए गए हों। महोबा तथा बुंदेलखंड के अन्य कई

१. लेख इस प्रकार है—"देयधर्म्मोयं महाविहारस्वामिनो हरिबलस्य प्रतिमा चेयं घटिता दिन्नेन माथुरेण।"

२. यह वर्तमान बरेली जिले की आंवला तहसील में आंवला से लगभग १० मील उत्तर है।

३. यह प्रतिमा अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है।

४. वाजपेयी, ए न्यू इस्क्राइब्ड इमेज फ्राम अहिच्छत्रा, जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टॉरिकेल सोसायटी, १९५०, पृ० ११२।

५. ये दोनों मूर्तियां राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं।

६. यह शिलापट्ट अब राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है।

स्थानो से ग्रेनाइट पाषाण की भी कुछ बौद्ध मूर्तियां मिली है, जिनपर काली पालिश है। ये मूर्तियां प्राय ध्यानमुद्रा में है और उनकी कला साधारण कोटि की है।

उत्तर प्रदेश के अन्य अनेक स्थानो, यथा हस्तिनापुर, वाजिदपुर (जि० कानपुर), मानकुवार, भीटा (जि० इलाहाबाद) पखना विहार (जि० फर्रुखाबाद) आदि मे भी कुछ बौद्ध मूर्तियां प्राप्त हुई है। कुशीनगर से प्राप्त मिट्टी की अभिलिखित मुद्राओ का वर्णन किया जा चुका है। इन मुद्राओ पर सघारामो, भिक्षुसघो[1] शासकीय अधिकारियो तथा विशिष्ट व्यक्तियो के नाम खुदे हुए है। सारनाथ, सकिसा, मथुरा, पखना विहार आदि से भी इस प्रकार की लेखयुक्त मिट्टी की मुद्राएँ प्राप्त हुई है।



१. भिक्षु-संघो की मुद्राओ पर एक रोचक लेख डा० फोगल ने लिखा है। द्रष्टव्य जर्नल ऑव दि सीलोनीज ब्राच ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी, (न्यू सीरीज), जिल्द १, पृ० २७-३२।

अध्याय १७

बौद्ध वास्तुकला

उत्तर प्रदेश विविध ललित कलाओं के विकास का क्षेत्र रहा है। मौर्यकाल से लेकर अर्वाचीन युग तक यहाँ स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य और सगीत प्रस्फुटित एव पल्लवित होते रहे। बौद्ध धर्म की प्रधान रगस्थली होने के कारण इस भूमि पर कितने ही बौद्ध स्तूपो, चैत्यो और विहारो का निर्माण हुआ। परतु आक्राताओ के आक्रमण भी इस प्रदेश पर बहुत हुए, जिनके कारण वास्तु एव मूर्तिकला को विशेष रूप से क्षति उठानी पडी। यहाँ के भग्नावशिष्ट स्मारक उन प्रहारो की कितनी ही रोमाचक गाथाएँ अपने अतस्तल में छिपाए हुए हैं।

बौद्ध वास्तुकला के नमूने मुख्यतया तीन प्रकार के है—१ स्तूप, २ चैत्यगृह और ३ गुफाएँ। उत्तर प्रदेश मे प्रथम के कुछ भग्नावशेष मिलते है। ये स्तूप दो प्रकार के होते थे—एक विशाल इमारतो के रूप में स्मारक[1] या धातु-चैत्य तथा दूसरे दानार्थ निर्मित लघु (वोटिव) स्तूप। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे शव को धरती में गाडकर उसपर तूदा बनाने की जो प्रथा थी उसी का कुछ विकसित रूप स्तूप है। यह तूदा उलटे कटोरे के आकार का होता था और इसकी रक्षा के लिए कभी-कभी एक कटघरे की भी व्यवस्था रहती थी। साँची आदि स्थानो में जो प्राचीन स्तूप मिले है उनका आकार-प्रकार ऐसा ही है। अशोककालीन जो बौद्ध स्तूप साँची में है उसके तले का व्यास १२० फुट तथा ऊँचाई ५४ फुट है। इसके चारो ओर दो प्रदक्षिणा-पथ है। उत्तर-पश्चिम भारत में अशोक के द्वारा अनेक बडे स्तूपो का निर्माण कराया गया। काबुल-पेशावर के बीच नगरहार में उसके द्वारा निर्मित ३०० फुट ऊँचा एक स्तूप था। अनुश्रुति के अनुसार तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप भी अशोक द्वारा बनवाया गया। ये स्तूप स्मारक रूप में थे और उनमें बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यो के अवशेष सुरक्षित थे।[2]

१. इस रूप म जैन स्तूप भी मिलते हं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन स्तूपों का निर्माण बौद्ध स्तूपों के पहले प्रारभ हो गया था। द्रष्टव्य वी०ए०स्मिथ, दि जैन स्तूप (इलाहाबाद, १९०१), पृ० १–११, फलक १–५।

२. अनुश्रुति के अनुसार अशोक द्वारा ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया गया। बुद्ध के अवशेष पहले केवल आठ स्तूपों म सुरक्षित थ, पर बाद म उन्हें इन बहुसख्यक स्तूपों में ले जाया गया।

चीनी यात्रियो ने उत्तर प्रदेश के अनेक प्राचीन स्थानो में अशोक द्वारा निर्मित
तूप देखे, खेद है कि, उनमें से कोई समूचा स्तूप अब नही बचा। केवल सारनाथ
शोक के धर्मराजिका स्तूप का कुछ भाग अवशिष्ट है। यह ६० फुट व्यास का,
का बना हुआ गोलाकार रहा होगा। इस स्तूप के दक्षिण में एक ही पत्थर में काट-
बनाई गई वेदिका मिली है, जिसपर मौर्यकालीन पालिश तथा ब्राह्मी लेख है।
वेदिका प्रारभ में धर्मराजिका स्तूप की हर्मिका के रूप में रही होगी। किसी दुर्घ-
वश उसके गिर जाने पर उसे अन्यत्र रख दिया गया। धर्मराजिका स्तूप का पुन-
णि एक लबे समय तक जारी रहा और उसका आकार भी बढता रहा। कुषाण-
से लेकर ई० १२ वी शती तक उसमें परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे। बनारस के
ा जगतसिह द्वारा अज्ञानवश वह नष्ट कर दिया गया, जिससे अब प्राचीन स्तूप
केवल तल-भाग अवशिष्ट है।

सारनाथ का दूसरा स्तूप 'धमेख' (धर्मेक्षा) है। इसकी ऊँचाई १४३ फुट है।
की नीव से ३७ फुट की ऊँचाई तक पाषाण के नक्काशीदार शिलापट्ट लगे हैं, जो
कालीन है। इनपर अनेक प्रकार के पशु-पक्षी तथा पत्रावली आदि विविध अलकरण
रता से उकेरे गए है। धमेख के नीचे एक प्राचीन लघु स्तूप दबा पडा है। सभवत.
ख स्तूप स्मारक स्तूप था। इससे कोई धातु-खड अभी तक नही मिले।

'चौखडी' पर भी धमेख की तरह का स्तूप था, जो अष्टकोण मेधि पर बना रहा
ा। उसका ऊपरी भाग नष्ट हो गया है। यह वही स्थान है जहाँ कौडिन्य आदि
भद्रवर्गीय भिक्षुओ ने सर्वप्रथम बुद्ध का स्वागत किया था।

वर्तमान 'चौखडी' मुगलकालीन इमारत है। यह ईंटो की बनी हुई अठपहलू है।
का निर्माण मुगल सम्राट् अकबर ने अपने पिता हुमायूँ की यात्रा के स्मारक-रूप में
ाया था।[1]

चीनी यात्री हुएन-साग ने प्राचीन मूलगध कुटी का जो वर्णन किया है उससे
तकालीन बौद्ध मदिरो की निर्माण-शैली पर कुछ प्रकाश पडता है। यह ९० फुट
चौकोर इमारत थी। इसके तीन ओर आयताकार कोठरियाँ थी और चौथी ओर
र चढने के लिए सीढियाँ थी।

पिप्रावा स्तूप—उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के पिप्रावा नामक स्थान में एक प्राचीन

१. शेरशाह से पराजित होने पर हुमायूँ ने सभवत सारनाथ के खँडहरो में शरण
ी थी।

स्तूप का पता श्री पेप्पी ने लगाया था।[1] यही एक ऐसा स्तूप है जिसे प्राक्-अशोक-कालीन कहा जा सकता है। यहाँ अन्वेषक को एक अभिलिखित पात्र मिला था। इस पात्र पर जो ब्राह्मी लेख है उसके अक्षर लगभग ई० पू० ४०० के हैं। इस स्तूप से स्वर्ण के पत्तर पर एक स्त्री-प्रतिमा भी मिली, जिसकी बनावट नदनगढ से प्राप्त प्राचीन मातृदेवी-प्रतिमा[2] से बहुत मिलती-जुलती है।

अन्य बौद्ध केंद्रो में भी विभिन्न युगो में अनेक बडे स्तूपो के निर्माण की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अति प्राचीन स्तूपो की बनावट साँची तथा सारनाथ के स्तूपो से बहुत-कुछ साम्य रखती रही होगी। मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त एक जैन-मूर्ति की चौकी पर ई० दूसरी शती का एक लेख खुदा है, जिसमे 'बोद्व स्तूप' नामक एक बडे जैन स्तूप के निर्माण की चर्चा है। मथुरा से प्राप्त एक जैन आयागपट्ट (क्यू० २) पर तथा कई वेदिका-स्तभो पर स्तूपो की जो आकृतियाँ बनी हैं उनसे कुपाण-कालीन स्तूपो की निर्माण-शैली पर प्रकाश पडता है। नीचे चौकोर या आयताकार आधार, फिर अड और ऊपर यष्टि सहित छत्र—ये इन स्तूपो के मुख्य भाग रहते थे। स्तूप के चारो ओर एक या अनेक वेदिकाएँ होती थी। पाषाण के कुछ लघु स्तूप भी मथुरा से मिले हैं, जिनसे दानार्थ (वोटिव) स्तूपो के प्रकार का पता चलता है। ये लघु स्तूप भी सिद्धात-रूप में बडे स्तूपो की निर्माण-शैली के आधार पर ही बनाए जाते थे।

बौद्ध विहार

उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानो में बौद्ध विहारो की सख्या काफी बडी थी। इसका पता साहित्यिक ग्रथो, विदेशी परिव्राजको के यात्रा-विवरणो तथा प्राचीन पुरातत्त्वीय अवशेषो से चलता है। इन विहारो का निर्माण प्राय इस प्रकार होता था—मध्य में आँगन और उसके चारो ओर स्तभाश्रित बरामदे होते थे। पीछे भिक्षुओ के निवास के लिए कोठरियाँ होती थी। ये कोठरियाँ स्थान के अनुसार बडी-छोटी बनाई जाती थी। एक ओर बीच में प्रवेश-द्वार होता था और उसके ठीक सामने मदिर रहता था। सारनाथ के प्राचीन मूलगधकुटी मदिर का मुख्य द्वार पूर्वाभिमुख था। अन्य दिशाओ मे लघु पार्श्व मन्दिर बने थे। इस मदिर की दीवारें मजबूत और सुदर भित्तिचित्रो से अलकृत थी। विस्तृत आँगन में कई चैत्य तथा स्तूप बने हुए थे। गाहडवाल रानी

१ द्रष्टव्य डब्ल्यू० सी० पेप्पी तथा वी० ए० स्मिथ, 'दि प्रिपावा स्तूप, जर्नल ऑव दि रा५ल एशियाटिक सोसायटी १८९८, पृ० ५७३ तथा आगे।

२. आ० स० इ०, एनु० रि०, १९०६–०७, पृ० १२२, चित्र ४।

कुमारदेवी द्वारा निर्मित 'धर्म-चक्र जिन विहार' की बनावट प्राय दक्षिण के गोपुरो-जैसी है। इसके अदर खुले आँगन के तीन ओर कोठरियाँ बनी है। बाहर दो विशाल परकोटे तथा सहन हैं। इसके अदर एक छोटी सुरग भी है, जो एक छोटी कोठरी तक जाती है। हो सकता है कि वह भिक्षुओ की एकात साधना का स्थान रहा हो।

श्रावस्ती के जेतवन तथा पुब्बाराम विहार, कौशाबी के घोपिताराम, कुक्कुटाराम आदि विहार तथा कुशीनगर, मथुरा[1] आदि स्थानो के बडे विहार विशाल रहे होंगे, जैसा कि उनके सबध में प्राप्त वर्णनो तथा कतिपय उपलब्ध भग्नावशेषो से ज्ञात होता है। खेद है कि इन प्राचीन विहारो का कोई समूचा उदाहरण अब सुरक्षित नही है।



१. मथुरा के अभिलेखो में निम्नलिखित बौद्ध विहारों के नाम मिले हैं—हुविष्क विहार, स्वर्णकार विहार, श्री विहार, चेतीय विहार, चुतक विहार, अपानक विहार, मिहिर विहार, गुहा विहार, क्रौष्टकीय विहार, रोषिक विहार, ककाटिका विहार, प्रावारिक विहार, यशा विहार तथा खड विहार।

अध्याय १८

अशोक और उसके अभिलेख

बौद्ध धर्म के प्रसार में सम्राट अशोक का योग अत्यत महत्त्वपूर्ण है। अशोक का शासनकाल ई० पू० २७३ से २३२ तक माना जाता है। अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष में अशोक को कलिंग देश का भयकर युद्ध करना पडा। इस युद्ध में लगभग एक लाख व्यक्ति मारे गए और इससे कही अधिक आहत हुए। डेढ लाख व्यक्ति वदी वनाए गए। इसका अशोक पर वडा प्रभाव पडा और उसने इस प्रकार के युद्धो को सर्वदा के लिए त्याग दिया। उपगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु से अशोक ने वौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की और वह अब 'चडाशोक' से 'धर्माशोक' वन गया।

अपने तेरहवे शिलालेख में अशोक ने लिखा है कि कलिंग-युद्ध के भीषण नर-सहार से वह किस प्रकार प्रभावित हुआ—

"अठवषाभिसितषा देवानपियष पियदषिने लाजिने कलिग्या विजिता। दियढमिते पानषतषहशे ये तफा अपवुढे शतषहषमिते ततहते वहुतावतके वामटे। ततो पछा अधुनालधषु कलिग्येषु तिवे धमवाये।"[1]

(अर्थात् आठ वर्ष से अभिषिक्त देवताओ के प्यारे और दयावान् राजा ने कलिंग विजय किया। इसमें डेढ लाख मनुष्य पकडे गए, एक लाख मारे गए और इससे भी अधिक आहत हो गए। उसके वाद अव जीते हुए कलिग देश में धर्म का वहुत पालन किया जाता है।)

अशोक के साम्राज्य मे धुर दक्षिण को छोडकर प्राय सारा भारत, अफगानिस्तान तथा वलोचिस्तान सम्मिलित थे।[2] उसने अपने साम्राज्य में तथा उसके वाहर वौद्ध धर्म के प्रसार के लिए विविध उपाय किए। वौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने भारत के विभिन्न स्थानो में कुल ८४,००० स्तूपो का निर्माण कराया। चीनी यात्री

१ कालसी (जि० देहरादून) की शिला में उत्कीर्ण तेरहवां लेख। ई० हुल्श, इस्क्रिप्शस ऑव अशोक (आक्सफोर्ड, १९२५), पृ० ४३।

२ उत्तर-पश्चिम में हिं कुश से लेकर पूर्व में बगाल तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में चितलद्रुग जिले तक अशोक का साम्राज्य फैला था। द्रष्ट० रमाशकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑव ऐंश्यट इडिया (बनारस, १९४२), पृ० १७०–७२।

फाहियान ने अशोक द्वारा निर्मित कलापूर्ण कृतियो के लिए लिखा है कि उनकी सुदरता को देखकर मालूम होता था कि वे असुरो द्वारा निर्मित थी। ह्वुएन-सांग तथा सुगयुन ने भी अशोक की इमारतो का उल्लेख अपने यात्रा-विवरणो में किया है।

स्तूपो के अतिरिक्त अशोक के द्वारा अनेक स्तभ भारत के विभिन्न स्थानो में लगवाए गए। इन स्तभो पर तथा अनेक शिलाओ पर राजाज्ञाएँ उत्कीर्ण कराई गई। इनके द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार मे बडी सहायता मिली।[1]

अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त किए गए, जो 'धर्ममहामात्र' कहलाते थे। इनका मुख्य कार्य जन-साधारण में धर्म का प्रचार था। वे अपने-अपने क्षेत्रो में दौरा करके लोगो को वास्तविक धर्म का मर्म बताते थे। कलिंग प्रदेश में धवली के लेख में अधिकारियो के नाम इस प्रकार की आज्ञा है—

"तुम लोग सहस्रो प्राणियो के अधिकारी हो। हमारा कर्तव्य है कि भले आदमियो के हम प्रीतिपात्र बनें। मैं अपने पुत्रो के समान ही अपनी प्रजा का भी ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण चाहता हूँ। अत तुम लोगो को ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे प्रजा का एक भी आदमी दुखी न हो।"

इस लेख से पता चलता है कि अशोक अपनी प्रजा के प्रति कैसा स्नेहभाव रखता था और उसके कल्याण के लिए कितना दत्तचित्त रहता था। अपने इस भाव को बड़े सीधे-सादे रूप में अशोक ने अधिकारियो पर व्यक्त किया है और प्रजा के प्रति उन्हे सच्चे कर्तव्य की याद दिलाई है।

कलिंग में जौगढ नामक स्थान पर अशोक का दूसरा लेख मिला है। इस लेख में भी महामात्र नामक अधिकारियो के नाम इस प्रकार का सदेश है—

"तुम लोग प्रजा के साथ अच्छा बर्ताव करो, जिससे मेरे राज्य के बाहरवाले लोग भी मेरा विश्वास प्राप्त करें और वे यह समझने लगें कि यदि क्षमा के योग्य अपराध होगा तो अवश्य क्षमा किया जायगा। तुम लोगो को मेरी इस आज्ञा का पालन अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए जिससे सभी लोग मुझे पिता के समान समझने लगें।"

१. अब तक कुल मिलाकर अशोक के २०० से ऊपर अभिलेख प्राप्त हो चुके है। इनमें से केवल दो पर अशोक का नाम मिला है—एक मास्की (हैदराबाद) के छठें अभिलेख में तथा दूसरे हाल में गुजर्रा (विंध्य प्रदेश में दतिया से ११ मील दूर) नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में।

अशोक की इन आज्ञाओ का वडा प्रभाव पडा। अधिकारियो और प्रजा के वीच सीधा-सच्चा सवध स्थापित हो गया। अशोक के शासन के वाहर के लोग भी उसे एक आदर्श सम्राट् मानने लगे।

अपने राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष सम्राट् ने देश के पवित्र स्थलो की यात्रा की। यह 'धर्मयात्रा' के नाम से प्रसिद्ध है। जिन स्थानो में अशोक जाता वहाँ लोगो से धार्मिक विचार-विनिमय करता था। अशोक ने लुंविनी, कपिलवस्तु, वोधगया, सारनाथ, कुशीनगर, श्रावस्ती आदि अनेक धार्मिक स्थानो की यात्रा की।

भारत के वाहर अशोक ने धर्म-प्रचारार्थ कई मडलियो को भेजा। ये मडलियाँ लका, तिब्बत, पश्चिमी एशिया, मिस्र आदि देशो में गईं। वौद्ध साहित्य में कई मडलियो के नेताओ के नाम दिए हुए हैं। अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र तथा पुत्री सघमित्रा को वौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लका भेजा। अशोक के समय में पाटलिपुत्र में बौद्ध धर्म की तीसरी महासगति हुई थी।[1] इसकी समाप्ति के वाद ही उक्त धर्म-मडलियाँ वाहर गईं। इस प्रकार सम्राट् अशोक के प्रयत्नो से तथा इन धर्म-मडलियो की अटूट लगन से बौद्ध धर्म का प्रचार न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशो में हुआ, वल्कि वाहर के अनेक देश भी तथागत के मत को माननेवाले हो गए। इस वात का श्रेय मुख्यतया अशोक और उसके प्रचारको को दिया जा सकता है कि उनकी मृत्यु के लगभग २,२०० वर्ष वाद ससार के लगभग एक तिहाई व्यक्ति बौद्ध मत के अनुयायी हैं।

अभिलेख

अशोक के लेख पहाड की चट्टानो, पत्थर के खभो और गुफाओ पर खुदे हुए मिले है। इन लेखो को मौर्य सम्राट् ने भारत के विभिन्न स्थानो पर लगवाया था। कुछ लेखो का अब पता नही चलता। अपनी प्रजा के प्रति अशोक का जो भाव था और धर्म के जिस रूप को वह प्रचलित करना चाहता था उसकी जानकारी इन लेखो से मिलती है। धर्म के मुख्य सिद्धातो की व्याख्या इन लेखो में वडी सरल शैली में की गई है। ये लेख तीन प्रकार के है—१ शिलालेख, २ स्तभलेख, और ३. गुफालेख।

१. प्रथम महासगति या सभा महाकश्यप के नेतृत्व में राजगृह में तथा दूसरी वैशाली में हुई थी। तीसरी का आयोजन अशोक के राज्यारोहण के १७ वें वर्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुआ।

शिलालेख—मुख्य शिलालेख[1] १४ है, जो निम्नलिखित स्थानो में मिले हैं—

१ शाहवाज गढ़ी (पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व, यूसुफजाई तहसील में),

२ मानसेहरा (पश्चिमी पाकिस्तान के हजारा जिले में, अवटावाद से १५ मील उत्तर),

३ कालसी (जिला देहरादून, उत्तर प्रदेश),

४ गिरनार (सौराष्ट्र), ५–६ धवली तथा जौगढ (उडीसा), ७ सोपारा (जिला-थाना, वबई), ८ येर्रगुडि (जि० कर्नूल, आध्र)।

उपर्युक्त कई स्थानो में १४ या १३ लेख एक साथ उत्कीर्ण हैं। धवली और जौगढ में प्रत्येक स्थान पर उक्त लेखो में से १० लेख और एक-एक प्रादेशिक लेख है।

सिद्धपुर (मैसूर), ब्रह्मगिरि तथा जटिंग रामेश्वर (मैसूर), सहसराम (विहार), रूपनाथ (मध्यप्रदेश), येर्रगुडि (आध्र), मदगिरि (आध्र), मास्की (हैदरावाद), वैराट (राजस्थान), गुजर्रा (विंध्य प्रदेश)—इन दस स्थानो से तथा दक्षिण के कुछ अन्य स्थानो से फुटकर शिलालेख प्राप्त हुए है।

स्तंभलेख—स्तभलेख मुख्य सात है। जिन स्थानो में अशोक के ये स्तभलेख प्राप्त हुए है वे दिल्ली, प्रयाग, लौरिया, मठिया और रामपुरवा हैं। पिछले तीनो स्थान विहार के चपारन जिले में है। दिल्ली में प्राप्त दोनो स्तभ लेख फीरोजशाह तुगलक के द्वारा वहाँ मँगवाए गए थे। इनमें से एक स्तभ अवाला के समीप तोपरा नामक स्थान से दिल्ली पहुँचाया गया था। इसपर सातो लेख है। दूसरी मेरठ वाली लाट पर लेख अस्पष्ट हैं। फर्रुखसियर के समय (१७१३–१९ ईस्वी) में वारूदखाने के फटने से इस खभे को वडा नुकसान पहुँचा और उसके कई टुकडे हो गए। १८६७ ईस्वी में इसे वर्तमान रूप में खडा किया गया। लौरिया, मठिया और रामपुरवा के स्तभो में ६-६ लेख हैं।

प्रयागवाला स्तभ पहले कौशावी में था। वहाँ से सभवत फीरोजशाह के द्वारा वह प्रयाग पहुँचाया गया। इसपर अशोक के ६ लेख उत्कीर्ण है। इस स्तभ पर गुप्त-वशी सम्राट् समुद्रगुप्त का प्रसिद्ध लेख भी खुदा हुआ है। अशोक की रानी चारुवाकी का भी एक लेख इसी पर उत्कीर्ण है।

१ मुख्य तथा फुटकर शिलालेखो के सवध में देखिए—हुल्श, दि इंस्क्रिप्शस ऑव अशोक, भूमिका, पृष्ठ ९–१५, २३–२८; राधाकुमुद मुकर्जी, अशोक (द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९५५), पृ० १३-१४ तथा २५८-६३; डी० आर० भंडारकर, अशोक (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९५५), पृ० २३१-२४०।

फुटकर स्तभलेखो में सारनाथ, लुबिनी तथा निगलीवा के लेख उल्लेखनीय हैं।[1] कौशावी तथा सॉंची में भी फुटकर लेख मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के समय में भिक्षु तथा भिक्षुणियो के सघो में फूट डालनेवाली प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई थी और सारनाथ तथा कौशावी में वे विशेप रूप से थी। उक्त दोनो स्थानो में जो लेख मिले हैं उनसे इस वात की पुष्टि होती है। अशोक ने सघ के नियम तोडनेवालो के लिए दड का विधान किया, जिसका उल्लेख सारनाथ, कौशावी तथा सॉंची के स्तभ-लेखो मे मिलता है। यहाँ सारनाथ-स्तभ का मूल लेख तथा उसका हिंदी अनुवाद दिया जाता है—

सारनाथ का मूल स्तभलेख[2]

"देवा एल पाट (लिपुत्र?) (न सकि?) ये केनपि सघे भेतवे ए चु खो (भिखू वा भिख) नि वा सघ भ (खति)। से ओदातानि दुसानि सनधापयिया आनावाससि आवासयिये। हेव इय सासने भिखु सघसि च भिखुनि सघसि च विंनपयितवे। हेव देवान पिये आहा। हेदिसा च इका लिपी तुफाक तिक हुवाति ससलनसि निखिता। इक च लिपिं हेदिसमेव उपासकानतिक निखिपाथ। तेपि च उपासका अनुपोसथ यावु। एतमेव सासन विस्वसयितवे अनुपोसथ च धुवाये इकिके महामाते पोसथाये याति। एतमेव सासन विस्वसयितवे आजानितवे च आवते च तुफाक आहाले सवत विवासयाथ। तुफे एतेन वियजनेन हेमेव सवेसु कोट विपवेसु एतेन वियजनेन विवा सापयाथा।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा वोला—पाटलिपुत्र में और वाहर के नगरो में किसी को भी भिक्षु-सघ के नियम नही तोड़ने चाहिए। जो कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी-सघ को तोडे, उसको सफेद दूपित कपडे पहनाकर सघाराम से अतिरिक्त स्थान पर रखना चाहिए। इस प्रकार यह आज्ञा भिक्षु-सघ में और भिक्षुणी-सघ में प्रकट कर देनी चाहिए। इस प्रकार देवताओ का प्यारा वोला—"इस प्रकार की एक लिखित आज्ञा तुम्हारे पास कार्यालय में सुरक्षित रहनी चाहिए। ऐसी ही एक लिखित आज्ञा को

१ हुल्श, वही, भूमिका, पृ० १५-२३। मुकर्जी, वही, पृ० १४, १६९-२००; भडारकर, वही, पृ० २४०-४४, २९८-३२२।

२. हुल्श, दि इस्क्रिप्शस ऑव अशोक, पृ० १६१-६४। इसी स्तभ पर दो अन्य अभिलेख उत्कीर्ण हैं—एक अश्वघोष नामक किसी अज्ञात राजा का और दूसरा सम्मितीय शाखा के आचार्यों का।

उपासको (गृहस्थो) के पास रक्खो, ताकि वे उपासक भी प्रत्येक व्रत के दिन इन आज्ञा से अवगत होने के लिए आएँ। प्रत्येक उपवास के दिन नियमपूर्वक एक महामात्र व्रत-कर्म के लिए इस आज्ञा के विषय मे विश्वास दिलाने और स्वय समझने के लिए जाय। जहाँ तक तुम्हारा अधिकार हो वहाँ तक सब जगह इसी प्रकार की आज्ञा फैलाओ। इसी तरह से इनको सब सुरक्षित नगरो में और जिलो में फैलाओ।)

लुंबिनी का स्तभ उस स्थान पर लगा है जिसे भगवान् बुद्ध का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है।[1] अपनी तीर्थ-यात्रा में सम्राट् अशोक सर्वप्रथम लुंबिनी गए। वहाँ आचार्य उपगुप्त ने भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान की ओर सकेत करते हुए बताया कि हे महाराज यही भगवान् उत्पन्न हुए थे—

"अस्मिन् महाराज प्रदेशे भगवान् जात।"

उपगुप्त ने प्लक्ष का वह पेड भी दिखाया जिसके नीचे बुद्ध उत्पन्न हुए थे। अशोक ने उस पवित्र स्थान पर एक लाख मुद्राओ का दान किया और एक चैत्य तथा पाषाण-स्तभ का निर्माण कराया। स्तभ के ऊपर जो लेख खुदवाया गया वह इस प्रकार है—

लुंबिनी का स्तंभलेख

"देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसति वसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते। हिद बुधे जाते सक्य मुनीति। सिला विगडभी चा कालापित सिला थभे च उसपापिते। हिद भगव जातेति। लुमिनिगामे उबलिके कटे अठभागिये च।"[2]

(देवताओ के प्यारे बीस वर्ष से अभिषिक्त प्रियदर्शी राजा ने स्वय इस स्थान पर आकर उसका पूजन किया, क्योकि यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे। पत्थर की एक कृति (मूर्ति ?) बनवाई गई तथा एक पाषाण-स्तभ यहाँ खडा किया गया, इस बात को सूचित करने के लिए कि यहाँ बुद्ध पैदा हुए थे। लुंबिनी ग्राम का धार्मिक कर माफ किया गया और भूमिकर के रूप में आय का केवल आठवाँ भाग उससे लिया जायगा।)

यह लेख बडे महत्त्व का है। लुंबिनी में भगवान् बुद्ध के जन्म की जो अनुश्रुति

१. इस स्तंभ का पता डा० फुहरर ने १८९६ ई० में लगाया था। इसके एक वर्ष पूर्व फुहरर ने ही निगलीवावाले स्तभ की खोज की।

२ हुल्श, वही, पृ० १६४-६५।

प्रचलित है उसकी पुष्टि इस स्तभ-लेख से होती है। इस लेख के अक्षर बडे सुदर और कलापूर्ण हैं।

गुफा-लेख—अशोक ने बिहार में गया से सोलह मील उत्तर बराबर और नागार्जुनी पहाडियो की गुफाओ में भी लेख खुदवाए और उन्हें आजीवको को प्रदान किया। कुछ लेख अशोक के पौत्र दशरथ के भी हैं।

अशोक के उपर्युक्त लेखो की भाषा पाली है। विभिन्न स्थानो में जो लेख मिले हैं उनकी भाषा में प्रातभेद के कारण थोडा-बहुत अतर है। लेखो की भाषा सीधी-सादी है, जो सर्वसाधारण के समझने के लिए उपयुक्त है।[1] ये लेख दो प्रकार की लिपियो में हैं। शाहबाजगढी और मानसेहरा के लेख खरोष्ठी में हैं। यह लिपि उस समय उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित थी। शेष लेखो की लिपि ब्राह्मी है, जो उस समय पश्चिमोत्तर भाग को छोडकर प्राय सारे देश में प्रचलित थी। सिद्धपुर का लेख ब्राह्मी में होने पर भी उसके अत के कुछ अक्षर खरोष्ठी में लिखे गए हैं।

इन लेखो के द्वारा तत्कालीन धार्मिक एव सामाजिक स्थिति पर बडा प्रकाश पडता है। अशोक के राज्य-प्रबध, धर्मप्रचार तथा राजा और प्रजा के बीच सबधो की जानकारी के लिए ये अभिलेख स्वच्छ दर्पण की तरह हैं। भारत में ये सबसे प्राचीन लेख हैं जिन्हें एक शासक के द्वारा इतनी बडी मात्रा में देश के विभिन्न स्थानो में पाषाण पर उत्कीर्ण कराया गया।

यहाँ कालसी[2] की शिला पर लिखे हुए अशोक के लेखो का मूल पाली रूप हिंदी अनुवाद सहित दिया जाता है। यह लघु शिला यमुना के दाएँ कूल पर स्थित है। सबसे पहले इसका पता १८६० ई० में श्री फारेस्ट ने लगाया। उस समय शिला पर शताब्दियो की काली काई जमी हुई थी और अक्षर स्पष्ट नही दिखाई पडते थे। उसे साफ करने पर सारी चट्टान सफेद सगमरमर की तरह निकल आई।

इस शिला की विशेषता यह है कि इसपर अशोक के पूरे चौदह शिला-लेख खुदे

१ इन लेखो की रचना सभवत स्वय अशोक के द्वारा की गई थी।

२ यह स्थान उत्तर प्रदेश में देहरादून जिले की चकराता तहसील में है। मसूरी से यह स्थान लगभग १५ मील पश्चिम है। जिस शिला पर लेख खुदा है वह १० फुट लबी तथा १० फुट ऊँची है। नीचे के भाग की मोटाई ८ फुट है। लेख उत्कीर्ण करने के लिए शिला को चिकना किया गया है। अभिलिखित शिलाभाग की ऊँचाई ५ फुट तथा ऊपर उसकी चौडाई ५॥ फुट है। निचले भाग की चौडाई ७ फुट १०॥ इच हो गई है।

है। वे बहुत अच्छी दशा में आज तक विद्यमान हैं। शिला के दाईं ओर एक हाथी का रेखाचित्र बना है, जिसके नीचे 'गजतमे' (सर्वश्रेष्ठ हाथी) लिखा है। शिला के दरार-वाले तथा खुरदरे भाग को अलिखित छोड दिया गया है। नवें लेख तक के अक्षर छोटे हैं। दसवें से लेकर अगले लेखो के अक्षर बडे बनाए गए हैं। कही-कही वे प्रारभिक अक्षरो के आकार से तिगुने बडे हो गए हैं। लेखो का पिछला अश एक ही ओर न आ सकने के कारण चट्टान की दाईं ओर खोद दिया गया है।

पहला शिलालेख

"इय धमलिपि देवानपियेना पियदसिना लेखिता। हिदा नो किछि जिवे आलभितु पजोहितविये नो पि चा समाजे कटविये। बहुका हि दोसा समाजसा देवानपिये पियदसी लाजा दखति। अथि पि चा एकतिया समाजा साधुमता देवानपियसा पियदसिसा लाजिने पुले महानससि देवानपियसा पियदसिसा लाजिने अनुदिवस बहुनि पातसहसानि अलभियिसु सुपठाये। से इदानि यदा इय धमलिपि लेखिता तदा तिंनि येवा पानानि अलभियति दुवे मजूला एके मिगे। से पि चू मिगे नो ध्रुवे। एतानि पि चु तिनि पानानि नो अलाभियिसति।

(यह अभिलेख देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी[1] ने खुदवाया है। इस ससार में न तो कोई प्राणी मारा जाय, न बलि दी जाय और न समाज[2] किया जाय, क्योकि प्रियदर्शी (सबका भला चाहनेवाला) राजा ऐसे समाज में बहुत सी बुराइयाँ देखता है। लेकिन कुछ समाज ऐसे भी हैं जिनको देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा अच्छा समझता है। पहले देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में नित्य हजारो प्राणी मारे जाते थे। परतु अब जब से यह धर्मलेख लिखवाया गया है तब से तीन ही प्राणी मारे

१. अशोक के द्वारा इन लेखो में अपने लिए प्राय. 'देवान पिय पियदसि (खरोष्ठी—प्रियद्रशि) लाजा (राजा)' (सस्कृत-'देवाना प्रिय. प्रियदर्शी राजा') शब्दो का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य 'देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी (भला चाहनेवाला)' है। हाल में विंध्यप्रदेश के गुजर्रा नामक स्थान से प्राप्त अशोक के नए लघु-शिलालेख में 'देवानपियस पियदसिनो असोकराजस' शब्द आए हैं।

२. समाज ('समज्जा') से तात्पर्य ऐसे समारोहो से प्रतीत होता है जिनमें खान-पान, नाच-गाना, रास-रग आदि हुआ करते थे। उदाहरणार्थ वात्स्यायन-रचित 'कामसूत्र' में ऐसी गोष्ठियो तथा समारोहो के उल्लेख मिलते हैं।

जाते हैं—दो मोर[1] और एक हरिण। यह हरिण भी हमेशा के लिए नही है। आगे ये तीनो प्राणी भी नही मारे जायँगे।)

दूसरा शिलालेख

"सवता विजितसि देवानपियसा पियदसिसा लाजिने ये च अता अथा चोडा पडिया सातियपुतो केललपुतो तबपनि अतियोगे नाम योनलाजा ये चा अने तसा अतियोगसा सामता लाजानो सवता देवानपियसा पियदसिसा लाजिने दुवे चिकिसका कटा मनुसचिकिसा चा पसुचिकिसा चा। ओसधीनि मनुसोपगानि चा पसोपगानि चा अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। एवमेवा मुलानि चा फलानि चा अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। मगेसु लुखानि लोपितानि उदुपानानि चा खानापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसान।"

(देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के जीते हुए राज्य में सब जगह और सीमाप्रदेश की जातियो—जैसे चोल, पाड्य, सातियपुत्र और केरलपुत्र[2]—के राज्यो में, ताम्रपर्णी[3] (लका) तक और यवनराज (ग्रीक) अतियोक[4] तथा उसके जो निकटवर्ती राजा है उनके देशो में सब जगह देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्साओ का प्रबध किया है—मनुष्यो की और पशुओ की। जहाँ-जहाँ मनुष्यो के और पशुओ के उपयोग में आनेवाली औषधियाँ नहीं मिलती थी वहाँ-वहाँ सब जगह वे भिजवाई और लगवाई गई है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ मूल और फल नही थे वहाँ-वहाँ सब स्थानो पर मँगाए और लगवाए गए

तीसरा शिलालेख

"देवान पिये पियदसि लाजा हेव आहा। दुवाडसवसाभिसितेन मे इय

१. मयूर-मास को आयुर्वेद में बड़ा पौष्टिक बताया गया है। वाल्मीकि रामायण (२,९१,७०) के अनुसार यह राजाओं का प्रिय भोजन था।

२. ये चारों राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर धुर दक्षिण में थे।

३. पाली साहित्य में 'तबपनि' नाम लका या सिहल (सीलोन) के लिए मिलता है। लका की अनुश्रुतियों में अशोक तथा सिहल के तत्कालीन शासक देवानपिय तिस्स के बीच घनिष्ठ सबध होने का उल्लेख मिलता है।

४. यह सिल्यूकस का पौत्र तथा सीरिया का शासक था। इसका उल्लेख तेरहवें शिलालेख में भी हुआ है।

है। मनुष्यो और पशुओ के उपयोग के लिए रास्तो पर वृक्ष लगवाए और कुएँ खुदवाए गए हैं।)

आनपयिते। सवता विजितसि मम युता लजूके पादेसिके पचसु पचसु वसेसु अनुसयान निखमतु एताये वा अठाये इमाय धमनुसथिया यथा अनाये पि कमाये। साधु मातपितिसु सुमुसा मितसयुतनातिक्यान चा बभनसमनान चा साधू दाने पानान अनालभे साधु अपवियाता अपभडता साधू। पलिसा पि च युतानि गननसि अनपयिसति हेतुवता चा वियजनते चा।"

(देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने इस तरह कहा—बारह वर्ष से अभिषिक्त हुए मैंने यह आज्ञा दी। मेरे सारे राज्य में युक्त, राजुक तथा प्रादेशिक[1] कर्मचारी हर पाँचवें वर्ष इस धर्म-शिक्षा के लिए और दूसरे कामो के लिए भी दौरे में जायँ—माता-पिता की सेवा करना अच्छा है, मित्रो, जान-पहचानवालो, नातेदारो, ब्राह्मणो और श्रमणों (भिक्षुओ) को दान देना अच्छा है। जीवहिंसा न करना अच्छा है। कमखर्ची और कम सामान जोडना अच्छा है। (महामात्रो की) परिषद् भी इसी प्रकार का आदेश युक्तो को देगी कि वे नियमानुसार युक्तिसगत रूप में अपने कर्तव्य का पालन करें।)

चौथा शिलालेख

"अतिकत अतल बहुनि वससतानि वधिते वा पानालभे विहिसा चा भुतान नातिना असपटिपति समनबभनान असपटिपति। से अजा देवानपियसा पियदसिने लाजिने धमचलेनना भेलिघोसे अहो घमघोसे विमनदसना हथिनि अगिकधानि अनानि चा दिव्यानि लुपानि दसयितु जनस। आदिसा बहुहि वसतेहि ना हुतपुलुवे तादिसे अजा वढिते देवानपियसा पियदसिने लाजिने धमनुसथिये अनालभे पानान अविहिसा भुतान नातिन सपटिपति बभनसमनान सपटिपति माता-पितिसु सुसुसा। एसे चा अने चा बहुविधे धमचलने वधिते। वधियिसति चेवा देवानपिये पियदसि लाज इम धमचलन। पुता च क नताले चा पनातिक्या चा देवानपियसा पियदसिने लाजिने पवढयिसति चेव धमचलन इम अवाकप धमसि सीलसि चा चिठिनु धम अनुसासिसति। एसे हि सेठे कम अ धमानुसासन। धमचलने पि चा नो होति असिलसा। से इमसा अथसा वधि अहिनि चा साधु। एताये अथाये इय लिखिते इमसा अयसा वधि युजतु हिनि

१. 'युक्त', 'राजुक' तथा 'प्रादेशिक'—ये तीनो उच्च सरकारी कर्मचारियो की सज्ञाएँ थीं।

च मा अलोचयिसु। दुवाडसवगाभिसितेना देवानपियेना पियदशिना लाजिना लेखिता।'

(बहुत समय बीत गया कि सैकडो वर्षों तक प्राणियो की बलि, जीवो की हिंसा, नातेदारो के साथ बुरा बर्ताव तथा ब्राह्मण और श्रमणो के आदर का अभाव बढता ही गया। परतु आज देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरी का शब्द, (युद्ध के बदले) धर्म की घोषणा बन गया है। इससे लोगो को दिव्य रथो और हाथियो, अग्निस्कध (रोशनी) आदि और कई अन्य प्रकार के दिव्य रूपो के दर्शन होने लगे है। जैसा कि सैकडो वर्षों से पहले कभी नही हुआ था, वैसा, आज देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा की धर्मशिक्षा से, पशु-हत्या का बद होना, जीव-अहिंसा, सबधियो, ब्राह्मणो और श्रमणो का सत्कार, मातापिता की सेवा तथा अन्य कई तरह के धर्माचरणो का प्रचार बढा है। देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा इसको इसी तरह बढाता रहेगा। देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र भी इस धर्माचरण को सृष्टि के अत तक बढाते रहेंगे तथा धर्म और शील का पालन करते हुए धर्म का उपदेश करेंगे। यह धर्म का प्रचार सर्वोत्तम कार्य है। शील से वर्जित पुरुष के लिए धर्माचरण असभव है। इसकी रक्षा और वृद्धि करना अच्छा है। इसीलिए यह लिखा गया है कि (मेरे उत्तराधिकारी) इसकी वृद्धि में लगे रहें और इसकी अवनति को न देखें। बारह वर्ष से अभिषिक्त हुए देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने इसे लिखवाया।)

पाँचवाँ शिलालेख

"देवानपिये पियदसि लाजा अहा। कयाने दुकले। ए आदिकले कयानसा से दुकल कलेति। से ममया बहु कयाने कटे। ता ममा पुता चा नताले चा पल चा तेहि ये अपतिये मे अवाकप तथा अनुवटिसति से सुकट कछति। ए चु हेता देस पि हापयिसति से दुकट कछति। पापे हि नामा सुपदालये। से अतिकत अतल नो हुतपुलुव धममहामता नामा। ते दसवसाभिसितेना ममया धममहामाता कटा। ते सवपासडेसु वियापटा धमाधिथानाये चा धमवढिया हिदसुखाये वा धमयुतसा येनकबोजगधालान ए वा पि अने अपलता। भटमयेसु बभनिभेसु अनथेसु वुधेसु हिदसुखाये धमयुताये अपलिबोधाये वियपटा ते। बधनबधसा पटिविधानाये अपलिबोधाये मोखाये चा एय अनुबधा पजाव ति वा कटाभिकाले ति वा महालके ति वा वियापटाते। हिदा बाहिलेसु चा नगलेसु सवेसु ओलोधनेसु भातिन च ने भगिनिना ए वा पि अने नातिक्ये सवता वियापटा। ए इय

धमनिसिते ति वा दानसुयुते ति वा सवता विजितसि ममा धमयुतसि वियपटाते धममहामता। एताये अठाये इय धमलिपि लेखिता चिलथितिक्या होतु तया च मे पजा अनुवततु।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला—भलाई कठिनता से होती है। जो मनुष्य भलाई प्रारभ करता है वह बडा कठिन काम करता है। मैंने वहुत भलाई की है। इसलिए यदि मेरे पुत्र, पौत्र और उनके वाद के मेरे वशज कल्प के अत तक उसका अनुकरण करेंगे तो वे पुण्य करेंगे। जो इसके थोडे से अश की भी हानि करेंगे वे पाप करेंगे। पाप को निश्चय ही नष्ट कर देना चाहिए। विगत समय मे धर्म महामात्र[1] नही होते थे। तेरह वर्ष से अभिषिक्त मेरे द्वारा धर्ममहामात्र नियुक्त किए गए है। वे धर्म की रक्षा और वृद्धि के लिए तथा धार्मिक मनुष्यो की भलाई एव सुख के लिए सभी मतानुयायिओ के वीच नियुक्त किए गए हैं। वे यवनो, कवोजो, गवार-निवासियो, तथा अन्य लोगो में, जो अपरात[2] के निवासी है, नियुक्त किए गए हैं। सिपाहियो, उनके सरदारो, ब्राह्मण सन्यासियो एव गृहस्थो, अनार्यों और वृद्धो के हित-सुख के लिए तथा धर्मवालो की रक्षा के हेतु उनकी नियुक्ति की गई है। (धर्ममहामात्रो का) कर्तव्य राजकीय अनुदानो को देखना तथा अकारण वधन में पडे हुए भारग्रस्त, दुखी वा वृद्धो को छुटकारा देना है। इसीलिए वे सभी जगह नियुक्त हैं—मेरे अत पुरो में, मेरे भाइयो, वहनो तथा अन्य सवधियो के यहाँ, चाहे वे पाटलिपुत्र मे रहते हो या वाहर के नगरो में। मेरे राज्य में प्रत्येक स्थान पर ये (धर्ममहामात्र) उन लोगो के सपर्क में है जो धर्मवान् हैं, धर्म की प्रतिष्ठा करते है और दानदाता है। इसीलिए यह धर्मलिपि लिखा दी गई कि यह चिरस्थायी हो और मेरी प्रजा इस मार्ग का अनुवर्तन करे।)

छठा शिलालेख

"देवानपिये पियदसि लाजा हेव आहा। अतिकत अतल नो हुतपुलुवे सव कल अठकमे वा पटिवेदना वा। से ममया हेव कटे। सव काल अदमानसा मे ओलोधनसि गभागालसि वचसि विनितसि उयानसि सवता पटिवेदका अठ जनसा वेदेतु मे। नवता चा जनसा अठ कछामि हक। यपि चा किछि मुखते आनपयामि हक दापक वा

१ धर्म का प्रचार करनेवाले उच्च राज्याधिकारी।
२. अपरात से तात्पर्य संभवत भारत के पश्चिमी तट से है।

सावक वा ये वा पुना महामतेहि अतियायिके आलोपिते होति तायेठाये विवादे निरनि वा सत पलिसाये अनतलियेनापटि विये मे सवता सव काल। हेव आनपयिते ममया। नथि हि मे दोसे उठानमा अठसतिलनाये चा। कटवियमुते हि मे सवलोकहिते। तमा चा पुना एसे मुले उठाने अठसतिलनाये चा। कटवियमुते हि मे सवलोकहितेना य च किछि पलकमामि हक किति भुतान अननिय येह हिद च कानि सुखायामि पल्त चा स्वग आलाधयितु। से एतायेठाये इय धमलिपि लेखिता चिलठितिक्या होतु तथाच मे पुतदाले पलकमातु सवलोकहिताये। दुकूले चु इय अनता अगेना पलकमेना।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा इस प्रकार बोला—बहुत समय बीत गया, पर पहले हर समय कार्य करने और विवरण (रिपोर्ट) देने का रिवाज नही था। अत मैंने ऐसा किया कि प्रत्येक समय और स्थान पर—चाहे मैं भोजन करता होऊँ, या अत पुर में, एकातगृह में, गोचर भमि में,[1] घोडे की पीठ पर या क्रीडोद्यान मे होऊँ—सूचना-वाहक प्रजा-सबधी खबरें मुझसे निवेदन कर सकते है, क्योकि मैं हर समय प्रजा का ही कार्य करता हूँ। और जो कुछ मौखिक दान की या घोषणा करने की आज्ञा मैं देता हूँ तथा विशेष आवश्यकता पडने पर महामात्र लोग जो घोषित करते है, यदि उसके सबध में परिषद् में कोई विरोध या विवाद उपस्थित हो तो उसकी सूचना मुझे शीघ्र हर समय और हर स्थान पर दी जाय, ऐसी मेरी आज्ञा है। मुझे अपने प्रयत्नो और कार्यों से सतोष नही होता। सभी का हित करना ही मेरा सर्वोच्च कर्तव्य है। उसका मूल यह है कि जुटकर प्रयत्न किया जाय और कार्य की पूर्ति की जाय। सबकी भलाई से बढकर दूसरा काम नही है। जो भी थोडा उद्योग मैं करता हूँ वह प्राणियो से उऋण होने के लिए और कुछ को इस लोक में सुखी करने तथा परलोक में स्वर्ग प्राप्ति के लिए ही करता हूँ।

इसी हेतु यह धर्मलेख लिखवाया है कि यह बहुत समय तक रहे और मेरे पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र इसका पालन कर सब लोगो के हित के लिए उद्योग करें। ऐसा बिना पूर्ण प्रयत्न के सफल नही हो सकता।)

१ इस लेख में 'वच' शब्द 'व्रज' के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। 'व्रज' का प्रयोग प्राचीन साहित्य में प्राय. गोचर-भूमि तथा पशुओं के गोष्ठ (बँधने के स्थान) के लिए मिलता है। यहाँ 'गोचरभूमि' अर्थ अधिक सगत है।

सातवाँ लेख

"देवानपिये पियदसि लाजा सवता इछति सवपासड वसेवु। सवे हि ते सयम भावसुधि चा इछति । जने चु उचावुचाछदे उचावुचलागे । ते सव एकदेस पि कछंति। विपुले पि चु दाने असा नथि सयमे भावसुधि किटनाता दिढभतिता चा निचे वाढ।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब जगह सब धर्मावलबी रहें, क्योंकि वे सब ही इद्रियनिग्रह और भाव की शुद्धि चाहते हैं। मनुष्य भिन्न-भिन्न रुचि और आकाक्षा के होते हैं। उनमें से कुछ (अपने कर्तव्य का) पूरा और कुछ एक भाग करेंगे। जिनके पास दान के लिए बहुत धन नही है वे भी यदि सदा सयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढभक्ति रखें तो अच्छा हो ।)

आठवाँ लेख

"अतिकत अतल देवानपिया विहालयात नाम निखमिसु । हिदा मिगविया अनानि चा हेडिसाना अभिलामानि हुसु। देवान पिये पियदसि लाजा दसवसाभिसिते सत निखमिथा सबोधि। तेनता धमयाता। हेता इय होति समनबभनान दसने चा दाने च वुधान दसने च हिलन पटिविधाने चा जानपदसा दसने धमनुसथि चा धमपलिपुछा चा ततोपया। एसे भुये लाति होति देवानपियसा पियदसिसा लाजिने भागे अने।"

(समय बीत गया जब कि देवताओ के प्यारे (राजा लोग) विहार के लिए यात्रा में जाते थे। उसमें शिकार और इसी प्रकार के दूसरे आमोद-प्रमोद होते थे। दश वर्ष से अभिषिक्त देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा सबोधि (यात्रा) के लिए निकला। इसीलिए यह धर्मयात्रा की गई। इसमें ब्राह्मणो और भिक्षुओ के दर्शन होते हैं, उनको दान दिया जाता है, वृद्धो के दर्शन होते हैं, उनको सुवर्ण दान दिया जाता है। जनपद-वासियो से मिलने, उनको धर्मोपदेश देने तथा धर्मसबधी पूछताछ करने का समय मिलता है। देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा इन आनंदप्रद धर्मयात्राओ को अपना अहोभाग्य समझता है।)

नवाँ लेख

"देवानपिये पियदसि लाजा आहा। जने उचावुच मगल कलेति आवाधसि अवाहसि विवाहसि पजोपदाने पवासमि एताये अनाये चा एदिसाये जने वहु मगल कलेति। हेतु

च अवकजनियो वहु चा वहुविध चा खुदा चा निलथिया चा मगल्ल कलति। मे कटवि चेव सो मगले। अपफले चु खो एसे। इय चु खो महाफले चे धममगले। हेता इय दासभटकसि सम्यापटिपति गुलुना अपचिति पानान सयमे समनवभनान दाने एमे अने चा हेडिसे। धममगले नामा। से वतविये पितिना पि पुतेन पि भातिनापि सुवामिकेन पि मितसयुतेना अव पटिवेसियेना पि इय साधु इय कटविये मगले आव तमा अथमा निवुतिया इम कछामि ति। ए हि इतले मगले ससयिक्ये से। सिया व त अठ निवटेया सिया पुना नो। हिदलोकिके चेव से। इय पुना धममगले अकालिक्ये। हचे पि त अठ नो निटेति हिद अठ पलत अनत पुना पवमति। हचे पुन त अठ निवतेति हिदा ततो उभयेस लधे होति हिद चा से अठे पलत चा अनत पुना पमवति तेना धममगलेना।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला—मनुष्य कई तरह के मगल कार्य करता है। बीमारी मे, निमत्रण में, विवाह मे, पुत्र होने पर, वाहर जाने के समय और ऐसे ही दूसरे अवसरो पर वहुत मगल कार्य किये जाते है। इन अवसरो पर माताएँ वहुत से, कई तरह के, तुच्छ और निरर्थक मगल करती है। मङ्गल-कार्य तो अवश्य करने चाहिए। परतु ये थोडे फल को देनेवाले होते हैं। किन्तु धर्म-सवधी मगल वहुत फल को देते हैं। क्योकि इनमें दासो (गुलामो) और नौकरो के साथ अच्छा वर्ताव किया जाता है, गुरुओ की पूजा की जाती है, प्राणियो के प्रति सयम (अहिंसा) किया जाता है, भिक्षुओ और ब्राह्मणो को दान दिया जाता है। ये और ऐसे ही अन्य कार्य धर्म-मगल है। इसका उपदेश पिता, पुत्र, भाई, मालिक, मित्र और जान-पहचानवाले के द्वारा भी किया जाना चाहिए कि 'यह श्रेष्ठ है, यह धर्ममगल उस कार्य की समाप्ति तक करना चाहिए। ऐसा मै करूँगा।' इससे भिन्न दूसरे प्रकार के सभी मगल सशयपूर्ण होते है। उनसे कार्य की सिद्धि हो या न हो। वे इसी लोक के लिए होते है। परतु धर्ममगल हर समय के लिए उपादेय है। यदि इस लोक में कार्य की सिद्धि न करे तो भी वह परलोक में बहुत फल देता है। और यदि इस लोक मे भी उद्देश्य की सिद्धि कर दे तो इस धर्ममगल से दोनो लाभ हो जाते है—इस लोक में कार्य-सिद्धि होती है और परलोक में अनत पुण्य प्राप्त होता है।)

दसवाँ लेख

"देवानपिये पियदपा लजा यसो वा किति वा नो महथावा मनति अनता य पि यसो वा किति वा इछति तदत्वाये अयतिये चा जने धमसुसुपा सुसुपातु मेति धमवत वा अनुविधियतु ति। धतकाये देवानपिये पियदसि लाजा यसो वा किति वा इछ। अ चा

किछि लकमति देवनपिये पियदपि लजा त पव पालतिक्याये वा किति सकले अपपलापवे पियाति ति। एपे चु पलिमवे ए अपुने। दुकले चु खो एपे खुदकेन वा वगेना उपटेन वा अनत अगेना पलकमेना पव पलितिदितु। हेत चु खो उपटेन वा दुकले।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति को विशेष महत्त्व का नही समझता। जो कुछ यश और कीर्ति वह चाहता है वह केवल इसलिए कि वर्तमान मे और आगे भी लोग धर्म-वाक्यो को सुनें और धर्मव्रत का अनुकरण करे। इसीलिए देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति की इच्छा करता है। जो कुछ उद्योग देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा करता है वह सब परलोक के लिए ही है, जिससे सब लोग अधोगति से बच जायें। यह अधोगति ही पाप है। परन्तु बिना प्रबल उद्योग के और बिना सब कुछ त्याग किए छोटे या बडे आदमी के लिए यह कार्य करना बडा कठिन है। बडे आदमी के लिए तो यह कार्य अत्यत ही दुष्कर है।)

ग्यारहवाँ लेख

"देवानपिये पियदषि लाजा हेव हा। नथि हेडिये दाने अदिप धमदाने। धमपविभगे। धमपवधे। तत एपे दापभटकपि। पम्यापटिपति मातापितिपु पुपषा। मितप, थुतनातिक्यान समनावभनाना दाने पानान अनालभे। एपे क्तवियें पितिमा पि पुतेन पि भातिना पि पवामिकयेन पि मितशयुताना अवा पटिवेपियेना इय पाधु इयं कटविये। शे तथा कलत हिदलोकिक्ये च क आलवे होति पलत चा अनत पुना पशवति तेना धमदानेना।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा इस प्रकार बोला—धर्मदान (धर्मोपदेश) करने के समान कोई दान नही और न धर्म के साथ परिचय या सबध करने के समान कोई परिचय या सबध है। इसलिए दास (गुलाम) और नौकरों के साथ उचित बर्ताव करना, माँ-बाप की सेवा करना, मित्रो, जान-पहचानवालो, रिश्तेदारो, ब्राह्मणो और श्रमणो (भिक्षुओ) को दान देना तथा जीवो की हिंसा न करना उचित है।

'यह श्रेष्ठ है, यह करना चाहिए'— ऐसा पिता को, पुत्र को, भाई को, मालिक को, मित्र को, जान-पहिचानवाले को और पड़ोसी को भी कहना चाहिए। ऐसा करनेवाला इस लोक को सुधारता है और उस धर्मदान से परलोक मे भी अटूट पुण्य प्राप्त करता है।)

बारहवाँ लेख

"देवानापियं पियदपि लाजा पावापापडानि पवजितानि गहथानि वा पुजेति दानेन विविधये च पुजाये। नो चु तथा दाने वा पुजा वा देवानपिये मनति अथा कित शालावढि शियाति शवपाशडान। शालावढि ना वहुविधा। तश चु इन मुले अ वचगुति किति ति अतपशड वा पुजा वा पलपाशडगलहा व नो शया अपकलनशि लहका वा शिया तगि तशि पकलनशि। पुजेतविय चु पलपाशडा तेन तेन अकालन। हेव कलत अतपाशडा वढ वढियति पलपाशड पि वा अपकलेति। तदा अनथ कलत अतपाशड च छनति पल-पाशड पि वा अपकलेति। ये हि केछ अतपाशड पुनाति पलपापड वा गलहति। षवे अतपापडभतिया वा किति। अतिपाषड दिपयेम पे च पुना तथा कलत। बाढतले उपहति अतपाषडषि। षमवाये वु पाधु किति। अनमनपा धम। पुनेयु चा पुषुपेय चाति। हेव हि देवानपियषा इछा किति सवपापड। वहपुता चा कया-नागा च हुवेयुति। ए च तत तत पपना तेहि वतविये। देवानापिये नो तथा दान वा पुजा वा मनति। अथ किति पालावढि शिया पवपाषडति। वहुका चा एतायाठाचे वियापटा धममहामाता इथिधियखमहामाता वचभुमिक्या अने वा निक्याया। इय च एतिषा फले। य अतपापडवढि चा होति धमप चा दिपना।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालो को, सन्यासियो को और गृहस्थो को दान से और अनेक प्रकार के सत्कार से पूजता (आदर करता) है। परतु देवताओ का प्यारा सब धर्मवालो की तात्त्विक उन्नति के बराबर किसी भी दान या पूजा को नही समझता। यह तात्त्विक उन्नति कई प्रकार की है। पर इसका मूल वाणी का सयम है, क्योकि इससे अकारण अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निंदा नही होती। ऐसा किसी विशेष अवसर पर ही किया जा सकता है। पर ऐसे अवसर पर दूसरे धर्म-वालो के मतो का आदर करना चाहिए। ऐसा करने से (मनुष्य) अपने ही पथ की उन्नति करता है और दूसरे पथो का भी उपकार करता है। इससे विपरीत करने से अपने पथ की हानि होती है और दूसरो की भी। यदि कोई अपने पथ की भक्ति के कारण या अपने पथ की उन्नति की इच्छा से अपने धर्मवालो को पूजता है और दूसरे धर्मवालो की बुराई करता है तो ऐसा करने से वह अपने ही पथ पर कठोर प्रहार करता है। अत मेल-मिलाप ही अच्छा है, क्योकि इससे अन्य धर्मानुयायी भी दूसरो के धर्म को सुन सकते है। देवताओ के प्यारे (राजा) की ऐसी इच्छा है कि सब पथवाले पूरी तौर से जानकार और भले हो। प्रत्येक धर्म के माननेवालो से कहना चाहिए--'देवताओ

का प्यारा (राजा), सव धर्मवालो की तात्त्विक उन्नति तथा व्यापक दृष्टिकोण के वरावर किसी दान या पूजा को नही मानता।' इसी के लिए वहुत से धर्ममहामात्र (वर्म के उपदेश करनेवाले अधिकारी), स्त्री-अध्यक्ष महामात्र (स्त्रियो की देखभाल करनेवाले अधिकारी), व्रज भूमिक (गोचर भूमि के अविकारी) तथा दूसरे अधिकारी वर्ग नियत किए गए हैं। इसका फल अपने-अपने पथ की वृद्धि और धर्म की उन्नति है।)

तेरहवाँ लेख

"अठवषा भिपितपा देवानंपियप पियदपिने लाजिने कलिग्या विजिता। दियढमिते पानपतपहशे ये तफा अपवुढे शतपहपमिते तत हते वहुतावतके वा मटे। ततो पछा अवुना लघप कलिग्येपु तिवे घमवाये वमकामता वमानुपथि चा देवानपियपा। पे अथि अनुपये देवानपियपा विजिनितु कलिग्यानि। अविजित हि विजिनमने। ए तता वव वा मलने वा अपवहे वा जनषा। पे वाढ वेदनियमुने गुलुमुते चा देवानपियपा। इय पि चु ततो गलुमततले देवानपियषा य तता वपति वाभना व पमवा अने वा पाशड गिहिथा वा येशु विहिता एष अगभुतिपुपुपा माता पितिपुषूपा गलुपुषा मित र युतपहायनातिकेपु दाशभटकपि पम्यापटिपति दिढभतित तेप। तता होति उपवाते वा वधे वा अभिलतान वा। विनिखमने येप वा पि पुविहितान पिनेहे अविपहिने ए तान मितशथुतपहायनातिक्य वियपन पापुनात तता पे पि तानमेवा उपघाते होति। पटिभागे चा एप पवमनुपान गुलुमते चा देवानपियपा। नथि चा पे जनपदे यता नथि इमे निकाया आनता योनेपु वह्मने चा पमने चा नथि। चा कुवापि जनपदपि यता नथि मनुपान एकतलषि पि पापडपि नोनाम पपादे। पे अवतके जने तदा कलिंगेपु लघेषु हते चा मटे चा अपवुढे चा ततो पते भागे वा पहपभागे वा अज गुलुमते वा देवानपियपा।

'नेयु। इछ ' पवभु पयम पमचलिय मदव ति। इय वु मु ' देवान पियेपा ये वमविजये। पे च पुना लवे देवानपि ' च पवेपु च अतेपु अपपु पि योजनपतेपु अत अतियोगे नाम योनलाजा पल चा तेना अतियोगेना चतालि। लजाने तुलमये नाम अतेकिने नाम मका नाम अलिक्यपुदले नाम निच चोडपडिया अव तवपंनिया हेवमेवा। हेवमेवा हिदा लाजविशवपि योनकवोजेपु नाभकनाभपतिपु भोजपितिनिक्येपु अवपालदेपु पवता देवानपियपा घमानुपथि अनुवतति। यत पि दुता देवानपियसा नो यति ते पि सुतु देवानपिनय घमवुत विवन घमानुसथि घंमं अनुविधियअ

अनुविधियिसञ चा। ये से लधे एतकेना होति सवता विजये पितिलमे से। गधा सा होति पिति पिति धमविजयपि। लहुका वु खो सा पिति। पालतिक्यमेवे महफला मनति देवेनपिने। एताये चा अठाये इय धमलिपि लिखिता किति पुता पपोता में असु नव विजय म विजयतविय मनिपु पयकपि नो विजयपि खति चा ल। हुदडता चा लोचेतु तमेव चा विजय मनतु ये धमविजये। पे हिदलोकिक्य पललोकिये। पवा च क निलति होतु उयामलति। पा हि हियलोकिक पललोकिक्या।"

(आठ वर्ष से अभिषिक्त देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने कलिंग को विजय किया। इसमे डेढ लाख मनुष्य पकडे गए, एक लाख मारे गए और इससे भी अधिक नष्ट हो गए। उसके बाद अब जीते हुए कलिंग देश में देवताओ के प्यारे राजा के द्वारा धर्म का सम्यक् पालन, धर्मकार्य तथा धर्मोपदेश किया जाता है। देवताओ के प्यारे को कलिंग जीतने का परिताप है। जब एक अविजित राज्य को जीता जाता है तब युद्ध में मानवो का वध, मृत्यु और बधन होता है। यह पीडाजनक है, अत देवताओ का प्यारा इसे बहुत दु खद एव सताप-दायक समझता है। पर इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि वहाँ (विजित देशो में) ऐसे ब्राह्मण, भिक्षु, अन्य पथवाले या गृहस्थ रहते है जिनपर बडो और वृद्धो की सेवा का, माता-पिता की सेवा का, गुरुओ की सेवा का तथा मित्रो, जान-पहचानवालो, सहायको, सबधियो, दासो और नौकरो के प्रति अच्छे बर्ताव और श्रद्धा का उत्तरदायित्व रहता है। उनका युद्ध में नाश या क्षति होती है, अथवा उन्हें अपने प्रिय लोगो से पृथक् होना पडता है। साधारण जीवन निर्वाह करनेवाले भलेमानुसो के प्यारे मित्र, जान-पहचानवाले, सहायक तथा सबधी दु ख में पडते है। वह दु ख भी उन्ही भलेमानुसो का क्लेश बन जाता है। उन भद्र-पुरुषो के भाग्य का यह प्रतिघात देवताओ के प्यारे के लिए बडे सताप का विषय है।

यवनो के अतिरिक्त[1] ऐसा कोई अन्य राज्य नही है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण साधु न रहते हो। इन राज्यो में ऐसा कोई भी स्थान नही जहाँ के निवासियो का किसी-न-किसी धर्म में अनुराग न हो। कलिंग में जितने आदमी मारे गए नष्ट हुए और पकडे गए उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी अब देवताओ के प्यारे के लिए असह्य है। बुराई करनेवाला भी यदि क्षमा के योग्य है तो उसे क्षमा-प्रदान करना ही देवताओ के प्यारे

१. यवन-राज्यों से तात्पर्य भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित यूनानी (ग्रीक) राज्यों से है। वहाँ की धार्मिक एव सामाजिक स्थिति भारत से भिन्न थी।

को अभीष्ट है। जगली के निवासियो को भी क्षमा किया जाता है जो देवताओ के प्यारे के शासन में है। उन लोगो को खेद प्रकाश करनेवाले देवताओ के प्यारे का महान् सदेश बताया जाता है। इससे वे लोग (अपने दुष्कर्मों के लिए) लज्जित होंगे और मृत्यु से बच जायेंगे। देवताओ का प्यारा सब प्राणियो का क्षेम, सयम (आत्म-निग्रह), समान भाव तथा सुख चाहता है।

देवताओ के प्यारे के द्वारा धर्मविजय सब विजयो में मुख्य समझी जाती है। यह विजय देवताओ के प्यारे के द्वारा यहाँ प्राप्त की गई है तथा सीमावर्ती राज्यो में छ सौ योजन पर्यंत भी (प्राप्त की गई है), जहाँ अतियोक नामक यवन राजा[1] है। और उस अतियोक के आगे जो चार शासक हैं—तुरमय, अंतिकिन, मग तथा अलिकसुंदर[2]—उनके राज्यो में भी। उसी प्रकार नीचे चोड, पाड्य तथा ताम्रपर्णी[3] तक में। और इसी भांति राजाओ के शासनातर्गत यवन, कबोज, नाभक, नाभपति, भोज, पितिनिक, आध्र तथा पुलिद लोगो में सर्वत्र देवताओ के प्यारे की धर्मसबधी शिक्षाओ का पालन होता है। जहाँ देवताओ के प्यारे के दूत नही जाते वहाँ के लोग भी देवताओ के प्यारे के धर्म-प्रवचनो, नियमो और आज्ञाओ को सुनकर धर्म का पालन करते हैं और करते रहेंगे।

इस प्रकार सब स्थानो पर जो धर्मविजय प्राप्त होती है वह प्रेमभाव को उत्पन्न करनेवाली है। धर्म-विजय के द्वारा वह प्रेमभाव मुझे प्राप्त हुआ है। वह प्रेम देखने में साधारण हो सकता है, परतु देवताओ का प्यारा उसे परलोक में निश्चय ही महान् फलदायक मानता है।

इसीलिए यह धर्मलिपि लिखाई गई है कि मेरे पुत्र और प्रपौत्र किसी दूसरी नवीन विजय को प्राप्त करने की चेष्टा न करें। यदि वे किसी विजय को पसद ही करें तो वह

१. यह अतियोक (Antiochos) सीरिया का यूनानी शासक ऐंटिओकास द्वितीय (ई० पू० २६१-२४६) था। इसका उल्लेख दूसरे शिलालेख में भी हुआ है।

२. ये चारो भी ग्रीक (यूनानी) शासक थे। तुरमय (Ptolemy II, Philadelphos) मिस्र का शासक (ई० पू० २८५-२४७) था। अंतिकिन (Antigonas Gonatas) मेसीडोनिया का राजा (ई० पू० २७८-२३९) था। मग (Magas) मिस्र के पश्चिम में राज्य करता था (समय ई० पू० ३००-२५८) तथा अलिकसुंदर (Alexander) एपीरस का शासक (ई० पू० २७२-२५८) था।

३. चोड और पांड्य भारत के धुर दक्षिण के राज्य थे। ताम्रपर्णी से तात्पर्य सिहल या लंका से है।

तमा एव लघु दड होना चाहिए। और उन्हें यह समझना चाहिए कि जो धर्मविजय है वही वास्तविक विजय है। वह इस लोक में तथा परलोक में लाभकारी है। धर्म की प्रीति ही शासन की वास्तविक प्रीति है। वह इस लोक और परलोक के लिए हितकारी है।)

चौदहवाँ लेख

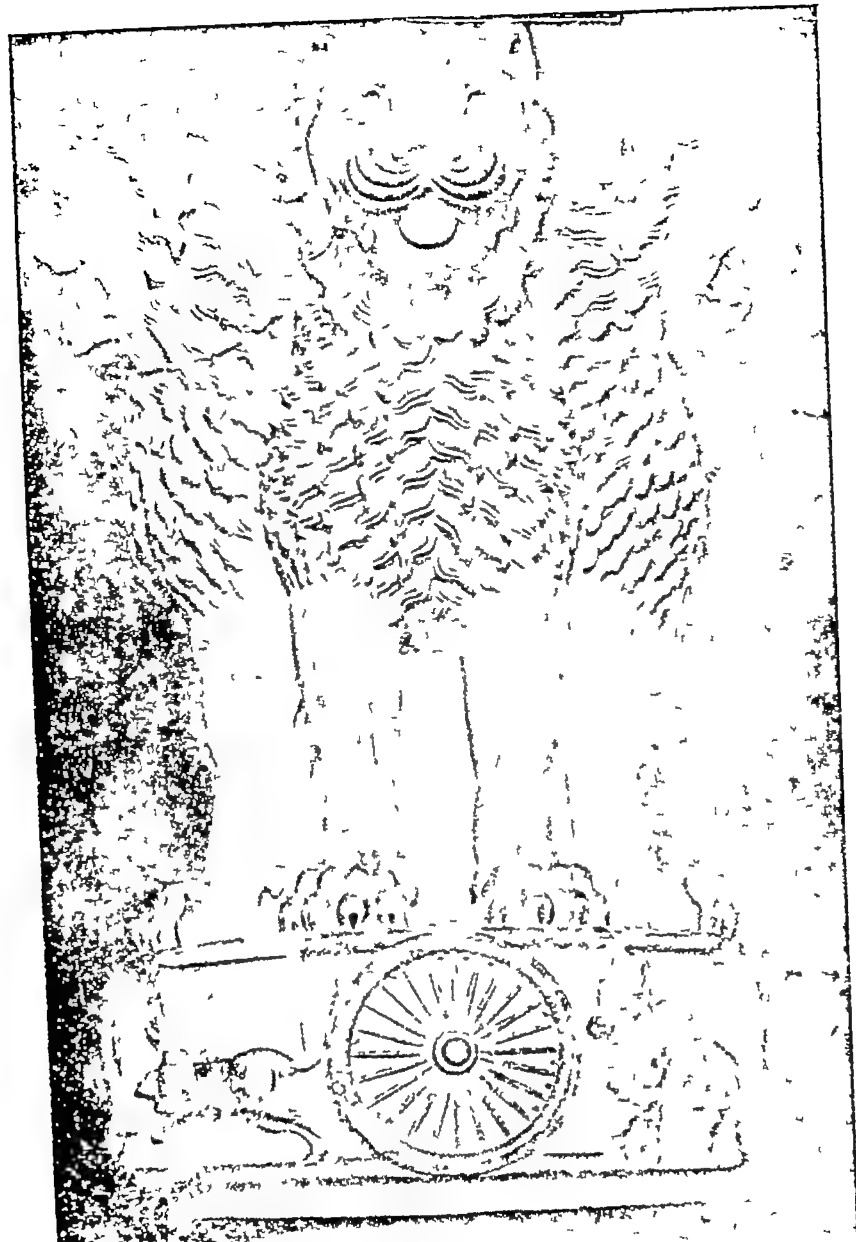
"इय धमलिपि देवानपियेना पियदसिना लजिना लिखापिता अथि येवा सुखितेना अथि माझमेना अथि वियटेना। नोहि सवता सवे घटिते। महालके हि विजिते बहु च लिखिते लेखापेशामि चेव निक्य। अथि चा हेता पुन पुना लपिते तप तपा अयपा मधु-लियाये येन जने तथा पटिपजेया। पे पाया अत किछि असमति लिखिते दिपा वा पखेये कालन वा अलोचयितु लिपिकलपलाघेन वा।"

यह धर्मलेख देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने लिखवाया है, कही सक्षेप से, कही मध्यम भाव से और कही विस्तार से। क्योकि सब स्थानो पर सबकी आवश्य-कता नही है। मैंने बहुत बडा भाग जीता है। बहुत-सा लिखवाया है और आगे भी बहुत-सा लिखवाता रहूँगा। इसमें विषय की मधुरता के कारण बहुत-सी बातें बार-बार लिखी गई है, जिससे लोग उन्हें प्रयोग मे लाएँ। यदि कही कुछ अधूरा लिखा गया हो, तो ऐसा स्थान-विशेष के कारण या कुछ छूट जाने के कारण अथवा लेखक की त्रुटि के कारण समझा जाय।)

शब्दानुक्रमणिका

प

ह



फलक १

सारनाथ मे अशोक-स्तम्भ के ऊपर का ओपयुक्त शीर्ष (परगहा) जिस पर सिंहो तथा अन्य पशुओ का कलापूर्ण चित्रण है। ई० पूर्व तीसरी शती।



फलक २

अभयमुद्रा मे बुद्ध की सर्वांगपूर्ण पूर्ण मूर्ति, जिसकी चौकी पर ई० दूसरी शती का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। मथुरा शैली की, लाल बलुए पत्थर की प्रतिमा, अहिच्छत्रा (जि० बरेली) मे प्राप्त। (राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली)



फलक ३

बाएँ हाथ में अमृत-घट लिये हुए प्रभामंडल सहित बोधिसत्व मैत्रेय की प्रतिमा।
समय ई० तीसरी शती, मथुरा शैली, अहिच्छत्रा से प्राप्त।
(राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)



फलक ४

धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा मे स्थित बुद्ध की अत्यन्त कलापूर्ण प्रतिमा, समय ई० पाँचवी शती (सारनाथ संग्रहालय)



फलक ५

अलङ्कृत प्रभामंडल संयुक्त बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति। समय ई० पाँचवीं शती, मथुरा से प्राप्त (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)



फलक ६

सिंहनाद अवलोकितेश्वर। समय ई० ११वीं शती, महोवा से प्राप्त
(राजकीय सग्रहालय, लखनऊ)



फलक ७

वौद्ध देवी वज्रतारा की प्रतिमा, ई० दसवी शती
(सारनाथ सग्रहालय)



फलक ८

धमेख (धर्मेक्षा) स्तूप सारनाथ